चौखम्बा आयुर्वेद ग्रन्थमाला

३

सचित्र

आयुर्वेद का इतिहास

लेखक

साहित्यायुर्वेदाचार्य

कविराज श्री वागीश्वर शुक्ल

ए. एम. एस., बी. ए.,

प्राध्यापक संहिता विभाग

आयुर्वेदमहाविद्यालय : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

(प्रथम भाग)

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

वाराणसी

१९७७

प्रकाशक : चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३४
मूल्य : ५०-००

© चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १३८, वाराणसी-२२१००१
(भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

CHAUKHAMBA AYURVEDA GRANTHAMALA

3

HISTORY OF ĀYURVEDA

By

KAVIRAJ VAGISHWAR SHUKLA

A. M. S., B. A., Sahityacharya

Prof. of Classics Ayurvedic College

Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi

(PART I)

CHAUKHAMBA AMARABHARATI PRAKASHAN

Varanasi-221001

1977

Chaukhamba Amarabharati Prakashan
Oriental Publishers & Book – Sellers
Post Box No. 138
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi–221001
(INDIA)

First Edition
1977
Price Rs. 56–00

Also can be had of
The Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 8, Varanasi–221001 (India)
1977
Phone : 63145

प्रस्तावना

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तंह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

प्राक्कथन—सनातनधर्म वेद मूलक है, आस्तिक मनुष्यों द्वारा समादृत एवं आचरित है। श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त बातों में विश्वास ही इस धर्म के अनुयायिओं का मूल संबल है और इस समय अधिकांश लोगों को उक्त वचनों में विश्वास नहीं हो पाता। इसका प्रधान कारण यह है कि ये ग्रन्थ मूलतः संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं और अधुना पढ़े-लिखे लोगों में इस भाषा को सम्यक् समझने की शक्ति अल्पमात्रावशिष्ट रही है। इतिहास और पुराण के ज्ञान द्वारा वेदार्थ के उपबृहण[1] का विधान बताया गया है किन्तु भारतीय इतिहास की पुस्तकों को लोग काल्पनिक मानने लग गये हैं। यहाँ तक कि महाभारत[2] (इतिहास) के विषय में आज तरह-तरह के विवाद उठाये जा रहे हैं। यही दशा अन्य अष्टादशपुराणों की भी है। ऐसे घोर अज्ञानमूलक समय में "आयुर्वेद का इतिहास" जनता के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। क्योंकि इसके अध्ययन से जिज्ञासुओं की परितृप्ति होगी और अनेक प्रकार की कुटिल एवं भ्रान्त धारणाओं का निरास करने में वे सक्षम हो सकेंगे।

इतिहास की परिभाषा—यह शब्द स्वयमेव परिभाषा द्योतक है (इति+ह+आस) इसका अर्थ होता है कि जो घटनाएँ जिस रूप में घटित हुई हों, उनका यथार्थतः उसी रूप में उपनिबन्धन किया जाना। इस परिभाषा के अनुसार ही द्विजाति भी प्रतिदिन सन्ध्योपासनकाल में इस बात का स्मरण करता है कि इस कल्प में सृष्टि का निर्माण यथापूर्व[3] अर्थात् पूर्वविनष्ट सृष्टि के अनुरूप ही हुआ। सूर्य, चन्द्रमा, द्यौः, पृथिवी, स्वर्गादि की रचना अपनी पूर्ववर्ती सृष्टि के अनुसार ही हुई।

---

१. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

२. तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम् ।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवती सुतः ॥

३. ऋतं च सत्यं च.........सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्, दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षमथो स्वः । ऋक्० १०।१९०।३

कुछ लोग कालगणना को इतिहास का प्रतीक मानते हैं किन्तु भारतीय विज्ञान ने इसे ज्योतिषशास्त्र से संबद्ध विषय माना है। पञ्चाङ्गों में प्रति वर्ष लिख दिया[१] जाता है कि सृष्टि कब हुई। उसके कितने वर्ष व्यतीत हो गये और कब तक यह चलती रहेगी, विभिन्न समयों में इसकी क्या अवस्थायें होंगी? अतः इन विषयों के परिज्ञानार्थ जिज्ञासु को ज्योतिषशास्त्र, पञ्चांगादि का अवलोकन करना चाहिये। हाँ, इतिहास देखना हो तो महाभारत आदि अष्टादश पुराणों का अनुशीलन आवश्यक है।

इतिहास ज्ञानोपाय—आजकल के विद्वान पुरातत्व की वस्तुओं को लेकर तत्कालीन इतिहास के विषय में अनुमान लगाते हैं। वे मानव या अन्य प्राणियों के अस्थिपञ्जर, पुराने बर्तनों, सिक्कों, शिलालेखों, अस्त्रशस्त्रों आदि

---

१. श्री सूर्यसिद्धान्तमतेन समस्तजगदुत्पत्ति-स्थिति-लयकारणाय ब्रह्मणः स्वमानेन परमायुः वर्षशतम्, गतं पूर्वार्द्धं तस्य। अथ ब्रह्मणो द्वितीय परार्द्धे-प्रथमवर्षे-प्रथम-मासे-प्रथमपक्षे-प्रथमदिवसे घटचः १३, पलानि ४०, अक्षराणि ३ व्यतीतानि। अथ ब्रह्मादीनां दिनप्रमाणम्—

"चतुर्युगसहस्रेण ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
पितामहसहस्रेण विष्णोश्च घटिकाः स्मृताः॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्द्धं रौद्रमुच्यते।
रुद्रस्यार्बुद संख्यानां ततो ब्रह्माक्षरं भवेत्॥"

चतुर्युगानां ऐक्यं महायुगम्, ४,३२,००,००० वर्षमितम्। अथ युगव्यवस्था—कार्तिक शुक्ल ९ तिथौ प्रथम प्रहरे, श्रवण नक्षत्रे, वृद्धियोगे सत्ययुगोत्पत्तिः। तन्मानं १७,२८,००० वर्षमितम्। तत्र चत्वारोऽवताराः—मत्स्यः, कच्छपः बराहः, नृसिंहः। तत्र पापं शून्यं, पुण्यं २० विश्वात्मकाः। मनुष्यायुर्वर्षाणि १०,०००, मनुष्यमानं २१ हस्ताः। सौवर्णं पात्रम्, रत्नमयो व्यवहारः। ब्रह्माण्डमयाः प्राणाः। तीर्थं पुष्करः, सूर्यग्रहणं १०००, चन्द्रग्रहणं १०,०००; पतिधर्मरता स्त्री, राजानो धर्मपरायणाः—हिरण्यकशिपुः प्रह्लादः वैरोचनः बलिः बाणासुरः। तत्रबीजं १, छेदनं २१, स्वपितृवशी पुत्रः। कपिल-भद्र-दक्षादयो ब्रह्मोपासनरताः प्रजापालनतत्पराः।

अथ वैशाखशुक्ले ३, सोमे रोहिणीभे, शोभनयोगे द्वितीयप्रहरे त्रेतोत्पत्तिः अथ माघ कृष्ण अमायां ३०, शुक्के, तृतीय प्रहरे, धनिष्ठा नक्षत्रे, वरीयसि योगे, वृष लग्ने द्वापरस्योत्पत्तिः.........

अथ भाद्रपद कृष्ण १३ रविवासरे आश्लेषा नक्षत्रे व्यतीपात योगे अर्धरात्रौ मिथुनलग्ने कलियुगोत्पत्तिः.........

को इसका आधार मानते हैं। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि जब महाप्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि निर्माण होता है तो उस काल में ये वस्तुएँ किस प्रकार मौजूद हो सकती हैं? अतः इतिहासविदों को चाहिए कि इन बाह्य प्रमाणों को ही एकमात्र इतिहास ज्ञानोपाय न मानकर आभ्यन्तर प्रमाणों यथा विविध ग्रन्थों, रीतियों-रिवाजों, संस्कारों, आप्तवाक्यों आदि को भी पुष्ट प्रमाण के रूप में स्वीकार करें। जब तक ऐसा न किया जायगा, तब तक इतिहास का ज्ञान अधूरा ही रहेगा।

भारतीय इतिहास में भ्रान्तियाँ—आजकल जो इतिहास की पुस्तकें उपलब्ध हैं अथवा जो व्यक्ति इतिहासवेत्ता के रूप में ख्यात हैं, उन सभी पर पाश्चात्य इतिहासवेत्ताओं के द्वारा अभिव्यक्त मतों का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन लोगों की घटनाक्रमों के अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट शैली है जो यह प्रतिपादित करती है कि वर्तमान काल में ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, राजनीति, समाज आदि का जो स्वरूप है वही आदर्श है। इससे पूर्व के लोग क्रमशः अल्पसभ्य या असभ्य थे। इसी प्रकार घटनाओं की शृङ्खला को ईसा-मसीह के जन्म से पहले या पश्चात् होने के आधार पर उपवर्णित किया जाता है। इन्हीं विचारों के आधार पर वे भारतीय इतिहास का भी चित्रण करते हैं। इनका अभिमत है कि यूरोपीयों के आगमन से पूर्वभारत की सभ्यता-कला समाज रचना आदि हीन कोटि की थी। इसके अतिरिक्त भारतीय इतिहास में गौतमबुद्ध के जन्मकाल को ही घटनाओं का केन्द्र बिन्दु बनाकर उनका चित्रण करना प्रारम्भ किया गया। इसके साथ ही पुरातत्त्व में प्राप्त वस्तुओं के आधार पर सभ्यता के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय किया जाने लगा। उपर्युक्त विचार पद्धति का परिणाम यह हुआ कि किसी भी वस्तुतथ्य का ज्ञान अपूर्ण एवं एकदेशीय हो गया।

उदाहरणार्थ—पाश्चात्य इतिहासकारों का मत है कि भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रवर्त्तन सिद्धार्थगौतम के द्वारा किया गया किन्तु वास्तविकता यह है कि बौद्ध धर्म का प्रचार यहाँ पर बहुत पहले (सत्ययुग) से था। इसका वर्णन महाराज पृथु के यज्ञ के समय श्रीमद्भागवत[1] में मिलता है। इसी प्रकार जैन

---

१. एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्य यज्ञजिघांसया।
तद् गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम् ॥२४॥
धर्म इत्युपधर्मेषु नग्न-रक्तपटादिपु।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ॥२५॥ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४।१९अ
तत् प्रभृति पाखण्ड मार्गाः प्रवृत्ता इत्याह—एवमिति। तेन गृहीतेषु पुनर्विसृष्टेषु नग्ना जैनाः, रक्तपटा बौद्धाः, आदि शब्देन कापालिकादयस्तेसूपधर्मेषु धर्मएवायमिति

धर्म भी उसी समय से या उससे भी पूर्व से यहाँ पर बद्धमूल था। अपने कथन को तर्कसङ्गत बनाने के लिए इन लोगों ने आद्यशंकराचार्य के काल को ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी ठहराया और युक्ति दी कि इनके द्वारा बौद्ध मत का खण्डन किया गया था। अपने विचारों की सम्पुष्टि के लिए इन इतिहासकारों ने कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जबकि प्रत्येक शांकरपीठ में यह इतिहास बड़े ही परिष्कृत रूप से सँजोकर आजतक रक्खा गया है।

जिस प्रकार इस समय सर्वसाधारण रूप से ईसवी सन् का प्रचलन है और धार्मिक कृत्यों में वैक्रमाब्द का प्रचलन है उसी प्रकार प्राचीनकाल में युधिष्ठिराब्द का प्रचलन था। पञ्चाङ्गों में इसे "गतकलिः युधिष्ठिरराजनीताब्द" से प्रतिवर्ष उद्धृत किया जाता है। इस वर्ष युधिष्ठिराब्द ५०७८ गतकलिः ५०७७, विक्रम २०३३, शकाब्द १८९८, ईसवी १९७६ होता है। पाठकगण इसी से भारतीय इतिहास की कालगणना शुद्धता का अनुमान कर लें।

जगद्गुरु आद्यशंकराचार्य[1]—अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आदि नारायण हैं। सृष्टि के आरम्भ से इस समुदाय के मूल सिद्धान्त वाक्यों से आत्मज्ञान का उपदेश इन्होंने ही ब्रह्मा को दिया। जिसमें अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और नास्ति नास्ति इन चार कोटियों का समावेश होता है। आदि प्रजापति ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ मानसपुत्र महर्षि वशिष्ठ को यह उपदेश प्रदान किया। वशिष्ठ महाराज से यह उपदेश उनके पुत्र शक्ति को मिला। शक्ति मुनि के अकस्मात् निधन हो जाने पर उनके पुत्र पराशर ने पुनः वशिष्ठ मुनि से यह उपदेश[2] ग्रहण किया।

पराशर मुनि ने पराशर संहिता की रचना की जो विष्णुपुराण के नाम से प्रख्यात है। पराशर मैत्रेय संवाद पुराण-प्रसिद्ध है। श्री पराशर ने अपने पुत्र वेदव्यास (पाराशर) को इस वेदान्त सिद्धान्त का उपदेश किया। इसी उपदेश

मतिः सज्जते इति द्वयोरन्वयः। पेशलेषु आपाततो रम्येषु, वाग्मिषु हेतूक्ति चतुरेषु (श्रीधरस्वामिनः) (पापस्य खण्डेषु ज्ञापकेषु, 'पा' इत्येकदेशग्रहणेन पापमुच्यते, पाखण्ड वेशेषु। उपधर्मा नग्नादयः, तदाधार तया स्थितेषु)

१. निधि-नागेभ-वह्न्यब्दे विभवे शंकरोदयः।
कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दु-शत-सप्तके॥
कल्यब्दे भू-दृगंकाग्नि-सम्मिते शंकरो गुरुः।
शालिवाहशके त्वक्षि-सिन्धु-सप्तमितेऽभ्यगात्॥ कृष्ण ब्रह्मानन्दकृत शंकर विजये

२. नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिञ्च तत्पुत्रं पराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमहं प्रपद्ये॥

के आधार पर वेदव्यास[१] ने ब्रह्मसूत्र बनाये। व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव को यह ज्ञान प्रदान किया। महामुनि शुकदेव जन्म से ही परिव्राजक थे अतः उन्होंने यतिवर गौड़पाद को यह उपदेश प्रदान किया। गौड़पाद ने इसके आधार पर माण्डूक्य उपनिषद् की रचना की। इस गुरु-शिष्य-परम्परा को आज के इतिहासकार स्वीकार करेंगे ?

गौड़पाद के शिष्य आचार्य गोविन्द भगवत्पाद हुए। इन्होंने रस शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस हृदय तन्त्र' की रचना की। ये नर्मदा के किनारे रहते थे और हमेशा समाधि में ही निमग्न रहते थे। इन्हीं से आचार्य शंकर ने युधिष्ठिर संवत् २६३७ में दीक्षा ली थी। इससे १६ वर्ष पूर्व ही इनका जन्म युधिष्ठिर सवत् २६२१ में वैशाख शुक्ल ५ को हुआ था। जो कलिवर्ष ३८८९ शालिवाहन शक ७१० या ५०८ वर्ष ईसवी पूर्व ठहरता है (जब कि आधुनिक इतिहासकार इनका जन्म सन् ७८८ ईसवी मानते हैं, यह लगभग १२९६ वर्ष का अन्तर है।) यहाँ से प्रारम्भ करके आजतक की समस्त शङ्कराचार्य परम्परा तत्तत् पीठों में क्रमबद्ध रूप से सुरक्षित रक्खी हुई है। कोई भी इतिहासकार उसे देखे और उसके आधारपर उस समय की राजनीतिक, आर्थिक एवं वैज्ञानिक परिस्थितियों का चित्रण करे तो वही इतिहास वास्तविक होगा।

प्राचीन शिलालेख—आजकल के इतिहासकार शिलालेखों, मुद्राओं, अस्थियों और मृत्कपालों की उपलब्धि को विशेष मान्यता प्रदान करते हैं। गीताप्रेस-गोरखपुर से प्रकाशित कल्याण के सन् १९७२ के विशेषाङ्क के ८४ पृष्ठ पर सम्राट् पुलकेशिन द्वितीय के एक शिलालेख का वर्णन है। जो बीजापुर जिले के ऐहोल नामक स्थान पर पाया गया है। यह शक संवत् ५५६ का लिखा हुआ है। इसकी तिथि है—

त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु॥

अर्थात् यह शिलालेख खुदवाते समय महाभारत युद्ध के ३७३५ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस समय शक संवत् १८९८ चल रहा है। अतः भारतयुद्ध का काल अब से ५०७७ वर्ष पूर्व स्थिर होता है। उसी पृष्ठ पर ५० लाख वर्ष पूर्व की किसी मनुष्य के जबड़े की हड्डी मिलने का भी विवरण प्राप्त होता है।

गीताप्रेस से प्रकाशित कल्याण में श्रीकृष्ण संवत् का भी ईसवी सन् के साथ ही उल्लेख किया जाता है। इस समय श्रीकृष्ण संवत् ५२०१ चल रहा

---

१. शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः॥

है। महाभारत युद्ध के समय श्रीकृष्ण भगवान् की वय १२५ वर्ष थी। अतः इससे भी पूर्वोक्त समय ही स्थिर होता है !

आयुर्वेद एवं दर्शन[1]—सत्य एवं तत्व को जानने के लिए दर्शन शास्त्र की शरण लेनी पड़ती है। यहाँ पर हर एक वस्तु या पदार्थ का ग्रहण प्रत्यक्ष के आधार पर किया जाता है। कल्पना एवं अनुमान का श्रद्धा से नहीं अपितु प्रत्यक्षीकरण द्वारा अङ्गीकरण होता है। इसीलिये वैशेषिक दर्शन या नव्यन्याय ने द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य रूप तत्व-ज्ञान को मोक्षप्राप्ति का उपाय बताया है। गौतमीय न्यायदर्शन में भी प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त - सिद्धान्त-अवयव-तर्क - निर्णय-वाद-जल्प - वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थान के तत्वज्ञान को मोक्षसाधन माना है। सांख्य-दर्शन व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान को मोक्षप्राप्ति का हेतु बताता है। योगदर्शन अविद्या को बन्धन का कारण और ज्ञान को मोक्ष साधन मानता है। वेदान्त दर्शन में आत्मा को जानने के लिए उपदेश दिया गया है। इन सभी उपायों का सार धर्म-पालन है। वह चाहे ज्ञान से, योग से, यज्ञ से अथवा कर्म से, किसी भी प्रकार से अर्जित होना चाहिये।

जहाँ पर प्रामाण्य[2] की यहाँ तक कि वेदों के प्रामाण्य की भी चर्चा उठी है, वहाँ

---

१. धर्म-विशेष-प्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्य-विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्माभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। (वै० सू० १-१-४)

सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च। समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्त-विधिमास्थिताः। लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम्॥ चा० सू० १ अ०

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क - निर्णय - वाद - जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (न्या० सू० १-१-१) च० वि० ८ अ०

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात् (सा० का० २) सु० शा० १ अ०

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेय हेतु ··· तस्य हेतुरविद्या तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यं ··(योगदर्शन २।१७-२५) च० शा० १ अ०

२. मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत् प्रामाण्यम् आप्तप्रामाण्यात् (न्या० सू० २-१-६९)
तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदांमतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥ चा० सू० १॥

य एव आप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एव आयुर्वेदप्रभृत्तीनाम्, इत्यायुर्वेद प्रामाण्यवद्वेदप्रमाण्यमनुमातव्यमिति।··· किं पुनः आयुर्वेदस्य प्रामाण्यम्? इदं कृत्वा इष्टमधिगच्छति-इदं कृत्वा अनिष्टं जहाति···(वात्स्यायनः)

नहि श्रुति शतमपि अग्निः अनुष्ण इति ब्रुवत् प्रामाण्यमुपैति (शंकराचार्यः)

पर आयुर्वेद को निदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महर्षि चरक का भी यही मत है कि यह आयु का वेद पुण्यतम है और समस्तवेदवादियों द्वारा पूजित है। वात्स्यायनाचार्य भी इसी बात का समर्थन करते हैं। आचार्य शङ्कर का भी अभिमत है कि जो वस्तुतत्व प्रत्यक्ष है उसको कोई झूठला नहीं सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा आप्त क्यों न हो। महर्षि आत्रेय[1] का भी मत है कि समग्र दुःख अविद्या (अज्ञान) विजृम्भित है और समस्त सुखों की खान एक मात्र विमल विज्ञान है।

आयुर्वेद का स्थान अष्टादश[2] विद्याओं में अन्यतम है। विद्या के दो भेद हैं—परा-विद्या और अपरा-विद्या, अपरा विद्या में चारों वेद (ऋग्, यजुः, साम, अथर्व) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र का समावेश होता है। पराविद्या केवल ब्रह्मज्ञान है। किन्तु अपराविद्या का मुख्य प्रयोजन पराविद्या की प्राप्ति कराना है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि आयुर्वेद से श्रेय[3] एवं प्रेय दोनों की ही उपलब्धि हो सकती है।

आयुर्वेद के इतिहासज्ञान की आवश्यकता—यह तथ्य रूप में स्वीकार किया जा रहा है कि वैद्यक के इतिहास का ज्ञान हो जाने से इस व्यवसाय में लग्न व्यक्ति के मानसिक क्षितिज का विकास होता है। इसके अध्ययन से रोग चिकित्सा करने अथवा इससे संबन्धित किसी अन्वेषण कार्य को सम्पादित करते समय उसके भटक जाने के अवसर कम हो जाते हैं। यद्यपि उन्नीसवीं सदी में आधुनिक वैद्यक के इतिहास का पठन-पाठन चिकित्सा विज्ञान के अध्येताओं के लिये स्थगित कर दिया था किन्तु अब सन् १९०५ से पुनः इसको सभी स्तरों पर पढ़ाया जाने लगा है। आयुर्वेद विश्वजनीन[4] चिकित्सापद्धति है, अतएव उसमें भी इस विषय का पढ़ाया जाना अनिवार्य प्रतीत होने से अब इस विषय को

---

१. समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम्।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम्॥ च० सू० १ अ०।

२. अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय-विस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्या अष्टादशैव ताः॥

३. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयस्ते वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

४. विश्वव्याध्यौषधज्ञानासारस्त्वेष समर्पितः॥ अ० सं० ८।५०

स्नातक, स्नातकोत्तर तथा अन्य सभी स्तरों पर अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता है।

आयुर्वेद का प्रतिपाद्यविषय—इस शास्त्र में व्याधियों के उत्पन्न होने के कारण, उनके जानने के लक्षण और दूर करने की चिकित्सा तो बताई ही गई है किन्तु कुछ ऐसी भी बातें प्रासङ्गिक रूप से उपदिष्ट हैं जिनके कारण प्राच्य तथा पाश्चात्य-उभयविध क्षेत्रों में यह एक विशिष्टतन्त्र के रूप में उदित होता है। यह जीवन का विज्ञान है और मनुष्य को पूर्ण बनाने की चेष्टा करता है, तदनुसार उपदेश देता है। इसीलिए आयुर्वेद को स्वस्थातुर परायण त्रिस्कन्ध (हेतु लिङ्गौषध ज्ञानात्मक) कहा गया है। इसमें जीव की उत्पत्ति, दार्शनिक-तत्वज्ञान, धर्म, समाज, लोक व्यवहार आदि का भी समावेश है।

शरीर-इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। ये तीनों जीव को धारण करने के लिए तिपाई के समान हैं। इनमें से शरीर, इन्द्रिय एवं मन भौतिक द्रव्य हैं और आत्मा चेतन द्रव्य है। पञ्चमहाभूतों से ६ रस एवं तीन दोष उत्पन्न होते हैं। दोषों के आधार पर देह प्रकृति का निर्माण होता है और रसों के द्वारा दोषों का प्रकोप एवं प्रशम होता है। इसी रस दोषसमुच्चय के आधार पर स्वास्थ्य एवं जीवन, आरोग्य एवं व्याधि की कल्पना की गई है।

स्वस्थ व्यक्ति का शारीरिक स्वास्थ्य अक्षुण्ण बना रहे इसके लिए दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, आहारविधिविशेषायतन का उपदेश दिया गया है। शरीर दीर्घकाल तक शक्ति-यौवन सम्पन्न बना रहे, इसे बनाये रखने के लिए रसायन विधान बताया गया है तथा सन्तति-नियमन एवं सुसन्तति उत्पादन के लिए बाजीकरण प्रयोगों का उपदेश किया गया है। मानसिक स्वास्थ्य को सँजोये रखने के लिए आचार रसायन, धारणीय आधारणीय वेग मुमुक्षूपदेश आदि का व्याख्यान है। मानसिक महाप्रकृतियों का भी विवेचन किया गया है।

विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न दोषों का सञ्चय-प्रकोप या प्रशम होता है और ये ही चय-प्रकोप रोगोत्पादक होते हैं अतएव पञ्चकर्म का आश्रय लेकर दोष-शोधन करने से स्वास्थ्य एवं आयु बनी रहती है, इस बात को विशेषरूप से समझाया गया है। संशोधनानन्तर रसायन सेवन कर जनपदोध्वंसनीय रोगों के प्रभाव से भी बचा जा सकता है।

आतुर के विकार परिमोक्ष के लिए इस शास्त्र में लगभग ७६० औषधियों इससे निर्मित ३० हजार योगों और ५ हजार रसभस्म आदि के योगों का उल्लेख

मिलता है। इन औषध योगों के सेवन के लिए १० काल, इनके परस्पर संयोजन से उत्पन्न होने वाली १८ प्रकार की उपाधियों, मात्रा, गुण-कर्म आदि का विवेचन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। संसार में कोई भी द्रव्य अनौषधि नहीं है यह प्रतिज्ञा की गई है और समस्त औषधियों को जाङ्गम-औद्भिद् तथा पार्थिव गणों में विभक्त कर दिया गया है। पारद, वत्सनाभ, स्वर्ण जैसे पदार्थों के शोधन मारण संस्कार आदि करके औषधि योग बनाये गये हैं जो शीघ्र फलप्रद होते हैं और उनका किसी भी प्रकार से शरीर पर दुष्परिणाम नहीं होता।

शारीर रोगों के परिज्ञान के लिए निदान-पञ्चक का उपदेश किया गया है। लक्षणों के सामान्य, विशिष्ट, प्रत्यात्म, अरिष्टख्यापक तथा साध्यासाध्यतादि ख्यापक वर्ग बनाये गये हैं। उपशम को हेतु-व्याधि-विपरोत एवं विपर्यस्तार्थकारी रूप में विभक्त कर निदान-लक्षण-चिकित्सा का समन्वय स्थापित किया गया है। निदान के भा सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट आदि १९ भेदोपभेद किये गये हैं। इस प्रकार से निदान-लक्षण एवं चिकित्सा का खूब विस्तार किया गया है।

संप्राप्ति (रोगों की उत्पत्ति) के संख्या, विकल्प, प्राधान्य बल-काल आदि के दृष्टिकोण से भेद (विवेचन) किये गये हैं। रोग-विशेष के परिज्ञान के लिए आतुरपरीक्षा विधान का सृजन हुआ। इन्द्रियों से परीक्षण करने का निर्देश किया गया। आतुर-बलप्रमाण का ज्ञान करने के लिए प्रकृत-सार-संहनन-सात्म्य-सत्व आदि दशविध परीक्षा तथा आतुर-दोष-प्रमाणज्ञानार्थ-दोष-दूष्य-स्रोतसादि की परीक्षा करने की विधियाँ बतायी गयी हैं।

रोग विनिश्चय के समय दोष वैषम्य का प्रमाण, संसर्ग-सन्निपात, स्वतंत्र-परतंत्र, अनुबलत्व, आवृतत्व तथा दोषावस्था के विनिर्णयार्थ संचय, प्रकोप, प्रसर स्थानसंश्रय, व्यक्ति-भेद आदि के लक्षणों का उपदेश बड़े हो विशद ढंग से संहिताओं में स्थान-स्थान पर किये गये हैं। इस प्रकार से निदान-ज्ञान का उपयोग चिकित्सा के लिए करने में पूर्ण सामञ्जस्य होता है।

मानस रोगों की चिकित्सा के लिए दैव व्यवपाश्रय एवं सत्वापजय (Psychotherapy and Psychiatry) का विशिष्ट प्रावधान है। यम-नियमादि अष्टांग-योग, अहिंसा-सत्य-अस्तेय-अपरिग्रहादि, शौच, आहार, इन्द्रियजय, ईश्वरप्रणिधानादि सत्कर्मोपदेश मनःसमाधि के लिए बहुत उपयोगी हैं। इसी प्रकार स्नेहन, स्वेदन, पञ्चकर्मोपचार कुटिप्रावेशिक वातातपिक रसायन विधि प्रयोग आदि के द्वारा भी मानस रोगों को चिकित्सा की जाती है।

वर्तमानकाल में आयुर्वेद की उपयोगिता—आजकल अनेक आयुर्वेदिक एवं एलोपैथिक महाविद्यालयों में भारतीय भेषजों को लेकर अनुसन्धान कार्य किये जा रहे हैं। अनुसन्धित्सुओं का यह कहना है कि गुग्गुल का प्रयोग मेदस्विता में, सर्पगन्धा एवं शंखपुष्पी का प्रयोग उच्चरक्तनिपीड़ में, करवीर की पत्ती का हृद्रोग, यशदभस्म, जामुन की गुठली आदि का मधुमेह में लाभदायक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह पद्धति केवल औषधि प्रभाव का ही अध्ययन करती है और उसी के आधार पर लाभालाभ का वर्णन करती है। आयुर्वेद के व्याधि-सिद्धान्त, चिकित्सा-सिद्धान्त, पथ्यव्यवस्था आदि से इन लोगों का कोई मतलब नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो यह पद्धति ही अवैज्ञानिक है। जब केवल द्रव्य का इतना प्रभाव है तो उस द्रव्य का यदि यथा-विधि उपयोग किया जाय तो कितना अधिक प्रभाव होगा, यह विषय चिन्त्य है।

उदाहरणार्थ केवल मधुमेह की चिकित्सा ही तीन प्रकार से करने का निर्देश शास्त्र में दिया गया है—यदि रोगी दुर्बल है तो उसको संशमन चिकित्सा का प्रयोग कराना चाहिए। यदि बलवान है और साथ ही दोषाधिक्य हो तो संशोधन करना चाहिए। किन्तु रोगी यदि कृश हो गया हो तो पहले उसका सन्तर्पण करना आवश्यक है। अब हम देखें कि इन तीन प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का विचार करते हुए रोगी में यथा-योग्य उपाय अपनाकर द्रव्यप्रयोग किया जाय तो उसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? निश्चय ही उसका प्रभाव उत्साहवर्धक होगा।

जैसे दो चार औषधीय द्रव्यों के एकांगी प्रभावों का अध्ययन करने के पश्चात् लोग आयुर्वेद के विषय में कुछ अभिमत व्यक्त करने लगते हैं उसी प्रकार से इसकी उपयोगिता के लिए कुछ महानुभाव तर्क देते हैं कि आयुर्वेदिक औषधियाँ जीर्ण विकारों में ही उपयोगी होती हैं। वे भूलते हैं कि उपयोक्ता दुर्लभ है। यदि वह एक द्रव्य से जीर्ण विकारों को ठीक कर सकता है तो उन्हीं से नवीन रोगों का भी उपशमन कर सकता है। इसमें मात्र-बुद्धि का वैशिष्ट्य है।

कुछ लोगों का तर्क है कि आयुर्वेदिक औषधियाँ सस्ती पड़ती हैं अतः इनका प्रयोग देहाती इलाकों के लिए करना चाहिए। इस तर्क में भी थोड़ी भूल की गुञ्जाइश है। स्वर्ण, मोती, केशर, कस्तूरी, पारा इत्यादि का मूल्य ही इतना अधिक है तो उनसे बनने वाली दवायें सस्ती कैसे पड़ेंगी ? जबकि निर्माण व्यय उनपर बढ़ जायगा। हाँ, काष्ठौषधियाँ कुछ सस्ती पड़ सकती हैं किन्तु उनकी उपलब्धि और संग्रह आदि ही बड़ा व्ययसाध्य हो जाता है। अतएव सस्ते-महँगे का विचार छोड़कर उपयोगिता और प्रभावकारिता के

आधार पर ही विचार करना समीचीन होगा। ऐसा नहीं कि देहाती और गरोब प्रजा की रक्षा के लिये ही आयुर्वेद का उपयोग किया जाय अपितु एक विज्ञान के नाते सभी अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, राजा-रंक-फकीर के लिये इसका लाभ सुलभ कराया जाना देशहित, प्रजाहित एवं मानव हित में लाभदायक होगा।

कुछ अन्य विचारकों का तर्क है कि वर्तमान युग बड़ा ही संघर्षमय है, मनुष्य के पास समय इतना कहाँ है कि वह अनुपान (मधु, स्वरस आदि) या सहपान (क्वाथ, शर्बत, चूर्ण आदि) की व्यवस्था कर सके। उनके समक्ष इतना ही विनम्र निवेदन है कि रसौषधियों का निर्माण ही इस दृष्टि से किया गया है कि उनमें ग्रहण, रखरखाव आदि में सरलता हो और शीघ्रता से वे रोग का निर्मूलन करने में समर्थ हों। साथ ही रसक्रिया, वटी, आसवारिष्ट, घृत, तैल आदि इतनी अधिक कल्पनाओं का आविष्कार किया गया है कि उपर्युक्त तर्क भी सम्भव नहीं होता। औषधि ग्रहण की दृष्टि से भी जो लोग रस आदि के कारण अरुचि का अनुभव करें उन्हें नस्य आदि के द्वारा भी प्रदान करने का विचार प्रस्तुत किया गया है।

ग्रंथ परिचय—इस पुस्तक का कलेवर बहुत बड़ा होता जा रहा था अतः दो भागों में विभक्त करके प्रकाशित करने का विचार किया गया। आयुर्वेद के समस्त इतिहास को चार काल खण्डों में विभाजित करके वैदिककाल, संहिताकाल एवं संग्रहकाल का अर्द्धांश प्रथम खण्ड के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। द्वितीय-खण्ड में संग्रह-काल का शेषांश एवं आधुनिक काल का इतिहास उपनिबद्ध किया जायगा।

इतिहास को जानने के लिए इसमें आभ्यन्तर प्रमाणों पर ही निर्भरता अधिक रखी गई है। साथ ही सामयिक ग्रन्थकारों की कृतियों के प्रत्यालोचन तथा अन्य इतिहासकारों के विवेचन के आधार पर किसी मान्य निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न किया गया है। संक्षेप में हेतु, तर्क, युक्ति और अनुमान का आश्रय ही कालक्रम के निर्णय में सहायक हुआ है।

वैदिक काल को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय भी आयुर्वेद की स्थिति पर्याप्त समुन्नत थी। जैसे समस्त ज्ञान विज्ञान का सन्निवेश बीजरूपेण वेदों में किया गया है उसी प्रकार से हेतु-लिङ्ग और औषध ज्ञान भी सन्निहित है। उस समय शारीरज्ञान पर्याप्त उच्चकोटि का था सम्पूर्ण अवयवों का विभाग एवं उनके नाम मिलते हैं। शल्यतन्त्र के माध्यम से कृत्रिम अवयवों का निर्माण

और उनका प्रत्यारोपण, विविध-अङ्गों यथा कटे हुए शिर का सन्धान, शालाक्यतन्त्र के माध्यम से नेत्रों का प्रत्यारोपण आदि क्रियाएँ बड़ी चमत्कारिक सिद्ध होती हैं। कायचिकित्सा में ज्वर, कुष्ठ, कामला-हलीमक आदि व्याधियों के उपशमार्थ औषधियों का उल्लेख मिलता है। भूत और विष का भी शमन किया जाता था। रसायन प्रयोगों का भी वर्णन देखने को मिलता है। पशुचिकित्सा, आतुरालयों आदि के वर्णन को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय का समाज पूर्ण विकसित था तथा अष्टाङ्ग आयुर्वेद का उस काल में भी प्रचार था। वेदों के अतिरिक्त उपनिषदों तथा अन्यान्य वैदिक साहित्य में भी आयुर्वेदीय विषयों का वर्णन उपलब्ध होता है।

संहिता काल का प्रारम्भ अब से लगभग ५ हजार वर्ष पूर्व हुआ। इस समय का आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं वैज्ञानिक परिवेश युद्धोत्तर कालीन होने के कारण प्रायः ध्वस्त हो चुका था। सभी क्षेत्र में योग्य एवं कर्मठ व्यक्तियों का अभाव सा व्याप्त था। ऐसे समय में जिस प्रकार महर्षि वेदव्यास[1] ने वैदिक मन्त्रों का विभाग करके ऋक्-यजुः-सामाथर्वण संहिताओं की रचना की, उसी प्रकार पुनर्वसु आत्रेय, धन्वन्तरि आदि ने आयुर्वेदिक संहिताओं की रचना की। ये संहितायें आयुर्वेद के आठों अगों पर बनीं। किन्तु कालान्तर में उनका लोप होने लगा। वे इतनी जीर्ण शीर्ण हो गईं कि उनके पढ़े जाने में कठिनाई होने लगी। तब इनका प्रतिसंस्कार हुआ। चरक-सुश्रुत-भेल-कश्यप आदि संहिताओं के उपलब्ध अंशों को किसी प्रकार तत्-कालीन ऋषियों ने जोड़-जाड़कर पूरा किय। किन्तु अन्यान्य संहितायें तो विलुप्त ही हो गईं।

---

१. पराशरात् सत्यवत्यामंशांश कलया विभुः।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥ ४९ ॥
ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्यवर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इवा ॥ ५० ॥
वैशम्पायन शिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन्।
यच्चेरुर्ब्रह्म हत्यांहः क्षपणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥ ६१ ॥
याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधिगवेशयन्।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम् ॥ ६५ ॥
यजुर्भिरकरोत् शाखा दशपञ्चशतैर्बिभुः।
जगृहुर्वाजिसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः ॥७४॥ श्रीमद्भागवत १२ स्कन्ध। ६अ

जब संहितायें न रहीं और आयुर्वेद के क्षेत्र में उच्च-कोटि के विद्वानों की कमी रहने लगी तो लोगों ने उपलब्ध अंशों पर टीकायें लिखना शुरू किया। इस प्रकार एक-एक संहिता पर कई कई विद्वानों ने आधिकारिक टीकाएँ लिखीं। जब इन टीकाओं को समझने की प्रतिभा का भी लोप होने लगा तो उनके ऊपर प्रतिटीकाओं की रचना की गई। इस प्रकार भी विरल आयुर्वेदिक साहित्य को प्रचुर बनाने का प्रयास सतत चालू रहा और ज्ञान सरिता में अवरोध न आने पाया। किन्तु संहिताओं, उनकी टीकाओं या प्रतिटीकाओं के द्वारा ही सन्तोष न मानकर कुछ कर्मठ विद्वानों ने एक से उपयोगी विषयों को विभिन्न त्रुटित संहिताओं से एकत्र कर संकलित करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार संग्रह काल का प्रादुर्भाव हुआ। प्रभु ईसामसीह के जन्म के अनन्तर दूसरी या तीसरी शताब्दी से संग्रह-काल का प्रारम्भ होता है और किसी न किसी रूप में अब तक यह कार्यक्रम चलता आ रहा है। इस समय शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, प्रसूतितन्त्र कौमारभृत्य आदि अंगों पर पर्याप्त साहित्य रचा गया। साथ ही साथ आयुर्वेद के उपाङ्गों यथा द्रव्यगुण, रसशास्त्र, शारीर-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान आदि पर भी प्रचुर एवं उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण हुआ। राजनीतिक पराधीनता के युग में जितना कार्य किया जा सकता था उतना कार्य हमारे पूर्वजों ने किया। जिसके लिए यह पीढ़ी उनकी सदैव ऋणी रहेगी।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने देश की स्वतंत्रता का आन्दोलन चलाया, उसके लिये स्वदेशी के महामन्त्र का उन्होंने उपदेश किया। स्वदेशी के अन्तर्गत आयुर्वेद का भी प्रचार-प्रसार होने लगा। जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो जिस प्रकार विज्ञान की अन्यान्य शाखाओं के विस्तार के लिये अनुसन्धान संस्थान स्थापित किये गये। उसी प्रकार आयुर्वेद के विकास के लिए भी अनुसन्धान इकाइयों की स्थापनायें हुईं और यत्रतत्र कार्यारम्भ हुआ। इसका विवरण द्वितीय भाग में आयेगा।

कृतज्ञता प्रकाश—

सर्वप्रथम कृतज्ञता उन लेखकों के प्रति ज्ञापित की जा रही है। जिनके ग्रन्थरत्नों का उद्धरण इस पुस्तक में आया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने की प्रेरणा आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी से प्राप्त हुई। जब वे जामनगर में आयुर्वेदीयाध्ययन गवेषण संस्थान के

सञ्चालक हुए तो उन्होंने "आयुर्वेद का इतिहास एवं तन्त्रयुक्ति विज्ञान" विषय का पाठन मेरे जिम्मे किया। मैंने निवेदन किया कि इस विषय पर अभी तक कोई उत्तम पाठ्यपुस्तक उपलब्ध नहीं है अतः इसे बदलकर मुझे कोई दूसरा विषय प्रदान कर दिया जाय। उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में इनकार करते हुए कहा कि "पाठ्यपुस्तक की रचना करना आप जैसे आयुर्वेदज्ञों का काम है, मुझसे जो पथप्रदर्शन चाहेंगे मिलेगा किन्तु विषय नहीं बदला जायेगा।" उनकी उस दृढ़ता एवं उत्कृष्ट पथप्रदर्शन का परिणाम इस ग्रन्थरत्न के रूप में प्रकट हुआ। जिसके लिए मैं श्री द्विवेदीजी का हृदय से आभारी हूँ। दो वर्ष के अहर्निश श्रम के पश्चात् इसकी रचना पूर्ण हुई।

संयोग से उन दिनों जामनगरीय महाराजा जुवान सिंह जी आयुर्वेदिक पुस्तकालय एवं संग्रहस्थान के अध्यक्ष श्री मोतीलाल सेठ थे। ये प्रारम्भ से ही इस संस्था से संबद्ध थे इनको प्रत्येक ग्रन्थ के विषय और उसके उपलब्धि स्थल का पता था। उन्होंने मेरे इस प्रयास में बड़ा सराहनीय योगदान किया। एक एक विषय से सम्बद्ध अनेकानेक पुस्तकें वे मुझे बताते थे और उन्हें मेरे लिए पुस्तकालय से निर्गत करते थे। महीनों के अध्ययन मनन के पश्चात् तब मैं उस विषय पर लेखनी उठा पाता था। अतएव श्री सेठ को भी हृदय से धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

जब सन् १९७० में मैं जामनगर छोड़ने लगा तो तत्कालीन कुलपति श्री मोहनलाल व्यास ने मुझे आशीर्वाद प्रदान किया और कहा कि "आप यहाँ पर लिखते तो हमेशा रहे हैं किन्तु आपकी कृतियाँ प्रकाशित नहीं हो पायीं। मैं आशा करता हूँ कि काशी जाने के बाद उनके प्रकाशन का कार्य आप अवश्य पूर्ण करेंगे।" उनका आशीर्वाद सफल हुआ और आगे भी होता रहेगा। उनके इस शुभाशंसा को स्वीकार करते हुए उन्हें भी धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

यहाँ आने पर कुछ काल तक मेरे किसी भी ग्रन्थ का प्रकाशन न हो सका। सन् १९७४ में मेरे विद्यालय के लिपिक श्री श्यामदेव झा ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न प्रारम्भ किया। यद्यपि चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ के संचालकों से मेरा पुराना संबंध है किन्तु अपने संकोची स्वभाव के कारण और कुछ अन्य कठिनाइयाँ वश इस पुस्तक के बारे में उनसे मैंने कोई जिक्र न किया। तत्पश्चात् पण्डित प्रवर श्री कीर्त्यानन्द झा, न्यायवेदान्ताचार्य, अध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आदेश से 'चौखम्बा अमर-भारती' प्रकाशन के सञ्चालक महोदय ने इसका प्रकाशन दायित्व अङ्गीकार किया और निर्वाह किया। इन

उपर्युक्त महानुभावों को मैं कोटिशः धन्यवाद प्रदान करता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना है कि इस चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन का अनुदिन विकास हो जिससे मेरे द्वारा विरचित अन्यान्य ग्रन्थों का भी शीघ्र ही प्रकाशन हो सके।

आध्यात्मिक शक्ति अपरिमित होती है। मेरे पूज्य पिताजी का आशीर्वाद भी प्रकाशन में सहायक हुआ। अतएव मातृपितृ-चरणों में कोटिशः नमन। अनेक कठिनाइयों के बावजूद यह ग्रन्थ आयुर्वेदाध्यापकों एवं अध्येताओं के समक्ष रखते हुए अपार हर्ष हो रहा है—"क्लेशः कालेन हि पुनर्नवतां विधत्ते" की सूक्ति चरितार्थ हो रही है। इसके क्या गुण हैं और क्या दोष हैं इसका विवेचन ममंज्ञ विद्वान अवश्य करेंगे और गुणो को भगवत् कृपा तथा त्रुटियों को मेरी अपनी असमर्थता मान कर क्षमा करेंगे। अन्त में केनोपनिषत् के शब्दों में—

"माहं ब्रह्म निराकुर्यां, मामाब्रह्म निराकरोत्; अनिराकरणं मेऽस्तु"

प्रार्थना करते हुए सभी महानुभावों को पुनः हार्दिक धन्यवाद प्रदान करते हुए विराम लेता हूँ।

विदुषामनुचरः

—वागीश्वर शुक्लः

रक्षाबन्धन
१९७६ ई०

विषय प्रवेश

इतिहास ज्ञान की उस शाखा का नाम है जो मनुष्य के भूतकालीन क्रिया-कलापों और प्राप्तियों पर तो प्रकाश डालता ही है, साथ ही साथ वर्तमान और भविष्य के लिए उन्नति का मार्ग भी प्रशस्त करता है। इसकी निष्पत्ति 'इति+ह+आस' इस तीन शब्दों के संयोग से हुई है जिसका तात्पर्य यह होता है कि किसी घटना विशेष की इस विशिष्ट रूप में उत्पत्ति हुई थी। इस दृष्टिकोण से यदि आयुर्वेद के इतिहास पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि यह मानव जाति के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों को ज्वलन्त रूप से प्रकाशित करता है। इसके परिज्ञान के लिए दो मूल भूत साधन हैं—प्रथम भारतीय साहित्य का अनुशीलन और द्वितीय अन्य देशीय साहित्यों में आयुर्वेद का सूत्र रूप में निर्देश। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को दो विभागों में बाँटा जा सकता है—

(१) आयुर्वेदीय
(२) आयुर्वेदेतर

इसमें वेद, पुराण, उपनिषद्, स्मृतिग्रन्थों, गृह्यसूत्र आदि का समावेश होता है। इसको बाह्य प्रमाण माना जा सकता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थ आभ्यन्तर प्रमाण के रूप में ग्रहण किये जाते हैं।

आयुर्वेदोत्पत्ति काल--आभ्यन्तर प्रमाणों के बलपर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि आयुर्वेद की उत्पत्ति मानवसृष्टि से पूर्व की है।[1] नेपाल राजगुरु पं० हेमराज शर्मा ने इस विषय पर विमर्श किया है और उनके मत

---

१. इह खल्वायुर्वेदं नाम उपाङ्गम् अथर्ववेदस्य अनुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशत सहस्रमध्याय सहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः, ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वञ्चालोक्य नाराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। सु० सू० १ अ०। ६

स्वयम्भूः ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थम् आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित्, ततो विश्वानि भूतानि। का० सं० वि० स्था। शिष्योपक्रमणीयाध्यायः

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते; अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्ध लक्षणत्वात् भावस्वभाव नित्यत्वाच्च। न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता, अनादि च सुखदुःखं द्रव्यहेतुमपरापरयोगात्। च० सू० ३० अ०।२७

में यह सम्बन्ध सृष्टि से पूर्व नहीं अपितु सृष्टि के साथ जुड़ता है। यदि इसे मान लें तब भी संसार की समस्त चिकित्सा प्रणालियों में यह पद्धति प्राचीनतम है ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं आती। तब से लेकर अब तक के सम्पूर्ण समय को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) वैदिक युग

(२) संहिता काल

(३) संग्रहकाल

(४) समन्वयकाल एवं अन्वेषण, या दूसरे शब्दों में इसको वर्तमान काल भी कहा जा सकता है।

रोगों का प्रादुर्भाव सतयुग के अन्त में होता है, ऐसा चरक संहिता के वर्णन से स्पष्ट होता है। आदि काल[1] के लोग देवताओं के समान ओजस्वी, विमल-विपुल प्रभाव वाले होते थे। उनके लिये देवता, देवर्षि, धर्म, यज्ञ विधि-विधान आदि प्रत्यक्ष थे। उनके शरीर पर्वत के सार (वज्र) के समान संहत, और स्थिर थे। वर्ण और इन्द्रियाँ प्रसन्न थीं। वायु के समान बल, वेग और पराक्रम था। सुन्दर नितम्ब, मनोहर प्रमाण और आकृति प्रसन्न और उपचय युक्त होती थी। लोग सत्य, सरलता, अक्रूरता, दान, दम, नियम, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य और व्रत परायण होते थे। वे भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, शोक, मान, रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य और परिग्रह से रहित थे। उनकी आयु बहुत लम्बी होती थी।

सतयुग के आदि में उदार सात्विक मन, गुण और कर्म वाले उन व्यक्तियों के लिये पृथिवी[2] आदि के सर्वगुण सम्पन्न होने के कारण अचिन्त्य रस, गुण वीर्य, विपाक, प्रभाव से युक्त अन्न भी उत्पन्न होते थे।

---

१. आदि काले हि अदितिसुतसमौजसः, अतिविमल-विपुल प्रभावाः, प्रत्यक्ष देवदेवर्षि धर्मयज्ञ-विधिविधानाः, शैलसार संहत स्थिर-शरीराः, प्रसन्न-वर्णेन्द्रियाः, पवनसम-बल-जव-पराक्रमाः, चारु स्फिचः, अभिरूप प्रमाणाकृति-प्रसादोपचयवन्तः, सत्यार्जव आनृशंस्य-दान दम नियम-तपउपवास ब्रह्मचर्य व्रतपराः, व्यपगत-भय-रागद्वेष-मोह लोभ-क्रोध-शोक-मान-रोग-निद्रा-तन्द्रा-श्रम-क्लम-आलस्य-परिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुः, अमितायुषाः। (च। वि० ।३।२४)

२. तेषाम् उदार सत्त्वगुण कर्मणाम्, अचिन्त्य रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव-गुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः शस्यानि, सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्य आदौ।

सतयुग के बीतने पर अन्तिम समय[1] में कुछ सम्पन्न लोगों में अधिक परिग्रह से शरीर गौरव की उत्पत्ति हुई। गौरव से श्रम, श्रम से आलस्य, आलस्य से सञ्चय, संचय से ममता, और ममता से लोभ की उत्पत्ति हुई।

इसके बाद त्रेता में[2] लोभ से अभिद्रोह, भूतद्रोह से झूठ बोलने, असत्य भाषण से काम, क्रोध, अभिमान, द्वेष, कठोरता, अभिघात, भय, सन्ताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग आदि की प्रवृत्ति हुई। इस प्रकार त्रेता में धर्म का पाद खतम हो गया।

धर्म के एक पाद के चले जाने से मनुष्य की आयु[3] का चतुर्थांश कम हो गया। पृथिवी आदि के गुण न्यून हो गये। जिससे अन्न में स्नेह, वैमल्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव में कमी आ गई। अतएव मनुष्यों के शरीर पूर्व के समान आहार-विहार से संरक्षित न होने पर अग्नि और वायु से आक्रान्त ज्वरादि व्याधियों से ग्रस्त होने लगे।

इस प्रकार से उत्पन्न रोग[4] जब ऋषियों के तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य और व्रतादि में बाधक होने लगे तो उन लोगों ने इसके प्रशम का उपाय जानने के लिये हिमालय पर एक सभा की। जिसमें अङ्गिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मार्कण्डेय, आश्वलायन, पारीक्षि, भिक्षु आत्रेय, भरद्वाज, कपिञ्जल, विश्वामित्र,

---

१. भ्रश्यति तु कृतयुगे केषांचित् अत्यादानात् सांपन्निकानां सत्त्वानां शरीर गौरवम् आसीत्, शरीरगौरवात् श्रमः, श्रमादालस्यम् आलस्यात् सञ्चयः, सञ्चयात् परिग्रहात् लोभः प्रदुरासीत् कृते।

२. ततस्त्रेतायां लोभाद् अभिद्रोहः, अभिद्रोहात् अनृतवचनं, अनृतवचनात् काम-क्रोधमान द्वेष-पारुष्यमिघात-भय-ताप-शोक चिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः। ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत्।

३. तस्यान्तर्धानाद् युगवर्षप्रमाणस्य पादह्रासः, पृथिव्यादीनां च गुणपादप्रणाशोऽभूत्। तत् प्रणाशकृतश्च शस्यानां स्नेह-वैमल्य-रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव-गुण-पादभ्रंशः। ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीयमानपाद-गुणैश्च आहार-विहारैः अयथापूर्वं उपष्टम्यमानानि अग्निमारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिः ज्वरादिभिः आक्रान्तानि। (च० वि० ३।२०)

४. विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्। तपोपवासाध्ययन ब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्॥ तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः। समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे॥ अङ्गिरा जमदग्निश्च वशिष्ठः कश्यपोभृगुः। आत्रेयोगोतमः साङ्ख्यः पुलस्त्यो नारदोऽसितः॥ अगस्त्यो वामदेवश्च मार्कण्डेयाश्वलायनौ। पारीक्षिर्भिक्षुरात्रेयो भरद्वाजः कपिष्ठलः॥ विश्वामित्राश्मरथ्यौ च भार्गवश्च्यवनोऽभिजित्। गार्ग्यः शाण्डिल्य-कौण्डिन्यौ वार्क्षिः देवगालवौ॥ (च० सू० १।६-१०)

आश्मरथ्य, भार्गव, च्यवन, अभिजित्, गार्ग्य, शाण्डिल्य, कौण्डिन्य, वार्क्षि, देवल, गालव, सांकृत्य[1], वैजवापि, कुशिक, बादरायण, बडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, काङ्कायन, कैकशेय, धौम्य, मारीचि काश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष, लोकाक्ष, पैङ्गि, शौनक, शाकुन्तेय, मैत्रेय, मैमतायनि थे। अन्य कई सम्प्रदाय के भी लोग थे—कोई वैखानस (वानप्रस्थी) थे तो कोई वालखिल्य, (अल्पशरीरप्रमाण वाले)। सभी लोग यम-नियम के पालन करने वाले ब्रह्म-ज्ञान के भण्डार थे और तपस्तेज से प्रदीप्त थे।

सबसे पहले वे ऋषि रोग ग्रस्त हुए जो दक्ष के यज्ञ में भाग लेने गये थे। महेश्वर के ललाट से उत्पन्न ज्वर[2] ने सबको पकड़ा। शंकर के गणों से त्रस्त होकर जो लोग इधर-उधर भागे उनके दौड़ने भागने कूदने के विक्षोभ से गुल्म की उत्पत्ति हुई। भूख के मारे त्रस्त होकर लोगों ने हविष्यान्न ही खा डाला जिससे मेह और कुष्ठ की उनको उत्पत्ति हुई। भय डर शोक आदि से उन्माद की और अनेक प्रकार के अपवित्रगणों के संस्पर्श से अपस्मार की उत्पत्ति हुई। ज्वर के सन्ताप के कारण किसी को रक्तपित्त हो गया। इस तरह से लोग ज्वरादि व्याधियों से ग्रस्त होकर अपने-अपने आश्रमों में आये।

अतिव्यवाय करने से और दक्ष के द्वारा अपने दुराचरण तथा स्वपत्नियों (दक्ष पुत्रियों) में विषमभाव रखने के कारण अभिशप्त होने पर चन्द्रमा को सबसे पहले राज[3]यक्ष्मा हुआ।

---

१. सांकृत्यो वैजवापिश्च कुशिको बादरायणः।
बडिशः शरलोमा च काप्य कात्यायनावुभौ॥
काङ्कायनः कैकशेयो धौम्यो मारीचकाश्यपौ।
शर्कराक्षो हिरण्याक्षो लोकाक्षः पैङ्गिरेव च॥
शौनकः शाकुनेयश्च मैत्रेयो मैमतायनिः।
वैखानसावालखिल्याः तथा चान्ये महर्षयः॥
ब्रह्मज्ञानस्य निधयो यमस्य नियमस्य च।
तपसस्तेजसा दीप्ता हूयमाना इवाग्नयः॥ (च० सू० १।११-७४)

२. तस्मिन् हि दक्षाध्वरध्वंसे देहिनां नानादिक्षु विद्रवतां अभिद्रवण-तरण-धावन-प्लवन-लङ्घनाद्यैः देहविक्षोभणैः पुरा गुल्मोत्पत्तिरभूत्। हविष्प्राशात् मेह कुष्ठानाम्, भयत्रास-शोकैः उन्मादानाम्, विविधभूत अशुचि संस्पर्शाद् अपस्माराणाम्। ज्वरस्तु खलु महेश्वर ललाट प्रभवः, तत् सन्तापाद् रक्तपित्तम्। (च० नि० ८ अ०।१०)

३. गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्तिनम्।
रजःपरीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत्॥ (च० चि० ८।७)

दक्ष के यज्ञ के बहुत बाद में मनु के पुत्रों नाभाग, इक्ष्वाकु, शर्याति आदि ने भी यज्ञ किये किन्तु उन्होंने पशुओं की हत्या नहीं की प्रत्युत वे उनको अभिमंत्रित करके छोड़ दिया करते थे। इसके बहुत बाद पृषध्र ने यज्ञ किया। उसके बहुत समय तक यज्ञ करते रहने से पशुओं की कमी पड़ गई अतः उसने गायों का प्रयोग करना शुरू किया। गोहत्या को देख कर लोग बड़े दुःखी हुए। और इससे उनको अतीसार[1] हुआ। इस तरह से रोगोत्पत्ति का क्रम आयुर्वेद में वर्णित हैं।

पितामह ब्रह्मा ने जब सृष्टि की रचना की तो उनको मालूम था कि आगे चलकर लोगों को रोग होंगे अतः उन्होंने पहले से ही १ लक्ष श्लोकात्मक आयुर्वेद बनाकर उसे हजार अध्यायों और आठ स्थानों में विभक्त करके रख दिया था। यह बात ऋषियों को मालूम थी। अतः उन लोगों ने इस ज्ञान को प्राप्त करके रोगों के प्रतिबन्धन का प्रयत्न किया। जिसके लिये भरद्वाज को इन्द्र के पास भेजा गया। इनके द्वारा पढ़ाये हुए आत्रेय ने कायचिकित्सा के ज्ञान का देश में प्रसार किया, धन्वन्तरि ने शल्यतन्त्र कथा कश्यप ने कौमार भृत्य का लोगों को उपदेश किया। इस तरह से मनुष्यों में आयुर्वेद की परम्परा चल पड़ी।

चरक संहिता के रसायनाध्याय में भी आयुर्वेदावतरण[2] के काल, स्थान और कारण आदि का उल्लेख अधोलिखित रूप में किया गया है—

ऋषि लोग जब एक स्थान पर मकान[3] बनाकर रहने लगे। वे सम्पन्न हो गये, ग्राम्य औषधियों का आहार के लिये उपयोग करने लगे तो उनका स्वास्थ्य

---

१. आदि काले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनो पुत्राणां नरिष्यन्-नाभाग इक्ष्वाकु नृग शर्याति आदीनां क्रतुषु पशूनाभेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनां अलाभात् गवालम्भः प्रवर्तितः तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः। तेषां च उपयोगाद्उपाकृतानां गवां गौरवाद् औष्ण्याद् असात्म्यत्वाद् अशस्तो पयोगाच्च उपहताग्नीनां उपहतमनसां च अतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे॥ (च० चि० १९।४)

२. अथात आयुर्वेद समुत्थानीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः, इति ह स्माह भगवान् आत्रेयः। (च० वि० १ अ० ४)

३. ऋषयः खलु कदाचित् शालीना-यायावराश्च ग्राम्यौषधाहारा सन्तः सांपन्निका-मन्द-चेष्टा-नातिकल्याणश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासां इति कर्तव्यतानां असमर्थाः सन्तः ग्राम्यवासकृतं आत्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासं अपगतग्राम्यदोषं शिवं-पुण्यं-उदारं-मेध्यं-

गिरने लगा। नित्यकृत्य में असमर्थ हो गये। उन लोगों ने इसका कारण अपना ग्राम्य निवास ही माना। अतः भृगु; अङ्गिरा, वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि महर्षियों ने यह निश्चित किया कि अपने पुराने निवासस्थान हिमालय पर ही फिर से वापस लौट चलना चाहिये। क्योंकि वहाँ पर ग्राम्यदोष नहीं हैं, जलवायु ठीक है। सिद्ध-गन्धर्व-किन्नर ही वहाँ पर रहते हैं और नगर के रहने वाले रोगी लोगों के रोगों का उपसर्ग वहाँ पर नहीं पहुँच सकता। उस समय हिमालय की रक्षा का भार इन्द्र के जिम्मे था। उस दिव्य (जलाशय) और औषधियों (फलपाकान्त अन्न) के उत्पत्ति स्थान हिमालय पर जब वे पहुँचे तो वहाँ उनको इन्द्र के दर्शन हुए।

इन्द्र[1] ने उनका स्वागत किया और बताया कि आप ज्ञानतपोधन ब्रह्मवेत्ता ऋषियों में जो ग्लानि, प्रभाहीनता, स्वरविकार और वैवर्ण्य आदि की उत्पत्ति हो गई है उसका कारण नगर का जीवन ही है। शहरी जीवन असुखकर और असुख का अनुबन्धी होता है। आपने यहाँ पर आकर अपने ऊपर तथा अपनी सन्तानों के ऊपर भी अनुग्रह किया है। अश्विनी कुमारों ने जिस आयुर्वेद का उपदेश मुझे दिया, उन्होंने जिसे प्रजापति से सीखा; और ब्रह्मा ने जिसका उपदेश प्रजापति को दिया उसका उपदेश मैं आप लोगों को करूँगा।

इस समय आपके प्रजा (सन्तानों) की आयु[2] अल्प हो गयी है और उसमें भी जरा और व्याधि का बाहुल्य हो गया है। अतः उनको सुख तो

अगम्यं असुकृतिभिः गङ्गाप्रभवं-अमरगन्धर्व-किन्नरानुचरितं अनेकरत्ननिचयं-अचिन्त्याद्‌भुतप्रभावं-ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवं-अतिशरण्यं हिमवन्तं-अमराधिगुप्तं जग्मुः-भृगु-अङ्गिरा-अत्रि-विशिष्ठ-कश्यप-अगस्त्य-पुलस्त्य-वामदेव-असित-गौतम-प्रभृतयो महर्षयः।

१. तान् इन्द्रः सहस्रदृक् अमरगुरुः अब्रवीत्-स्वागतं ब्रह्मविदां ज्ञनतपोधनानां ब्रह्मर्षीणाम्। अस्ति ननु वो ग्लानिः-अप्रभावत्वं-वैश्वर्यं च ग्राम्यवासकृतं असुखं असुखानुबन्धं च। ग्राम्यो हि वासो मूलं अशस्तानाम्। तत् कृतः पुण्यकृद्भिः अनुग्रहः प्रजानाम्। स्वशरीरं अवेक्षितुं कालः, कालश्चायं आयुर्वेदोपदेशस्य ब्रह्मर्षीणाम्। आत्मनः प्रजानां च अनुग्रहार्थं अश्विनौ मह्यं प्रायच्छताम्, प्रजापतिः अश्विभ्याम्, प्रजातये ब्रह्मा।

२. प्रजानां अल्पं आयुः जराव्याधिवहुलम्-असुखं असुखानुबन्धम्, अल्पत्वाद् अल्पतपोदम नियम-दान-अध्ययन-सञ्चयंमत्वा पुण्यतमं-आयुः प्रकर्षकरं-जराव्यधि प्रशमनं-ऊर्जस्करं-अमृतं-शिवं-शरण्यं-उदारं भवन्तो मत्तः श्रोतुमर्हत, अथ उपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थं आर्षं ब्रह्म च प्रतिमैत्री कारुण्यं, आत्मनश्च अनुत्तमं पुण्यं-उदारं ब्रह्म अक्षयं कर्म इति।

मिलता ही नहीं, उलटे दुःख का अनुबन्ध बना रहता है। अल्पायु होने से तप, दम, नियम, दान और अध्ययन आदि का भी उनका सञ्चय कम ही हो पाता है। इसलिये प्रजाओं के अनुग्रह के लिये रसायन का मैं आप लोगों को उपदेश देता हूँ जो वृद्धावस्था और व्याधि दोनों का शमन करने वाला, ऊर्जा को बढ़ाने वाले, अमृतस्वरूप, कल्याणकारी, रक्षक है। इससे आपको अक्षय ब्रह्म, पुण्य, कारुण्य, मैत्री आदि की प्राप्ति होगी।

इस आख्यान से भी यही सिद्ध हुआ कि आयुर्वेद का पृथिवी पर अवतरण उस समय हुआ जब कि मनुष्यों की आयु कम होने लगी और वे रोग से ग्रस्त होने लगे। इसका नाम आयुर्वेद इसलिये पड़ा क्योंकि इसमें आयु के विषय में ही विविध दृष्टिकोणों से विचार किया गया। अन्य फल जैसे सुखावाप्ति, पुण्य या मोक्ष प्राप्ति तो आयुर्वेद ज्ञान का अनुषङ्गी हैं। प्रधान प्रयोजन सुखायु की और हितायु की प्राप्ति करना ही है।

भारतीय इतिहास में कालविक्षेप

पाश्चात्य इतिहासकारों को संस्कृत भाषा का ज्ञान तो था नहीं, भारत के लोगों में धार्मिक कट्टरता आ जाने के कारण उनको किसी सत्पुरुष का आश्रय भी न मिल सका। उन्होंने अज्ञजनों के माध्यम से जो कुछ सीखा उसी के आधार पर फतवा दे डाला कि आर्यों के पास प्राचीन इतिहास को बताने वाली कोई सामग्री नहीं हैं। इसके विपरीत जब कि पञ्चाङ्गों में प्रतिवर्ष बता दिया जाता है कि इस सृष्टि का आरम्भ अब से कितने वर्षों पहले हुआ, साथ ही यह भी निरूपित कर दिया जाता है कि इस कल्प से पहले सृष्टि कितने और बार बसी, और उजड़ चुकी है। इतनी सूक्ष्म प्रक्रिया का वर्णन न केवल ज्योतिष-शास्त्र अपितु पुराण, इतिहास, वेदाङ्ग आदि सभी ग्रंथों में मिलता है। इनको देख सकने की उनमें न क्षमता ही थी और न किसी ने उनको ऐसा लगता है कि बताया ही कि इन ग्रंथों को देखने पर भारतीय इतिहास का पता लग सकता है।

इस प्रकार ध्रुव-ज्ञान को न पाकर उन लोगों ने अपनी कल्पना-शक्ति का आश्रय लिया। उनके यहाँ जिस प्रकार ईसा के जन्म से पहले या बाद में किसी घटना के निरूपण करने की शैली है, उसी तरह से उन्होंने भारतीय इतिहास का निरूपण बुद्ध जन्म के काल को केन्द्र मानकर करना शुरू किया। किन्तु महात्मा बुद्ध के जन्म काल का निर्धारण ही उन्होंने गलत तरीके से किया। एक तिथि मान ली कि ईसा के जन्म से ५५७ वर्ष पूर्व बुद्ध का जन्म हुआ किन्तु इसके मानने का उनके पास आधार क्या है? इसका कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया।

इसी तरह से मान लिया कि जगद्गुरु आदिशङ्कराचार्य का जन्म ईसवी सन् की आठवी शती में हुआ। क्या प्रमाण है ? इसके लिए उन्होंने कभी शङ्करपीठों में जाकर टटोलने की जरूरत ही नहीं समझी जब कि वहाँ पर आदि-शङ्कराचार्य के बाद जितने भी आचार्य हुए हैं उन सभी लोगों का पदकाल क्रमशः लिखा हुआ है। यहाँ तक कि तिथि, मास, वर्ष और संवत्सर के नाम भी पृथक्-पृथक् दिये हुए हैं।

इसी शङ्का को जब मैंने पूज्यपाद स्वामी अभिनव सच्चिदानन्दतीर्थजी के सामने ता० १५-९-६६ को रक्खा तो उन्होंने इस पर सविस्तर प्रकाश डाला कि किस प्रकार से अंग्रेजों और उनके अनुयायी भारतीय इतिहासकारों ने आर्य इतिहास के कालक्रम को भ्रष्ट किया है।

आदिशंकराचार्य के गुरु थे आचार्य गोविन्द भगवत् पाद, जिन्होंने रस-हृदय तन्त्र की रचना की है। वे आचार्य गौड़पाद के शिष्य थे और आचार्य गौड़पाद परमभागवत श्री शुकदेव जी के शिष्य थे।

जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया तो निर्विण्ण युधिष्ठिर ने मन की शान्ति प्राप्त करने के लिए अश्वमेध यज्ञ किया। इसके पूर्ण होने पर उन्होंने स्मृति रूप में एक संवत् चलाया जो ३०५० वर्षों तक चलकर खत्म हो गया। इसका समाप्तिकाल २५ विक्रमी या ८२ ई० के आसपास होता है। अब इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य शङ्कराचार्य ईसा से पूर्व हुए या ईसवी सन् की ८वीं शती में।

शारदापीठ द्वारका में आचार्य परम्परा श्री सुरेश्वराचार्य के समय से लिखी अनविच्छिन्न रूप से मिलती हैं। इनका नाम वहाँ पर ब्रह्मस्वरूपाचार्य लिखा हुआ है और पदग्रहण २६९१ युधिष्ठिर संवत्सर, धर्मशासनकाल १२ वर्ष (४५९ ई० पूर्व से ४४७ ई० पूर्व तक) का लिखा मिलता है। इस परम्परा में अब तक ७७ आचार्यों का तिथिबद्ध उल्लेख है।

इसी तरह से शृङ्गेरी मठ के आचार्यों की परम्परा २२ विक्रमी संवत् से प्रारम्भ होती है। अतः इन सब कालचिह्नों पर विचार करते ही विदित होता है कि आज जो भारतीय इतिहास है वह काल्पनिक है। उसके आधार पर आयुर्वेद का इतिहास यदि हम लिखने लगें तो वह भी काल्पनिक ही होगा। मैंने यथा सम्भव इन त्रुटियों को दूर करने की कोशिश की है।

विषय सूची

आयुर्वेद का इतिहास

वैदिक युग

इस युग का प्रारम्भ कब होता है इसके बारे में प्राच्य और प्रतीच्य दोनों ही प्रकार के विद्वानों का मतवैविध्य दृष्टिगोचर होता है। लोकमान्य तिलक ने ज्यौतिष के सिद्धान्तों के आधार पर गणित करके निश्चित किया है कि इस युग का प्रारम्भ लगभग ६००० ईसवी पूर्व होता है। कविराज सूरमचन्द्र जी ने विविध प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया है कि लगभग १७,००० वर्ष पूर्व ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। ज्यौतिष पञ्चाङ्ग में प्रतिवर्ष जो काल-प्रमाण बताया जाता है उसके अनुसार विक्रम संवत् २०२२ के प्रारम्भ के समय सृष्टि के प्रारम्भ से १,९५,५८,८५,०६६ वर्ष बीत चुके हैं। कलियुग के आरम्भ से अबतक ५०६६ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इससे पूर्व द्वापर के ८,६४,००० वर्ष, त्रेता युग के १२,९६,००० वर्ष और सतयुग के १७,२८,००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अत एव वैदिक युग का प्रारम्भ कब हुआ कहना बड़ा कठिन प्रतीत होता है। हाँ, अन्त अवश्यमेव महाभारत काल में हुआ होगा।

पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी इसी प्रकार के विभिन्न मत इस कालक्रम के विषय में व्यक्त किये हैं। श्री मैक्समूलर के अनुसार वैदिक काल ३००० ई० पू० से पहले ही समाप्त होता है। श्री विंटरनिट्ज़ एवं अन्य परवर्ती विद्वानों के अनुसार इसको १२०० से १००० ई० पूर्व मानना चाहिये। श्री मैक्स-मूलर ने इसको ऋग्वेद के उपनिबन्धन का काल माना है। कुछ भाषा-शास्त्रियों के विचार से ऋग्वेद और अवेस्ता का लिपिकरण समकालीन है, अत एव वे ई० पू० १००० की तिथि में विश्वास करते हैं। श्री जैकोबी के मतानुसार वैदिक सभ्यता का प्रसार ४५०० से २५०० ई० पूर्व तक था और संहिताओं की रचना इस काल के उत्तरार्ध में हुई। श्री विंटरनिट्ज़ ने वैदिक युग की परिसमाप्ति ८०० ई० पू० मानी है।

वैदिक युग में आयुर्वेद की स्थिति

यों तो चारों ही वेदों में रोग, औषधि आदि का वर्णन न्यूनाधिक रूप में मिलता है. किन्तु ऋक्, यजुः, सामवेदों की अपेक्षा अथर्ववेद में आयुर्वेद से संबद्ध साहित्य का प्राचुर्य है। यही कारण है कि आयुर्वेदीय संहिताकारोंने

अथर्ववेद[१] से ही अपना सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। यद्यपि यह वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है किन्तु इससे मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का परिज्ञान अवश्य हो जाता है।

उदाहरणार्थ ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है जिसमें मानसिक व्यथाओं से छूटने की प्रार्थना की गई है। यहाँ पर 'आधि[२]' शब्द से मानस रोग का संकेत किया गया है। 'जिस प्रकार किसी प्यासे मृग को भेड़िया आसानी से खा जाता है, उसी प्रकार ये आधियाँ (मानस रोग) शरीरको विनष्ट न करें'। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि रोगों के दो भेद होते हैं—शारीर (Somatic) और मानस (Psychic), ये परस्पर सम्बद्ध भी होते हैं।

इसी प्रकार आयुर्वेद की आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित वात-पित्त-कफ (त्रिदोष या त्रिधातु) का मूलवर्णन एवं मूलस्वरूप पहले ऋग्वेद में मिलता है। तदनन्तर आयुर्वेद में उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया और प्रकृति-विकृति उपयोगी हेतु-लक्षण-चिकित्सा से सम्बद्ध किया गया। वेदों में इनकी त्रिधातु संज्ञा दी गई है और अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की गई है कि हे शुभस्पती[१] ! (उत्तम औषधियों के स्वामी) आप अश्वि-

---

१. तत्र चेत् प्रष्टारः स्युः—चतुर्णामृक्-साम-यजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः ? तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या।

च० सू० ३० ०।२०-२१

कथं चोत्पन्न इति ! आह—अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः।

का० वि० शिष्योपक्रमणीये

२. तं मा व्यन्त्याध्यो वृको न तृष्णजं मृगम्। ऋग्वेद १।१०५।७

३. त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरुदत्तमद्भ्यः।
ओमानं शंयोर्मम कायसूनवे त्रिधातुशर्म वहतं शुभस्पती ॥ ऋ० १।३४।६

हे अश्विना ! नः=अस्मभ्यं, दिव्यानि=द्युलोकवर्तीनि, भेषजा औषधानि, त्रिर्दत्तम्; तथा पार्थिवानि=पृथिव्यामुत्पन्नानि औषधानि त्रिर्दत्तम्, अद्भ्य उ=अन्तरिक्षसकाशादपि औषधानि त्रिर्दत्तम्। आप इत्यन्तरिक्षनाम 'आपः पृथिवी भूरिति' तन्नामसु पाठात्, शंयोरेतन्नामकस्य बृहस्पतिपुत्रस्य ते शं युं बार्हस्पत्यमवृधन्निति ब्राह्मणान्तरात् तस्य सम्बन्धिनमोमानं सुखविशेषं मम कायसूनवे = मदीयाय पुत्राय दत्तं, हे शुभस्पती ! शोभनस्यौषधजातस्य पालकौ, युवां त्रिधातु = वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयशमनविषयं सुखं वहतं प्रापयतम्। (सायणभाष्य)

हे शुभस्पती = शोभनानामौषधानां पालकौ दातारौ वा, अश्विनौ ! दिव्यानि = दिवोऽन्तरिक्षात् आगतानि। भेषजाः = भेषजानि, प्राणाऽपानसमानाऽऽव्यान् वायून्, अथवा शरीरान्तःप्रवेशन-पालन-निर्गमनकर्तॄन् वायून्, नः अस्मभ्यं, भेषजाः=भेषजानि अभिलषितकार्यकर्तॄन् दत्तं = परिणमयतम्। एवं 'अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो

द्वय ! हमको देवलोक की प्राण, अपान और समान वायु रूप तीन औषधियों के द्वारा शरीर में उनका अन्तःप्रवेश, परिपालन और पुनः बहिर्निगमन कराके हमारे त्रिधातु (वात,पित्त और कफ) को स्वास्थ्यकर प्रमाण में बनाये रखने में सहायता दें। आप तीन पार्थिव औषधियों को शरीर में अग्निक्रिया (पाचन एवं शोषण) का सम्पादन करने में समर्थ हैं, हमारे त्रिधातु के लिये हितकर बनावें। ऐसी तीन जलीय औषधियों को भी त्रिधातु के लिये हितकर करें। जिससे कि हमारा शरीर स्वस्थ रह सके। यहाँ पर तीन शब्द से अनेक का अर्थ बोध होता है अत एव सभी वायव्य, आग्नेय और जलीय पदार्थ हमारे लिये हितकर होंवे ऐसा प्रार्थना का भावार्थ प्रतीत होता है।

एक दूसरे मन्त्र[1] में मानसिक व्याधियों से मुक्ति पाने के लिये अश्विद्वय

वाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थान' (निरुक्त दै० ७।५।२) इति वाक्यात् पार्थिवानि अग्निसम्बन्धीनि भेषजानि त्रिः = पूर्ववत् कर्मत्रितयनिष्पादकानि अग्नेः कर्माणि नोऽस्मभ्यं दत्तं परिणमयतम्। एवं अद्भ्य उ अद्भ्यश्च त्रिः पूर्ववत् कर्मत्रितयनिर्वर्तकानि भेषजान्यस्मभ्यं दत्तं परिणमयतम्।

शंयोः रोगाणां शमनद्रावणकामस्य, मम स्तुतिकर्तुः, कायस्य शरीरस्य सूनवे सूर्यपुत्राय, शरीराधिष्ठातृजीवाय इन्द्रियाधिष्ठान्ते मनसे वा तदर्थमित्यर्थः ओमानं कल्याणं, अथ च त्रिधातुशर्म = त्रयाणां वातपित्तकफानां धातुरूपाणां शरीरोपादानकारणानामिति यावत्, शर्म कल्याणं, वहतं = प्रापयतम्। 'शारीरमानसोभयरोगनिवृत्त्या अस्मभ्यं कल्याणं प्रयच्छतम्' इति पिण्डार्थः।

(पं० हरिप्रपन्नशर्मा, रसयोगसागर उपोद्घात, पृ० ६७–६८)

१. तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिवन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः॥ ऋ. १।१८३।१

हे वृषणा = कामानां वर्षयितारौ युवां, यो मनसो जवीयान् = मनोवेगवान्, यश्च त्रिबन्धुरः = मनोबुद्ध्यहङ्काराख्यमुख्यकरणत्रितयोपपन्नः, पुनश्च यस्त्रिचक्रः = त्रीणि सत्वरजस्तमांसि चक्राणीव चक्राणि यत्र स त्रिचक्रः, पुनश्च यः सुकृतः=परमेश्वरातिरिक्तेन केनापि शिल्पिना कोटिशो यत्नैरपि कर्तुमशक्यः, तम् = अनिर्वचनीयं देह लिङ्गाख्यमिति यावत्, त्रिधातुना = त्रयः वातपित्तकफात्मानः धातव इव धातवो यस्मिन् स त्रिधातुः वात-पित्त-कफैर्निर्वर्तित इति यावत्, तेन त्रिधातुना स्थूलाख्येन देहेनेत्यर्थं युञ्जाथाम् = अक्षणतया सम्बद्धं कुर्वाथाम्।

कथंभूतेन त्रिधातुना ! विः=पक्षी, पर्णैः=स्वकीयपक्षैः कृत्वा, दुरोणं = स्ववासस्थानं, अथवा दूरञ्च ऊनञ्च उपस्थितत्वाद् दूरादेवोनं लभ्यते समीपमिति यावत्, तयोः समाहार इत्यस्मिन्नर्थे दुरोणमिति निपातः 'छन्दसि दृष्टानुविधि'रिति नियमात्, दूरदेशं समीपदेशं वा स्ववाञ्छितस्थलमिति यावत्, न = इव, उपयाथ=उपगच्छथःतादृशेन...

अतो रोगरहितेन मम स्थूलशरीरेण साकं लिङ्गशरीरस्य योगं कुर्वाथामिति प्रार्थना

(र० यो० सा० उपो० पृ० ६८)

की प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे मनःकामनाओं के पूरण करने वाले ! जो मन, बुद्धि एवं अहङ्कार से युक्त है अथवा बुद्धि एवं अहङ्कार का जो कारण है, जिसमें सत्त्व, रजः, तम ये तीनों गुण तीन चक्र के रूप में लगे हुए हैं और परमेश्वर ने जिसको बड़े ही यत्न से बनाया है। जो वात, पित्त, कफ इन त्रिधातुओं से युक्त है, ऐसे शरीर से जीव का सम्बन्ध सुखकर रूप में बनाये रक्खा। क्योंकि इस शरीर के रहते ही जीव की सत्ता है। यदि शरीर रुग्ण रहेगा तो मन, बुद्धि, अहङ्कार भी क्रिया करने में असमर्थ हो जायेंगे। इस प्रकार के अनेक मन्त्र वेदों में मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि मूलरूप में त्रिदोषों का उल्लेख वेदों में त्रिधातु[1] के नाम से किया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि रक्तसंवहन का ज्ञान सबसे पहले डा० हार्वे को सन् १६२८ ई० में हुआ। इससे पहले इस प्रक्रिया का ज्ञान वैज्ञानिकों को नहीं था। किन्तु वेदों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि उस काल में ऋषियों को स्पष्ट रूप से परिज्ञात था कि शरीर में रक्तधातु हृदय के स्फुरण से प्रसर्पित होता है। जिन स्रोतों के द्वारा शुद्ध रक्त हृदय से धातुओं में पोषणार्थ पहुँचाया जाता है, उन प्रणालियों को 'धमनी[2]' कहा

---

१. त्रिर्नो अश्विना यजता दिवे दिवे परि त्रिधातु पथिवीमशायताम्।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥ ऋ. १।३।४७
अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोजस्रो घर्मो जविरस्मि नाम ॥ ऋ. ३।२६।७
त्रिरादिवः सवितर्वार्याणि दिवेदिव आसुव त्रिर्नो अह्नः।
त्रिधातुराय आसुवा वसूनि भग त्रातर्धिषेण सातवेधाः ॥ ऋ ३।५६।६
अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदनं ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्विभू म ॥ ऋ ४।४२।४

२. इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ अथर्व० ७।३६।२

हे विद्वेषिणि स्त्री! ते त्वदीया, या इमाः शतं शतसंख्याकाः, हिराः = अशुद्धरक्तहारिण्यः सिराः, अथ च सहस्रं = सहस्रसंख्याका धमनीः शुद्धरक्तप्रदानेन पूरण्यः पोषण्यो वा शुद्धरक्तवाहिन्यः, गर्भाशयस्य अवष्टम्भिकाः स्थूलाः सूक्ष्माश्च याः शिराश्च धमन्यश्च तासां सर्वासामपि बिलं मुखं अश्मना पाषाणेन अहं अप्यधाम् अवरुणध्मि।

अत्र शतसहस्रशब्दौ असंख्यतां द्योतयतः। शरीरे सिराणां धमनीनाञ्च व्याप्तत्वात् संख्यानियमस्य दुर्घटत्वात्। 'ह्रियते पोषणाक्षमत्वेन निरुपयोगितां जातं रक्तं याभिः प्रणालीभिः हृदयं प्रविश्य फुफ्फुसौ च प्राप्य विशुद्धीभूतं पुनरपि हृदयं प्राप्यते ता हिरा इत्युच्यन्ते।' धम्यते उच्छ्वसिती क्रियते पूर्यते पोष्यते वा शरीरं याभिस्ता धमन्यः इति व्युत्पत्त्या साधारणतया यत् कश्चिद् वहमार्गाद्युपस्थितावपि धमनीशब्दस्य योग-

गया है, और जो रक्तवाहिनियाँ उस पोषणाक्षम (अशुद्ध) रक्त को पुनः शुद्ध होने के लिये हृदय में वापस लाती हैं उन्हें 'हिरा' कहा गया है।

इतना ही नहीं, असृग्दर या प्रसवकालिक अतिमात्र रक्तप्रवृत्ति[1] के कारण शरीर में रक्तक्षय की अवस्था उत्पन्न होने पर इन रक्तवाहिनियों (सिरा-धमनियों) की क्या दशा हो जाती है इसका भी सुन्दर वर्णन किया

रूढत्वेन न सिरादिष्वतिव्याप्तिः। धमनीनां शरीरे रसधमनैककार्यत्वात् शुद्धरक्तवाहिन्य उच्यन्ते।

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरसत॥ अ० १।१७।३

शतस्य = शतसङ्ख्याकानां धमनीनां, शुद्धरक्तवाहिनीनां, सहस्रस्य = सहस्रसंख्याकानां, हिराणाम्=अशुद्धरक्तवाहिनीनां, या मध्यमाः=मध्यमार्गाः, अथ च अन्ताः अन्तमार्गाः अन्तप्रान्ताः सूक्ष्मातिसूक्ष्मप्रतानाः इत्यर्थः, इमाः = सर्वा अपि साकं = समकालं रोगवशात् पूर्वं स्रवन्त्योऽपि अस्थुः = निवृत्तस्रावा भवन्तु। अथ च अरसत = यथापूर्वं स्वकार्यं कुर्वन्त्यः समस्तशरीरे अरसत, रमन्ताम् – अप्रतिहतसञ्चारं कुर्वन्त्वित्यर्थः।

(र० यो० सा० उपो० पृ० १२६)

१. प्रसवसमये अतिप्रवाहयुक्तरक्तस्रवन्तीनां सिराणाम् अथ च अत्यार्तवपीडितायाः स्त्रियाः रजोवाहिनीनां प्रणालीनामवरोधाय प्रार्थनाऽभिप्रायेणाऽयं मन्त्रोऽस्ति, तथाहि—

अमूर्या यान्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥ अ० १।१७।१

योषितः = प्रसूतस्त्रियाः प्रदरादियुक्ताया वा, अमूः = पुरतो दृश्यमानाः या = हिराः अशुद्धरक्तवाहिन्यः प्रणाल्यः, यान्ति=अतिरिक्तं वहमानास्तिष्ठन्ति। अथ च या लोहितवाससः = रजोवहप्रणाल्यः, ता उभयविधाः प्रणाल्यः मन्त्रप्रभावेण हतं वर्चो वेगः यासां ताः हतवर्चसो नष्टरोगाः सन्त्यः, न विद्यन्ते भ्रातरो यासाम् अभ्रातरः = नष्टबन्धुवर्गाः जामय इव तिष्ठन्तु। जामयो हि वर्तमानभ्रातृवर्गा गर्वयुक्ता भवन्ति, तदभावे तु अनाथा इव सन्त्य आसते, तद्वन्नष्टवेगा एताः अवरुद्धा भवन्तु।

अत्र मन्त्रे 'हिराः' इत्यनेन अशुद्धरक्तवाहिन्यः कथिताः।

लोहितवासस इत्यनेन रजोवहप्रणाल्य उक्तास्ताभिः स्त्रीणां प्रतिमासं वासांसि लोहितानि भवन्ति, अतस्ताः लोहितवासस इत्यनेनोक्ताः।

अस्मिन् मन्त्रे शुद्धरक्तवाहिनीनां धमनीशब्देन प्रार्थना कृताऽस्ति—

तिष्ठावरे तिष्ठ परे उत त्वं तिष्ठ मध्यमे।
कनिष्ठिका च तिष्ठती तिष्ठादिद्धमनिर्मही॥ अ० १।१७।२

हे अवरे = साधारणे, हे परे = उत्कृष्टप्रमाणे, हे मध्यमे = मध्यमप्रमाणयुक्ते, कनिष्ठिका = सूक्ष्मातिसूक्ष्माङ्कुरविशिष्टे हे धमनि ! त्वं तिष्ठात् = तिष्ठ, शस्त्राद्यभिघातजनितरुधिरस्रावात् निवृत्ता भव। (र० यो० सा० उ० पृ० १२६-२७)

गया है । इन्हीं सिद्धान्तों का चरक, सुश्रुत प्रभृति संहिता ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है ।

अथर्ववेद में हृदय की उपमा भस्त्रिका[1] (भाथी) से दी गई है । अर्थात् ऐसा बताया गया है कि यह अवयव संकोच-विस्फार क्रिया संयुक्त होता है । वाजसनेय संहिता में इसको समुद्र[2] के समान बताया गया है । जिस प्रकार समुद्र में समस्त जल जाकर मिल जाता है, उसी प्रकार हृदय में शरीर का रस, रक्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग से पहुँचता हुआ पुनः अपने गन्तव्य स्थानों को वापस जाता रहता है । औषधियों से बने रसादि को भी हृदय ही विरुग्ण स्थल तक पहुँचाने में सहायक होता है ।

इन उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक कालीन ऋषियों को हृदय, उसकी प्रक्रिया तथा रक्तसंवहन का परिज्ञान स्पष्ट रूप से था ।

जिस प्रकार रक्त-संवहन का वैदिक कालीन वर्णन नव्य-चिकित्सा विज्ञान के समान ही युक्तियुक्त है उसी प्रकार श्वासोच्छ्वास के द्वारा शरीर में प्राणवायु का प्रवेश तथा दूषित मलों का निष्कासन भी पूर्णरूपेण विज्ञानाभिमत प्रतीत होता है । इस प्रक्रिया को *'प्राणापान-प्रवेश'* संज्ञा दी गई है । दूसरे शब्दों में इनका भावार्थ यों व्यक्त किया जा सकता है कि अन्तःश्वसन के द्वारा शरीर में प्राणवायु के प्रवेश से लेकर, रक्त का शोधन,

---

अस्मिन् मन्त्रे हृदयस्य भस्त्रिकया सादृश्यम् दत्तम् ।

१. अदो यत्ते हृदि श्रित मनस्क पतयिष्णुकम् ।
तदस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ अ० ६।१८।३

हे ईर्ष्याग्रस्तपुरुष ! ते तव, हृदि हृदये, (श्रितम्) अवस्थितम्, अदः प्रसिद्ध, यन्मनः, पतयिष्णु = अस्थिष्णु इतस्ततः पतनशीलम्, 'कम्' इति पदद्वयम् पादपूरणार्थं, ततः तस्मात् मनसः, ते तव, ईर्ष्यां = स्त्रीविषय कोपं निःशेषेण मुञ्चामि = अपगमयामि । तत्र दृष्टान्तः 'ऊष्माणम्' इति, यथा दृतेः चर्ममय्या भस्त्रिकायाः सकाशात् तन्मध्यवर्तिनम् ऊष्माण श्वासवद् अन्तपूरितं वायु तन्मुखान्निःसारयति कर्मकारस्तद्वदित्यर्थः ।(सायणः)

२. समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः । सुमित्रियान आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ वा० सं० २०।१९

समुद्रे = सर्वनदीनां पतनस्थाने, अप्सु = तदीयधृतेषु द्रवेषु, अन्तर्मध्ये, आप उत = साधारणजलानीव अव्ययानामनेकार्थत्वादुपमायां 'उत' शब्दो बोध्यः, ओषधयः मया प्रक्षिपताः औषधिरूपा आपः ओषधाः = शरीरपोषणसमर्थाः रक्तादिधातवस्तद्रूपा भूत्वा इत्यर्थः, ते तव, हृदयं = हृत्स्थानं, संविशन्तु अव्याहततया पाकं प्राप्य हृदयपर्यन्तं गच्छन्तु, ताश्च सुमित्रियाः सन्तु ।

अत्र मन्त्रे समुद्रेण सह हृदयस्य साधर्म्यमुक्तम्, यथा समुद्रे आपो निपतन्ति तथा हृदयेऽपि रसादिद्रवाः संविशन्ति निःसरन्ति च । (र० यो० सा० उ० पृ० ९३)

विशुद्ध रक्त का धातुओं तक पहुँचना और उनको शक्तिप्रदान करना यह प्राणकर्म के अन्तगत आता है। इसके पश्चात् धातुओं में जाकर इस रक्त का अशुद्ध होना और पुनः उस रक्त का फुफ्फुसों तक पहुँचना अपान कर्म का साक्षी है। इन दोनों को 'प्राणाऽपान[१]' क्रिया कहा गया है।

अथर्ववेद में इस प्रकरण में शरीर को एक शकट[२] की उपमा दी गई है और उसका सञ्चालन करने वाले प्राण और अपान इन दो प्रक्रियाओं को दो बैल बताया गया है। जिस प्रकार दो बैलों से चलनेवाली गाड़ी को एक बैल नहीं खींच पाता, उसी प्रकार इस शरीर का धारण एवं पालन प्राण और अपान इन दोनों ही के द्वारा संयुक्त रूप में किया जाता है। वहाँ पर प्रार्थना की गई है कि हे प्राण और अपान! तुम दोनों विरुग्ण शरीर को भी छोड़कर मत जाओ क्योंकि इनकी क्रिया बन्द हो जाने पर शरीर का बना रहना असम्भव है।

प्राण और अपान के इसी भाव को ग्रहण करके चरक, सुश्रुत तथा अन्य परवर्ती आचार्यों ने आगे चल कर वायु के पाँच विभेद किये है। उनके गुण-कर्मानुसार ही स्थान आदि की कल्पना करके वायु के अनुरूप ही पित्त और कफ के भी पांच-पाँच भेद तथा उनके भी स्थान, गुण, कर्म आदि की व्याख्या की गई है।

---

१. प्रविशतं प्राणापानावनडवाहाविव व्रजम्।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरांश्छतम्॥ अ.३।११।५

हे प्राणाऽपानौ शरीरधारकौ! युवां प्रविशतम् यक्ष्मगृहीतस्य शरीरमिति शेषः। मन्त्रसामर्थ्येन निर्गन्तुकामयोरपि पुनः प्रवेशाऽभिधानेन अनिर्गतयोस्तयोः कौमुतिक-न्यायेन स्थैर्यं प्रापितम् भवति। तत्र दृष्टान्तः—अनडवाहौ = अनसः शकटस्य वोढारौ बलीवर्दौ व्रजं स्वनिवासस्थानं गोष्ठमिव। अन्ये=राजयक्ष्मव्यतिरिक्ता मृत्यवः मृतिहेतवो रोगादयः, वियन्तु = विमुखा गच्छन्तु, तानेवाह—यान् इतरान्=अन्यान् मृत्यून्, शतं = शतसंख्याकान्, आहुः = कथयन्ति अभिज्ञाः, शतम् इति अपरिमितानाम्।

विशेष—वेदों में यक्ष्मा शब्द सामान्य रोग का वाचक है, राजयक्ष्मा मात्र का नहीं अतः यहाँ पर रोग मात्र से मृत्यु न हो ऐसी प्रार्थना की गई है।

२. इहैव स्तं प्राणापानौ मापगातमितो जवम्।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः॥ अ० ३।११।६

हे प्राणाऽपानौ युवाम् इहैव अस्मिन्नेव शरीरे, स्तम्=भवतम्। इतः अस्मात् शरीरात्, जवं शीघ्रम्, अकाले, मापगातम् मापगच्छतम्। पुनः शब्दस्त्वर्थे, किन्तु अस्य व्याधितस्य शरीरम्, अङ्गानि=हस्तपादादीनि च, जरसे=जरार्थम्, जरापर्यन्तमित्यर्थः, वहतम्=धारयतम्। (र० यो० सा० उ० ५४)

अथर्ववेद में प्राण-अपान की स्तुतिपरक अनेक मन्त्र आते हैं जिनसे शरीर (शरीरक्रिया-विज्ञान) के सूक्ष्म तत्त्वों का बड़ी स्पष्टता से अवबोध होता है। प्राणवायु[1] (आक्सीजन) को *'मातरिश्वा'* संज्ञा दी गई है। यह वायुमण्डल में पाये जाने वाले वात का एक प्रमुख अंश है। इसी के द्वारा शरीर की यात्रा का निर्वाह होता है। यदि प्राणवायु की कमी हो जाय तो मनुष्य का जीवन विपन्न हो जाता है। जब हम अन्तःश्वसन के समय प्राण वायु को फेफड़ों के अन्दर भरते हैं तो उससे संबद्ध वायु को *'अयते[2]'* शब्द से संबोधन किया गया है। और जब रक्त में कार्बन डाइआक्साइड की राशि मिल जाती है और उसके बाद उसका फुफ्फुसों से त्याग किया जाता है तो उस वायु को *'परायते'* शब्द से संबोधित किया गया है। प्राणवायु का वह भाग जो रक्तकणों के अन्दर अवस्थित शोणवर्तुल (हीमोग्लोबीन) से मिलकर शरीर के विभिन्न धातुओं में पहुँचकर अनेक प्रकार की शारीरिक क्रियाओं का सम्पादन कराता है तो उसे *'आसीनाय'* संज्ञा दी गई है।

प्रवेश-निर्गम अथवा प्राणन एवं अपनोदन कर्मों के सम्पन्न करने के कारण ही प्राण को अपान से पृथक् किया गया है। इन दो प्रकियाओं के द्वारा स्थावर, जङ्गम के विभिन्न व्यापारों का सञ्चालन प्रकृति करती रहती है। इसीलिये प्रार्थना के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि 'हे प्राण और अपान ! तुम्हारा निर्माण ब्रह्मा के द्वारा शारीरिक और लौकिक क्रियाओं का सम्पादन करने के लिये ही किया गया है। अत एव अनवरुद्ध गति होकर अपने प्रवेश और निर्गम से हमारे शरीर का धारण[3] किये रहना।'

यदि वास्तविक रूप में देखा जाय तो प्राणवायु की सार्थकता उसी समय सिद्ध होगी जब कि उसका रक्तकणों में विलय हो जाय और वहाँ उनके साथ मिलकर शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में सञ्चरण करता हुआ शारीरक्रियाओं को सुचारु रूप से चला सके। इतना ही नहीं, पुनः वह धातुओं से मल भाग का ग्रहण करके फुफ्फुसों में वापस आ जाय और अपान

---

१. प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राण ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ अ० ११।६।१६
मातरि अन्तरिक्षे, श्वसिति वर्तते मातरिश्वा।

२. नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ अ० ११।६।७
(र० यो० सा० उ० पृ० ५८)

३. यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः। अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥
(अ० ११।६।२४ र० यो० सा० उ० पृ० ५९)

के द्वारा उन मलों का बहिर्निष्कासन कराने में सहायक होवे। यदि प्रवेश के साथ ही साथ निष्कासन की क्रिया अनवरुद्ध रूप से चले तो भी प्राण का प्राणत्व सम्पन्न हो सकता है अन्यथा अपान वायु की क्रिया अवरुद्ध हो जाने पर प्राण वायु चाहे जितनी मात्रा में और चाहे जिस किसी भी यन्त्र के द्वारा सुँघाई जाती रहे, उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ऋषियों ने इस शरीर की उपमा 'शकट' से दी है और प्राण-अपान को गाड़ी खींचने वाले दो बैलों[1] के रूप में बताया है।

जिस समय प्राणी निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं उस समय भी प्राणाऽपान की प्रक्रिया चलती रहती है। प्राण, आकाशामृत का शरीर में प्रवेशक माना गया है। वही रक्त को शरीर के विभिन्न भागों में (तिर्यक् रूपसे)ले जाता है,[2] अर्थात् प्राणकर्म की ही सहायता से अशुद्ध रक्त का फुफ्फुसों में शोधन और शुद्ध रक्त का हृदय में प्रवेश, इसके बाद हृदय से शुद्ध रक्त को शरीर के अंग-प्रत्यङ्गों में पहुँचाने की क्रिया सम्पादित होती है। यह सम्पूर्ण कार्य प्राणी की सुप्तावस्था में भी अजस्ररूप से चलता रहता है। अतः इस मन्त्र में सिद्ध किया गया है कि यद्यपि स्थावर-जङ्गम जीव तो सो सकते हैं किन्तु उनका प्राणकर्म एक क्षण के लिये भी निरुद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये प्राणकर्म के स्वाप को किसी ने भी नहीं सुना है।

अपान को प्राण का एक ही अङ्ग (पाद) बताया गया है। इसलिये जब प्राण वायु के ग्रहण कर लिये जाने पर अवशिष्ट वायु को बहिःश्वसन के द्वारा बाहर निकाला जाता है तो उस समय प्राण ही अपने एक अंश से अपान के रूप में परिणत हो जाता है। यदि अपान का परित्याग किसी प्रकार से हो जावे तो जीव बच ही नहीं सकता। तन्त्र शास्त्र में प्राण वायु को सोमात्मक और अमृतस्वरूप माना गया है। इसी के लिये 'हंसः'[3] शब्द वेदों में आया है। 'स' शब्द सोम या अमृत का वाचक और 'हं' शब्द अहंकार या अपान कर्म का वाचक माना जाता है। दोनों के मिलने पर जो "हंसः" की ध्वनि निकलती है वह श्वासोच्छ्वास का सूचक है।

---

१. प्राणाऽपानौ व्रीहियवानड्वान् प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥ अ० ११।६।१३
(र० यो० सा० उ० पृ० ६०)

२. ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥ अ० ११।६।२५

३. एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन। अ० ११।६।२१

प्राण की अन्य रूपों में भी कई मन्त्रों से स्तुति की गयी है। प्रथम मन्त्र[1] में बताया गया है कि यह समस्त स्थावर, जङ्गम जीवलोक प्राण के ही वश में है। भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ प्राणमय है अत एव वही ईश्वर है।

अनुकूल परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले हर्ष और प्रतिकूल दशा में होने वाले रोदन का मूल प्राण है अर्थात् प्राण ही इन क्रियाओं को सम्पन्न कराता है। जिस प्रकार वायुमण्डल में उत्पन्न होने वाली विद्युत् और बर्षा के तुम जनक हो उसी प्रकार हमारे शरीर में चेष्टा एवं संज्ञा प्रदान करने वाला तन्त्र तथा पाचन, शोषण एवं पोषण तुम्हारे ही द्वारा होता है। अर्थात् तुम्हीं बात, पित्त, कफ की क्रियाओं का नियन्त्रण करते हो।

प्राण और अपान को क्रमशः अग्निसोमात्मक भी बताया गया है। इसलिये गृहीत आहार और औषध का पाचन, प्रचूषण तथा सात्म्यीकरण भी इन्हीं के द्वारा कराया जाता है। जिस प्रकार कोई पिता अपने पुत्र का पालन करता है, उसी प्रकार प्राण हमारे शरीर का पालन करता है।

वायु-मण्डल में चलने वाले प्राग्वात और पश्चिम वात का जिस प्रकार पता नहीं है कि कहां से उत्पन्न हुए और कहां तक चलते गये, उसी प्रकार इस शरीर में प्राण और अपान के आदि अन्त का कुछ भी पता नहीं चलता[2] है। नासादि स्थूल स्रोत को 'सिन्धु' कहते हैं क्योंकि उनसे 'स्यन्दन' कर्म की

१. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ अ० ११।६।१
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ अ० ११।६।२
नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥ अ.११।६।५
या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ अ० ११।६।९

२. द्वाविमौ वातौ वात आसिंधोरापरावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद् रपः ॥ अ. ४।१३।२
परान्यो वातु यद्रपः ऋ० १०।१३७।२
इमौ द्वौ वातौ प्राग्वातः पश्चिमवातश्च पश्चाद् वातं प्रति मीवति पुरोवतमेव जनयति" तै० सं० २।४।९।१ इति।

अथ च इमौ प्राणाऽपानौ द्वौ वातौ, 'स्यन्दत इति सिन्धुः' इति व्युत्पत्त्या नासिकादिस्थूलस्रोतांस्यारभ्य आपरावतः = सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतःपर्यन्तं सिराधमनिरसायनोस्वेदायनमलायनेषु वातः गच्छतः। तयोर्मध्ये एकः प्राणाख्यः, दक्षं = बलं भवति, निरुक्ते फुफ्फुसादिस्थरक्ते बलसंज्ञा कृता 'बलं कस्माद् बलं, भरं भवति विभर्त्तेः'(नि.अ.३,ख.९)

प्रवृत्ति होती है। नासा से प्रविष्ट होकर शरीर के सूक्ष्म परमाणुओं में किस प्रकार पहुँचे इसको स्पष्ट रूप से कोई भी नहीं जानता। सिरा, धमनी, रसायनी, स्रोतायन, मलायन आदि अनेक मार्गों से इसका प्रवेश होता है। इन दोनों प्राणाऽपानों में से प्राणवायु को दक्ष कहा गया है। दक्ष का अर्थ बल होता है, जो फुफ्फुस द्वारा विशुद्धीकृत रक्त का अभिव्यञ्जक है। अत एव यह प्रार्थना की गयी है कि हमारे जिस बल का व्यय किया जा चुका है वह पुनः पूर्ववत् स्थापित हो जावे।

प्राण के अतिरिक्त दूसरा जो अपान वायु है उसमें उपस्थित दूषण (रपः का) भी श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया के द्वारा नाश हो जाये अर्थात् रक्त पुनः शुद्ध हो जावे यह मन्त्र के अन्तिम चरण का भावार्थ है।

अन्यत्र[1] इस बात का उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार प्राण संहत अवयवों का पोषण करता है उसी प्रकार अपान द्रव धातुओं का पोषक होता है। ये धातु स्थूल (मूर्त) हृदयादि अवयवों से आरम्भ होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतसों तक आते जाते रहते हैं। मनुष्य को दीर्घायु बनाने के लिये आवश्यक है कि रक्तप्रधान द्रवधातुओं का शोधन एवं पोषण सर्वदा अव्याहत रूप से होता रहे।

एक अन्य मन्त्र में[2] ऐसा कहा गया है कि रक्तधातु उरस् से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में फैलता है और उन अवयवों को दृढ़ बनाता है जिससे मनुष्य जब तक जीता रहे, अपने शरीर से काम लेता रहे। यद्यपि इन मन्त्रों के निर्माण में जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं (जैसे देव, भुवन आदि) उनको देखने से आध्यात्मिकता का अधिक बोध होता है किन्तु उनका प्राकरणिक अर्थ देखने पर स्पष्ट रूप से विदित होता है कि इन मन्त्रों का आधिभौतिक स्वरूप श्वासोच्छ्वासप्रक्रिया को व्यक्त कर रहा है। वर्तमान समय के कुछ वैदिक मनीषियों का मत है कि वेद के प्रत्येक मन्त्र के आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक ये तीन अर्थ किये जा सकते हैं और उनका इस प्रकार का तीन अर्थ अवश्यमेव किया जाना चाहिये अन्यथा उनमें जो

रपः पापं 'रपोरप्रमिति पापनामनी भवतः। शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्।
(नि॰ अ॰ ४ ख॰ २१)

१. यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जारं पिपर्ति तस्य अ॰ १३।३।४

२. सहस्राय्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥ तस्य अ॰ १३।३।१४

निहित तत्त्व हैं उनकी व्याख्या नहीं हो पायेगी। अस्तु, इस प्रकरण में इन मन्त्रों द्वारा यह सिद्ध करने की कोशिश की गयी है कि प्राचीनकाल में वैदिक ऋषियों को श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया का स्पष्टरूप से ज्ञान था।

वैदिक काल में '*शरीर रचना विज्ञान*' भी पर्याप्त रूप में विकसित था। इसका अनुभव हमको विभिन्न मन्त्रों में पाये जाने वाले शरीर के विभिन्न अवयवों के वाचक शब्दों से होता है। यद्यपि इनमें कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनके विषय में आधिकारिक रूप से यह नहीं बताया जा सकता कि वे किस अवयव के वाचक रूप में प्रयुक्त किये गये है, किन्तु अधिकांश शब्दों के अर्थ स्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ[१]—

(१) शिर के लिये शीर्ष और मूर्वा शब्दों का प्रयोग किया गया है। शिर की अस्थियों को कपाल कहा गया है। उनके अन्दर रहने वाले मस्तिष्क को देवकोश और हिरण्यकोश भी कहा गया है।

(२ ललाट और दो भ्रुवों का भी वर्णन मिलता है।

(३) नेत्र के लिये चक्षु, चक्षुणी, अक्षिणी, अम्बक आदि शब्द मिलते हैं। नेत्र पक्ष्मों में से ऊपर वालों को 'पार्येक्षवः' और नीचे वालों को 'अवार्यक्षवः' बताया गया है। श्वेत भाग के लिये 'शुक्रम्', कृष्णमण्डल के लिये 'असितम्' और दृष्टिमात्र के लिये 'कनीनिका या कनीनकम्' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। चक्षु शब्द चक्षुरिन्द्रिय के लिये भी आता है।

(४) कान के लिये कर्णौ, श्रुतिः ये शब्द मिलते हैं और सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय के लिये 'श्रोत्रम्' शब्द दिया गया है।

(५) नाक के लिये नासिके शब्द है।

(६) मुख के लिये आस्य, मुख, हनु, छुबक, श्मश्रु, ओष्ठौ, सृक्का, दन्ताः, दंष्ट्रा, दन्तमूल, तालु, जिह्वा, जिह्वाग्र, जिह्वामूल, अधरकण्ठ आदि का वर्णन है।

(७) मन्या के लिये मन्यः, मन्या, कृकाटकम्, कृकाटिका, उष्णिहा शुष्ककण्ठ आदि शब्द हैं।

(८) कन्धा के लिये स्कन्धौ, अंसौ, कफौडौ, कक्षे, बाहू, हस्तौ, अरत्नी, अंगुलयः नखानि ये ऊर्ध्व, शाखा से सम्बन्धित अवयव हैं।

(९) मध्यशरीरावयव—जत्रवः, कुसिन्धम्, कबन्धम् वक्षः, उरः, प्लाशिः, अनूवृजौ, चम्व्वौ, हृदयम्, हार्दिमम्, पक्षतिः, पर्शवः, पार्श्वौ, क्रोडः, स्तनौ, वर्जह्ये, उदरम्, जठरं, क्लोमः, यकृत्, प्लीहा, पाजस्यं, अन्त्राणि, आन्त्रम्

१. अथर्ववेद का० १०।२

पुरीतत्, वनिष्टुः, हृतीक्ष्णं, पित्तं, कुक्षी, नाभिः, पृष्ठं, अनूकं, अनूक्यं, करूक-राणिः, पृष्ठय, श्रोणी, भासदम् ।

(१०) मलायनानि—गुदा, वुक्कौ, गवीन्यौ, मतस्ने, वस्तिः, धनुः, वस्ति-बिलं, मेहनं, शेपः, कपृत्, रोमशम्, वर्त्म, भसत्, मुष्कौ ।

(११) प्रजनन-संस्थान—सिकतावती, भंसः, कुल्मलं, योनिः, विजामा, लोहितवाससः, गर्भः, कमलं, उल्वः जरायुः ।

(१२) अधःशाखा के अवयव—जघनं, सक्थ्यौ, ऊरू, जाम्बीलौ, वंक्षणाः, जानुनी, अष्ठीवन्तौ, जङ्घे, उच्छ्लङ्खौ, गुल्फौ, पादौ, प्रतिष्ठा, अधस्पदं प्रपदौ, अंगुलयः, नखाः ।

(१३) धातुयें—चर्म, लोमानि, ऊर्जः, लोहितं, असृक्, मांसं, पिशितं, क्रविः, वपा, मेदः, मज्जा, अस्थीनि, खीलाः, देवाः, कीकसाः, पर्वाणि, रेतः, तमः, पाप्मा, लोहितं, रसः, बीजः, ओजः, मायुः, बलासम् ।

(१४) परूंषि, मर्म, सीमन्ताः, स्रावानि ।

हिराः—अवराः, परा, मध्या, कनिष्ठिका, मही ।

धमन्यः—बृहती, ग्रैव्याः, स्कन्ध्याः, खानि, निधिः, तन्तुः, पेशनीः ।

(१५) सूक्ष्म शरीर भाव—धीः, मनः, चित्तानि, वायुः, प्राणः, अपानः उदानः, समानः, व्यानः, वैश्वानरः, विश्वम्भरः ।

(१६) इन्द्रियणि—चक्षुः, श्रोत्र वाक् ।

वैदिक काल में *शल्य शास्त्र* (sergery) का ज्ञान भी उच्चकोटि का था, ऐसा कुछ मन्त्रों के अध्ययन से प्रतीत होता है । यदि अश्मरी के कारण

१. वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं विगवीनिके ।
विमातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाऽव जरायु पद्यताम् । अ० १।११।५

(क) वि ते भिनद्मि मेहनम्—एतावता वाक्येन तव मूत्रमार्गं विभिद्य तत्र तिष्ठन्तीमश्मरीं बहिर्निष्कासयामीत्याशयित सूच्यते ।

(ख) वियोनिम्—हे गर्भग्रहणयोग्ये, तवाऽतिसङ्कुचिता या योनिस्तां शस्त्रयन्त्रादिभिर्भिनद्मि विकसितां करोमीत्यर्थः ।

(ग) विगवीनिके—भिनद्मीति पूर्वेण सम्बन्धः यद्यश्मरी वृक्कयोर्गवीनिकयोर्वा ज्ञायेत तदा तत्रैव तन्निराकरणाय शस्त्रादिक्रिया विधेया ।

(घ) 'विमातरं' भिनद्मि विशेषाऽवस्थायां यदा तत्कालमेव मातुर्मृतिर्भवति, गर्भाशय स्पन्दादिना तत्स्थोऽर्भको जीवतीत्यनुमीयेत तदाऽचिरादेवोदरं पाटयित्वा स बहिर्निष्कास्यः सुश्रुतेनाप्युक्तं—बस्तमारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि ।

तत्क्षणाज्जन्मकाले तं पाटयित्वोद्धरेद् भिषक् ॥ नि० ८ अ० १४

(ङ) विपुत्रं—च भिनद्मि-यदा गर्भो विपन्नो माता च जीवति, मृतो गर्भश्च केनाप्युपायेन न बहिरायति तदा गर्भमुत्कृत्य बहिरानयेत् कुशलो भिषक्, यथोक्तं मूढगर्भचिकित्सते सुश्रुतादौ ।

मूत्र का अवरोध होता था तो लोग शस्त्रकर्म के द्वारा उसे बाहर निकाल लेते थे। यदि योनि के संकुचित होने के कारण कोई स्त्री गर्भग्रहण करने में असमर्थ होती थी तो उसके योनिपथ को विकसित कर दिया जाता था। इस प्रकार के शस्त्रकर्म को आजकल 'डाइलेटेशन एण्ड क्यूरेटिंग' कहते हैं। इसी प्रकार यदि किसी स्त्री को गुल्म हो जाय तो उस अवस्था के शस्त्रकर्म का भी विधान बताया गया है। मूढ़गर्भ की अवस्थाओं में जब कि आसन्न प्रसवा का जीवन बड़े खतरे में रहता है तो माता के उदरका उत्पाटन करके, अथवा गर्भस्थ शिशु के अवयवों को काटकर स्त्री की प्राणरक्षा की जाती रही है। किन्तु इन सब क्रियायों को किस भांति पूर्ण किया जाता था इसका वर्णन विस्तृत रूप में कहीं देखने को नहीं मिलता, जैसा कि आज कल के ग्रन्थों में अध्याय के अध्याय इनमें से एक-एक शस्त्रकर्म के ऊपर पायेजाते हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार खेल[1] नामक राजा की पत्नी विस्पला की जांघ युद्ध में कट गयी थी जिसको अश्विनीकुमारों ने एक लोहमयी जङ्घा से बदल दिया अर्थात् उस काल में आजकल के समान ही अयोनिर्मित अवयवों को लगाने की परम्परा प्रचलित थी।

ऋज्राश्व[2] की दृष्टि उनके पिता के शाप के कारण नष्ट हो गयी थी।

(च) विकुमारं-जरायुणा भिनद्मि, यदा केनापि कारणन गर्भो न बहिरेति, तदा किं विधेयम् ? एतद् दर्शयति। अस्यार्थः जरायोः कुमारं विश्लेषयामीति।

(छ) जरायु अवपद्यताम्—प्रसवादनन्तरम् उल्वपाते यदा विलम्बः स्यात्तदा बहिरानयनायोपायं कर्तव्यमित्यनेन सूचयति।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संस्रुतम्।
एवाते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ अथर्व० का० १।३।६

१. चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विष्पलायै धनेहि ते सर्तवे प्रत्यधत्तम् ॥ ऋक्० १।११६।१५

आजा = आजौ सङ्ग्रामे अगस्त्यपुरोहितस्य खेलस्य सम्बन्धिन्या विष्पलाख्यायाः, चरित्रम् = चरणम्, वेरिव=वेः पक्षिणः, पर्णम् पतत्रमिव, आच्छेदि हि = पुरा छिन्नमभूत् खलु, हे अश्विनौ ! युवाम् अगस्त्येन स्तुतौ सन्तौ, परितक्म्यायां=परितक्म्या रात्रिः 'परित एनाम् तकतीति' यास्कः, एतामुभयतः सूर्यो गच्छतीति तस्यार्थः रात्रावागत्य सद्यः=तदानीमेव, हि ते शत्रुषु निहिते, धने जेतव्ये विषयभूते सति, सर्तवे= सर्तुं गन्तुम्, आयसीम् अयोमयीं, जङ्घां = जङ्घोपलक्षितं पादं प्रत्यधत्तं सन्धानमेकीकरणं कृतवन्तावित्यर्थः।

२. शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वम् तं पितान्धं चकार।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तम् दस्रा भिषजावनर्वन् ॥ ऋक् १।११६।१६

अश्विनीकुमारों ने उनके नेत्र को भी (शस्त्रकर्म द्वारा) ठीक कर दिया जिसके पश्चात् वे सम्पूर्ण दृश्यों को देखने में समर्थ हो गये। इसी प्रकार परावृज[1] नामक ऋषि पंगु हो गये थे, उनकी भी चिकित्सा करके उन्हे चलने फिरने में समर्थ बनाया गया। च्यवन नामक[2] ऋषि वली-पलित युक्त थे, रसायन प्रयोग से उनको पुनः युवा किया गया। इसी प्रयोग को च्यवनप्राश के नाम से आयुर्वेदीय ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है।

वातव्याधि या अन्य किसी कारण से जब वाणी की शक्ति कुण्ठित हो जाती है तो उसकी चिकित्सा का भी विधान मिलता है। शरीर के भीतर वायु को[3] औषधि और उसके रस का वाहक माना गया है।

य ऋज्राश्वः, शतं शतसङ्ख्याकान् मेषान् वृक्ये आत्मना पोषितायै वृकस्त्रियै प्रादात्, तं चक्षदानं = चक्षदतिः अत्तिकर्मा अत्र शकलीकरणार्थः शकलीकृत्य दत्तवन्तं ऋज्राश्व पिता शापेन अन्धं दृष्टिहीनं चकार कृतवान्। हे नासत्या = सत्यस्वभावौ सत्यस्य नेतारौ वा भिषजौ देवानां वैद्यभूतौ, दस्रा = दर्शनीयौ एतत् संज्ञौ वा, अनर्वन् = अनर्वणी द्रष्टव्यं प्रति पितृशापात् गमनरहिते, अक्षी चक्षुषी, विचक्षे=विविधं द्रष्टुं समर्थं, तस्मै ऋज्राश्वाय आधत्तं व्यधत्तम् अकुरुतम्।

१. याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः।
याभिर्वर्तिकां ग्रसतामुञ्चतं ताभिरूषु ऊतिभिरश्विनागतम्।। ऋक्।। १।११२।८

हे वृषणा=कामानां वर्षितारौ अश्विनौ, याभिः शचीभिः कर्मभिः प्रज्ञाभिर्वा परावृजम् एतन्नामकं ऋषिं पङ्गुसन्तमपङ्गुमकुरुतम् तथा अन्धं दृष्टिरहितं सन्तम् ऋज्राश्वम् ऋषिम्. एतवे गन्तु प्रकृथः प्रकर्षेण कृतवन्तौ, अपि च याभिरूतिभिः वर्तिका चटकसदृशस्य पक्षिणः स्त्रियं, ग्रसताम् = वृकेण ग्रस्ताम्, अमुञ्चतं वृकास्याम् निर्मुक्तामकुरुतम्, ताभिः सर्वाभिरूतिभिः अस्यामप्यागच्छ।

२. जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवनात्।
प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रादित्पतिमकृणुतं कनीनाम्।। ऋ॰ १।११६।१०

हे नासत्यावश्विनौ, जुजुरुषो जीर्णात् च्यवनात् च्यवनाख्यऋषे सकाशात् कृत्स्नं शरीरम् आवृत्यावस्थितां जरां प्रामुञ्चतं = प्रकर्षेणामोचयतम्। तत्र दृष्टान्तः द्रापिमिव द्रापिरिति कवचस्याख्या, यथा कश्चित् कवचं कृत्स्नंशरीरव्यापकं धृत्वा पश्चात् शरीरात् पृथक्करोति तद्वत्। उत अपि च, हे दस्रा एतत् संज्ञौ दर्शनीयौ वा अश्विनौ जहितस्य पुत्रादिभिः परित्यक्तस्य ऋषेः, आयुः जीवनं, प्रातिरतम् =प्रावर्धयत्तम्। आदित् अनन्तरमेव युवानं सन्तं कनीनां कन्यानां पतिं भर्तारम् अकृणुतम् अकुरुतम्।

३ आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे।। ऋक् १०।१३७।३

हे वात ! भेषजं सुखं व्याध्युपशमनमौषधं वा आवाहि=आगमय। हे वात यद् रपः अस्मदीयम् पापम् तद् विवाहि विगमय, अस्मतो विश्लेषय। त्वं हि खलु देवानां दूतः विश्वभेषजः विश्वानि भेषजानि यस्मिन् तादृशः सन् ईयसे सततं गच्छसि।

च्यवन ऋषि का *रसायन कल्प* तो सर्वविदित है किन्तु ऋग्वेद में दो ऐसे ही और उद्धरण मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि कलि नाम के ऋषि और घोषा नाम की ऋषि-पत्नी को भी अश्विनीकुमारों ने जरामुक्त[1] किया था।

इसी प्रकार स्त्रीरोग के सम्बन्ध में[2] भी अनेक व्याधियों के और उनसे मुक्ति दिलाने का वर्णन मिलता है। अमीवा नामक कृमि गर्भाशय में रहकर

---

१. अमाजुरश्चिद् भवथो युव भगो नाशोश्चिदवितारापमस्यचित्।
अन्धस्य चिन्नासत्याकृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजारुतस्यचित्।

ऋक्० मं० १०/३९/३

हे नासत्या युव अमाजुरश्चित् पितृगृहे जूर्यन्त्या अपि दुर्भगायाः घोषायाः, भगो भवथः शोभनरूपेणात्मनं परिणमय्य पतिं दत्तवन्तौ स्थः। अनाशोश्चित् अनशनस्यापि अवितारा रक्षितारौ युवांभवथः अपमस्यचित् जात्यादिनिकृष्टस्यापि रक्षितारौ भवथः, अन्धस्यचित् = चक्षुर्विकलस्यापि रक्षितारौ युवां भवथः, कृशस्यचित् दुर्बलस्यापि रक्षितारौ भवथः, किं च युवोमित् युवामेव ऋतस्यचित् यज्ञस्यापि भिषजा भिषजौ वैद्यावाहुर्विद्वांसः।

युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः।
युवं वन्दनमृष्यदादुदवथुर्युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः॥ ऋक् १०।३९।८

हे अश्विनौ युवं=युवां, विप्रस्य=मेधाविनः, जरणामुपेयुषः जरामुपगतवतः, कलेः कलिनामधेयस्य ऋषेः वयः पुनरपि युवत् युवत्वयुक्तम् अकृणुतम् अकुरुतम्। किंच युवं युवा वंदनं = जायावियोगसन्तापेन कूपे पतितं वन्दनाख्यं ऋषिं मृष्यदात् = कूपादुदवथुः उदैरयतम्।

२. ब्रह्मणाऽग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥ ऋ. १०।१६२।१

ब्रह्मणा मन्त्रेण सह सविदानः ऐकमत्यं प्राप्तो रक्षोहा=रक्षसां हन्ता अग्निः इतः अस्मात् स्थानात् राक्षसादिकं बाधतां हिनस्तु। यो राक्षसः अमीवा रोगरूपः सन् ते तव गर्भमाशये आशेते। दुर्णामा अर्शाख्यो रोगः तद्रूपः सन् यश्च ते तव योनिं रेतस आधानं गर्भस्थानं आशेते तं बाधतामित्यन्वयः।

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥ ऋक् १०।१६२।२

तं क्रव्यादं मांसाशिनं राक्षादिकं ब्रह्मणा सहितोऽग्निः निःशेषेण अनीनशत् नाशयतु।

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ ऋक् १०।१६२।३

गर्भ का पातन कराता है, कुछ अन्य क्रिमियों का भी गर्भपात क्रिया कराने का उल्लेख है, किन्तु इनका नाम नहीं दिया गया है। केवल राक्षस शब्द से संबोधन किया गया है। कुछ ऐसे क्रिमियों का वर्णन मिलता है जो शुक्र के गर्भजनन में समर्थ होते हुए भी योनि में निषिक्त होने पर उसे अकार्यकर बना देते हैं।

आजकल के विद्वानों की यह धारणा है कि फिरङ्ग[1] रोग का वर्णन भावमिश्र के भावप्रकाश में ही सर्वप्रथम मिलता है, उससे पूर्व इस रोग का प्रचलन भारतवर्ष में नहीं था किन्तु अथर्ववेद के वर्णन से ऐसा ध्वनित होता है कि यह रोग इस देश में सुदीर्घ काल से कृतमूल है। इसे वैदिक काल में 'जायान्य' कहते थे।क्योंकि पुंश्चली स्त्रियों के माध्यम से दुष्कर्मरत पुरुषों को यह रोग संक्रमित होता रहता था। इसके दो प्रकार होते थे—बाह्य और आभ्यन्तर, जिन्हें वैदिक भाषा में 'अक्षित' और 'सुक्षत' कहा गया है। बाह्य प्रकार में स्थानिक शोथ, कोथ, पिडकाओं

हे योषित् ते तव गर्भाशये पतयन्तं=पतन्तं रेतोरूपेण गच्छन्तं तदनन्तरं तत्र तिषत्स्नुं निषीदन्तं च गर्भं यो राक्षसादिर्हन्ति हिनस्ति, ततो मासद्व्यादूर्ध्वं प्राप्तसर्वावयवं सरीसृपं=सर्पणशीलञ्च गर्भं यो हन्ति, जातं दशसु मासेषूत्पन्नं ते तव शिशुं यो राक्षसादिर्जिघांसति हन्तुमिच्छति, तामतः स्थानान्नाशयामसि=नाशयामः।

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये।
योनिं यो अन्तरारेह्ळि तमितो नाशयामसि॥ ऋक्

हे योषित् ते तव ऊरू पादमूलौ यो राक्षसादिर्विहरति गर्भघाताय विश्लिष्टौ करोति, दम्पती अन्तरा जायापत्योर्मध्ये गर्भहननार्थं यश्च शये शेते, यश्च योनिमन्तःप्रविश्य आरेह्ळि निषिक्तं रेतो जिह्वया आस्वादयति भक्षयतीत्यर्थः, तं सर्वमितो नाशयामः।

१. पक्षी जायान्यः पतति स आविशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च॥ अथर्व० का० ७।५०।४

जायाभिरर्थवशात् पुंश्चलीस्त्रीभिर्योन्यः आनेतुं योग्यो रोगो जायान्यः उपदंशाख्यो रोगः, स हि प्रायेण दुष्टस्त्रीसंसर्गात् संक्रामति। तस्य रोगस्य द्वौ प्रकारौ भवतः—एको बाह्यो द्वितीयश्चाभ्यन्तरः। तत्राद्यः शोथकोथपिडकादिभिर्घाटालः परं सिद्धौषधैरुपक्रान्तः शीघ्रप्रशान्तिशीलः। द्वितीयस्तु कस्यचिदुपस्थमुखान्तश्चर्मणि सर्वप्रकारा वेदनारहिता अल्पसङ्ख्याकपिडिका भूत्वा ज्ञाताऽज्ञातास्सन्त्यो नश्यन्ति। परमयं कालविपाकेन बद्धमूलो भूत्वा आखुविषमिव नानारूपाणि दर्शयन् दुरुपक्रमः सम्पद्यते अयं द्वितीयः पक्षः इति कृत्वा पक्षी द्विप्रकारः सन् पतत्यागच्छति। स च पूरुषम् आ समन्तात् सप्तधातुपर्यन्तं विशति तत्प्रवेशेन च अक्षितस्य गवाक्षवत् छिद्रसहस्रैर्व्याप्तोपस्थस्याथ च सुक्षतस्य प्रथमत एव क्षतयुक्तस्य अर्थाद् बाह्योपदंशस्य एवं कृत्वोभयोरुपदंशयोः कृते, पक्षी पक्षीव पक्षी अग्नावुड्डयनशीलः तालक-मनःशिला-मल्ल-बलि-तुत्थक-नरसार-दरद-पारद-विषकर्पूर-भाण्डकर्पूरात्मको गणो भेषजमस्ति। तत्रापि रसेन्द्रो विशेषेण भेषजमस्ति। वेदेऽक्षितः सुक्षतश्चेति प्रकारपरत्वेन द्वैविध्यमस्य रोगस्य दर्शितम्।

की उत्पत्ति होती है। आभ्यन्तर प्रकार पहले तो अणु होता है किन्तु आगे चलकर मूषिक विष के समान भयङ्कर रूप से प्रकुपित होता और अनेक प्रकार के लक्षणों की उत्पत्ति करता है। इसकी चिकित्सा के लिये पारद के योगों का वर्णन भी किया गया है।

वैदिक युग में चार प्रकार[1] की चिकित्सा प्रचलित थी—

(१) आथर्वण चिकित्सा—इसमें मणि, मन्त्रादिक का प्रयोग विशेष रूप से होता था। यह मानसिक चिकित्साप्रणाली भी कही जा सकती है, जिसे अंगरेजी भाषा में 'साइकोथेरेपी' कहते हैं।

(२) आंगिरसी चिकित्सा—इस पद्धति के चिकित्सक रोग से मुक्ति दिलाने के लिये विविध वनस्पतियों और पशु-पक्षियों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के रसों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करते थे। आधुनिक काल की एलोपैथिक चिकित्सा का तालमेल इससे कुछ-कुछ अंशों में बैठता है। यहां पर रस शब्द कार्यशील तत्वों का द्योतक है।

(३) दैवी चिकित्सा—इस प्रकार की चिकित्सा में सूर्य की, रश्मियों, जल, मिट्टी तथा अन्य प्राकृतिक विभूतियों का प्रयोग किया जाता है। इसका आधुनिक रूप नेचुरोपैथी है।

(४) औषध चिकित्सा—इस प्रणाली से सम्बद्ध रोगों और औषधियों की काफी विस्तृत सूची वैदिक ग्रन्थों में मिलती है। रोगों के उत्पादक कारण के रूप में उस समय क्रिमियों को ही लिया जाता था और उनके नाम, स्वरूप आदि का पर्याप्त वर्णन देखने को आज भी उपलब्ध होता है। यद्यपि उनके नाम रूप को आज के युग में पहचान सकना कठिन है किन्तु जिस प्रकार आज उपसर्ग को व्याधि के उत्पादन का एक विशिष्ट हेतु मानते हैं और प्रत्येक उपसर्ग में किसी न किसी क्रिमि का हाथ होता है ऐसा विश्वास किया जाता है। वैसे ही क्रिमियों के नाम रूप वैविध्य को वेदों में पढ़ने पर ऐसा अनुमान होता है कि उस समय भी रोगोत्पत्ति के लिए क्रिमियों को ही मूल कारण माना जाता था। जब रोगसंख्या के साथ क्रिमियों की संख्या बढ़ने लगी और उससे चिकित्सक को कारण-कार्य सम्बन्ध जुटाने में कठिनाई का अनुभव होने लगा तो हारकर वे लोग क्रिमिसिद्धांत को छोड़ कर त्रिदोषसिद्धांत की शरण लिये। जैसे की आधुनिक उपसर्ग सिद्धांत के जन्मदाता पाश्चर[2] का भी अन्तिम अवस्था में मत परिवर्तन

---

१. आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
औषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥ अ० ११।४।१६

२. *Le germ nes the seed is nothing*

हुआ और उन्होंने घोषित किया कि 'उपसर्ग अकिंचित् कर होता है, शरीर पर ही व्याधि के उत्पन्न होने और अच्छे होने का सारा दारमदार आता है।'

अग्नि[1] इन्द्र, सूर्य जल और वायु को क्रिमियों का नाशक माना जाता था। क्रिमियों से उत्पन्न व्याधियों को अमीवा[2] नाम दिया जाता है और व्याधिविशेष के साथ क्रिमिविशेष का सम्बन्ध बताया जाता है। कुछ क्रिमि ऐसे भी बताये गये हैं। जो आरम्भ में रोगजनक नहीं होते किन्तु अवसर पाकर रोगोत्पति[3] करते हैं। नव्य चिकित्सा विज्ञान भी इस सिद्धांत को पुष्टि करता है कि कोई क्रिमि जैसे गले में रहने वाले मालागोलाणु या दण्डाणु, शरीर में सर्वदा वर्तमान रहते हैं किंतु रोगोत्पति तभी करते हैं जब कि अभिघात आदि के कारण शरीर की रोगप्रतिबन्धनक्षमता कम हो जाती है।

क्रिमियों की उत्पत्ति[4]—इस सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है, वह

---

१. ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥ ऋ. १०।१६२।१
उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥अ.।१।२८।१
इन्द्रा सोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमो वृधः।
परा श्रृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां निशि शीतमत्रिणः ॥ ऋ. ७।१०४।१
उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्व दृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान् सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वांश्च यातुधान्यः ॥ ऋ. १।१९१।८
ये सूर्यं न तितिक्षन्ति आतपन्तममुं दिवः।
आरायान बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि ॥अ.८।६।१२
उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ अ. २।३२।१
आपो वै रक्षोघ्नीः। तैत्तीरीयसं० ३।२।३।१२
वितिष्ठध्वं मरुतो विक्षिवच्छत गृभयात रक्षसः स पिनष्टन।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ अ. ८।४।१८
२. यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥ ऋ. १०।१६२।२
३. यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ ऋ. १०।१६२।५
४. हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हत भ्राता हत स्वसा ॥ ४ ॥
हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥ अ. २।३२।४–५

लाक्षणिक है। इसका अभिप्राय है इनकी उत्पत्ति उसी तरह होती है जिस तरह माता-पिता से मनुष्य की उत्पत्ति होती है। एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् इनकी सामूहिक अभिवृद्धि होती है और जिस क्रिमि ने रोगोत्पत्ति के समय प्रमुख भाग लिया उसे इनका राजा कहा जाता है। रोगमोक्ष के समय जब तक इस *क्रिमि* का नाश न हो जाय तब तक अन्यों के नष्ट होते रहने पर भी रोग का समूल नाश नहीं होता।

शरीर में ये अपना एक प्रधान निवास स्थान (seat of infcetion) बनाते हैं और वहां से बढ़कर अन्य स्थलों पर पहुँचते हैं। जहां-जहाँ पहुंचकर वे रोगोत्पत्ति करते हैं उसको परिवेश (site of secsrdeny in fcction) कहते हैं। वे क्षुल्लक (बीजावस्था) के रूप में भी बदल जाया करते हैं।

क्रिमियों का स्वरूप[1]—ये दो प्रकार के होते हैं, कुछ को देखा जा सकता है और कुछ को नहीं। कुछेक में सींग से प्रवधन होते हैं और जो विष का

---

१. दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गाण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमिन् वचसा जम्भयामसि ॥ अ. २।३१।२
येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपविलुकाः।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ अ. ५।२३।७
प्रते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ अ. २।३२।६
विश्वरूप चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ अ. २।३२।२
सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥
ये क्रिमयः शिति कक्षा ये कृष्णाः शिति बाहवः।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥५॥ अ. ५।२३।४-५
त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥९॥
सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ॥
भिन्द्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥
अक्ष्यौ निविध्य हृदयं निविध्य जिह्वां वितृन्द्धि प्रदतो मृणीहि।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ अ. ५।२९।४
रूद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्ठीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
विरुद् वो विश्वतो वीर्या यमेन समजीगमत् ॥ अ. ६।३२।२
येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा।
खलजाः शक धूमजा उरुण्डा ये च मटमटाः कुम्भमुष्का अयाशवः।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतिबोधेन नाशय ॥ अ. ८।६।१५

स्थान होता है उसे कुसुम्भ (कोष) कहा गया है। अनेक रूपों वाले, चार, नेत्रों वाले, श्वेत या कर्बुर रङ्ग के भी क्रिमि पाये जाते हैं। कभी-कभी दो क्रिमि समान रूप वाले होते हैं और कभी-कभी विरुद्ध स्वरूप वाले एक साथ ही रहते हैं। कभी-कभी दो-दो लाल या कृष्ण वर्ण वाले भी साथ-साथ मिलते हैं। लाल वर्ण वाले की कक्षा नुकीली और कृष्ण वर्ण वाले की बहु तीक्ष्ण होती है।

जो क्रिमि दृष्ट होते हैं उनके नाम येवास, कष्कषास, एजत्क और शिपिविलुक बताया गया है। किसी के तीन शिर होते हैं तो किसी के तीन ककुद होते हैं। इनमें आंख, कान, दन्त, जिह्वा, हृदय आदि अवयव भी विद्यमान होते हैं—ऐसा वर्णन मिलता है। इनमें से कुछ के ग्रीवा और पसलियां भी होती हैं।

उपसर्ग स्थल—कुछ क्रिमियों के पैर पीछे किंतु एड़ी आगे होती है। मुख भी उनके आगे की ओर होता है। इनके द्वारा आंत्र, शिर, फुफ्फुस तथा प्रजनन-संस्थान में रोगोत्पत्ति[१] की जाती है। इसके अतिरिक्त वे नेत्र, नासा, कर्ण, दन्त के आभ्यन्तर भाग, मांस आदि धातुओं में भी व्याधि का उत्पादन[१] करते हैं। उपसर्ग के माध्यम[२] चार हैं—

१. भोजन—अपक्व, अर्द्धपक्व या सुपक्व किंतु क्रिम्युपसृष्ट अन्न के खाने से।

---

१ अवान्द्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि॥ अ. २।३१।४
ये आम्नं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ।अ. ८।६।२३

२. यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि॥ अ. ५।२३।१
यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान् पुनराभर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः॥अ.५।२९।५
दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः।
अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम्॥ अ. ८।६।४
य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रतः।
स्त्रीणां श्रोणि प्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय॥ १३॥
ये पूर्वे वध्वो यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः।
अपाकेष्ठाः प्रहासिनस्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि॥१४॥

३. आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु॥ ६॥

२. क्षीर, तक्र या फलों के द्वारा।
३. दूषित जल पीने से।
४. उपसृष्ट शय्या पर सोने से।
५. दूषित मांस का भक्षण करने से।

क्रिमियों का परिचय[1]–क्रिमियोंके अनेक नाम, रूप आदि का वर्णन विभिन्न ऋचाओं में किया गया है। उनमें से कुछ का परिचय पीछे संक्षेप में दिया जा चुका है। अन्यों को दुर्णामा, अलिंश, वत्सप, पलाल, अनुपलाल, शर्कु, कोक, मलिम्लुच; पलीजक, आश्रेष, वव्रिवास, ऋक्षग्रीव, प्रमीली आदि नाम दिये गये हैं। यह तो एक निर्देश मात्र है। इससे अधिक विवरण के लिये आकर ग्रन्थ ही देखें।

क्रिमिघ्न द्रव्य[2]–सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि आदि भौतिक क्रिमिनाशक द्रव्यों के अतिरिक्त वैदिक आर्य, सर्षप, अपामार्ग, गुग्गुलु, कुष्ठ, शतावरी, पृश्नि-

---

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥७॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥८॥ अ.५।२९

१. दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥ १ ॥
पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम्।
आश्रेषं वव्रिवासमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥
ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् विनाशय ॥ १० ॥
ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥ ११ ॥
उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम्।
उपेशन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम्।
पदा प्रविध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥१७॥ अ. ८।६

२. मासं वृतो मोपसृप उरू माव सृपोन्तरा।
कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥
अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम्।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥ अ. ८।६
अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ अ.४।१८।८
ऐतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ अ. १९।३९।१

पर्णी, अजश्रृङ्गी और सीस धातु का भी क्रिमिघ्न के रूप में व्यवहार करते थे। उनको इस बात का भी ज्ञान था कि किसी फेनिल द्रव्य से वस्तुओं का प्रक्षालन करने पर क्रिमि नष्ट हो जाते हैं। विविध मणियों का धारण करने से भी उपसर्ग का भय नहीं होता।

व्याधि-विज्ञान--

इन क्रिमियों के उपसर्ग के परिणामस्वरूप जिन व्याधियों की उत्पत्ति होती है उसमें ज्वर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके अनेक नामों का उल्लेख मिलता है, वे नाम स्वरूप के भी बोधक हैं। 'तक्मा' इसके लिये उसी प्रकार सर्वसाधारण रूप से व्यवहृत है जिस प्रकार 'यक्ष्मा' या 'अमीवा' रोगों के पर्याय के रूप में आता है।

वेदों में भी इसे आमाशय[1] समुत्थ ही बताया गया है। ज्वर होने पर रोगी का शरीर जलने लगता है और सन्ताप के बढ़ने पर वह प्रलाप[2] करता है तथा अन्यान्य उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाया करती है। इसमें सैकड़ों उपद्रवों[3] के होने का उल्लेख मिलता है, जिनमें कास, बलास एवं यक्ष्मा प्रधान होते हैं।

ज्वर शीतपूर्वक[4] भी होता है और उष्णतापूर्वक भी इसके अतिरिक्त अन्येद्युष्क, तृतीयक और उभयद्युः (दिन में दो बार होने वाला संततक) ज्वर

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ अ. २।२५।२
त्वया वयमप्सरसो गंधर्वाश्चातयामहे।
अजश्रृङ्गपज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥ अ.४।३७।२
सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति।
सीसं म इन्द्र प्रायच्छत् सदङ्ग यातु चातनम् ॥२॥
इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥३॥ अ. १।१६

१. यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ अ. १।२५।१

२. अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपयाति।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥ अ. ६।२०।१

३. शतं रोपीश्च तक्मनः। अ. ५।३०।१६
तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥ अ.५।२२।१२

४. नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ अ. १।२५।४

का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ प्रादेशिक ज्वरों[1] के भी नाम गिनाये गये हैं जैसे मूजवान्, बह्लिक, गंधार, मगध आदि देशविशेष में होने वाले ज्वर।

ऋतुओं[2] के अनुसार शरद्, शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में होने वाले ज्वरों का भी वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया गया है।

ज्वर की चिकित्सा में प्रयुक्त जिन औषधों[3] का नाम आता है उनमें जङ्गिड कुष्ठ और अञ्जन प्रमुख हैं।

कास[4], बलास और राजयक्ष्मा के साथ ज्वर का घनिष्ट सम्बन्ध बताया गया है। कास को बहुत वेगवान् कहा गया है। मन, बाण और सूर्य के रश्मियों के वेग से इसकी तुलना की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी उत्पत्ति और इसका शमन दोनों ही शीघ्रहोता था।

बलास[5] का अर्थ श्लेष्मा हो जाता है। यह अनेक अवयवों में संश्रित होकर विविध प्रकार के रोगों की उत्पत्ति करता है। अस्थियों, पशुकाओं, हृदय तथा इसी प्रकार के क्लिन्नतायुक्त स्थलों में इसका रोगरूप में सञ्चित होने का वर्णन मिलता है। कक्षा और मुष्क भी इसके स्थल हैं।

---

१. ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बह्लिकेषु न्योचरः ॥ अ. ५।२२।५
गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ अ. ५।२२।१४

२. तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ अ. ५।२२।१३

३. आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम्।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जंगिडस्करत् ॥ अ. १९।३४।१०
यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥ अ. ४।१
त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ अ. ४।९।८

४. यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्रपत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥१॥
यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्। एवा त्वं कासे० ॥ २ ॥
यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्। एवा० ॥३॥ अ. ॥:॥ अ०६।१०५

५. अस्थिस्रंसं परुःस्रंसमास्थितं हृदयामयम्।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ अ. ६।१४।१
यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ।
वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥ अ. ६।१२७।२

तीसरी व्याधि राजयक्ष्मा है। पहले बताया गया है कि यक्ष्मा शब्द रोगसामान्य का वाचक है किंतु राजयक्ष्मा शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कुछ विद्वान् 'जायान्य'[1] शब्द से राजयक्ष्मा का ग्रहण करते हैं तो कुछ फिरङ्ग का। मेरी समझ में फिरङ्ग का ही ग्रहण करना उचित है। राजयक्ष्मा के लिये क्षेत्रिय शब्द का प्रयोग हुआ है ऐसा मन्तव्य कुछ लोगों का है। अन्य लोग क्षेत्रिय से फिरङ्ग का ग्रहण करते हैं। राजयक्ष्मा और क्षेत्रिय[2] ये दोनों रोग परस्पर सम्बद्ध लगते हैं। क्षेत्रिय रोग की चिकित्सा शृङ्ग-भस्म बताई गई है। तथापि साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में कुछ स्पष्ट मत दे सकना सम्भव नहीं है।

अपची जो राजयक्ष्मा का ही एक रूप है और जिसका लसीका ग्रन्थियों से विशेष सम्बन्ध है, वेद में इसे अपचित्[3] कहा गया है। एक साथ अनेक (पचपन से लेकर निन्यानबे तक) अपचियों के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। इनकी स्थिति ग्रीवा और कक्षा में बताई गई है। इनकी चिकित्सा में शस्त्रकर्म का उल्लेख किया गया है।

कुछ ऐसे रोगों का वर्णन मिलता है जिनमें शरीर के प्राकृत वर्ण का विपर्यय हो जाता था। ये रोग हरिमा[4] (कामला) और किलास के नाम से विख्यात हैं। हरिमा की चिकित्सा सूर्य और गाय के दूध से की गई है।

---

१. यः कीकशाः प्रशृणाति तालीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्त सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदिश्रितः। अ. ७।७६।३
यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसल्पकः।
सर्वं ते यक्ष्ममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वाञ्जनम् ॥ अ. १९।४४।२

२. क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावा पृथिवी उभेस्ताम् ॥ अ. २।१०।१
हरिणस्य रघुष्यदोऽधिशीर्षणि भेषजम्।
सक्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत ॥ अ. ३।७।१

३. पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥१॥
सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि। इतस्ताः सर्वा०॥२॥
नव च नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि। इतस्ताः० ॥३॥ अ. ६।२५
त्रिध्याम्यासां प्रथमां त्रिध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्यामासामाच्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ अ. ७।७४।२

४. उद्यन्नद्यमित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ॥ ऋ. १।५०।११
या रोहिणीर्देवत्या गावो या उत रोहिणीः।
रूपं रूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ अ. १।२२।३

किलास[१] के लिये जिन औषधों का प्रयोग किया गया है उनके नाम संदिग्ध हैं किंतु वे सभी रंग को बदलने वाली हैं—ऐसा भावार्थ निकलता है।

इस प्रकार के अन्य भी बहुत से रोगों और औषधों का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में केवल दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है। विशेष विवरण के लिये आकर ग्रन्थों को ही देखना चाहिये। इस सबका तात्पर्य केवल यही है कि प्राचीन काल में भारतीय वैद्यक साहित्य अन्य देशों की अपेक्षा काफी उन्नत था। इसका मतलब यह भी नहीं लगाना चाहिये कि जैसी उन्नति आज के भौतिक युग में है, वैसी ही उस समय रही होगी। काल की दृष्टि से ये दोनों सभ्यतायें विभिन्न समयों में अवस्थित हैं, अत एव इसका परस्पर वैभिन्य भी उतना ही रहेगा।

वैदिक युग का समाज और उस समाज में वैद्य की स्थिति—उस समय का समाज बहुत ही सुसम्बद्ध था। जनसंख्या का विस्तार इतना अधिक नहीं था। लोग सुसंघटित रूप में एक ही स्थान पर रहते थे। प्रत्येक संघ के आवश्यकतानुसार चिकित्सक हुआ करते थे। उनको व्याधि, औषध, चिकित्साशास्त्र, शल्य तन्त्र एवं प्रसूति-कौमारभृत्य के विषयों का पूर्ण ज्ञान था। अपनी विद्या और शिक्षा के आधार पर लोगों को रोगमुक्त करने में वे पूर्णतः समर्थ थे। इसी कारण उनका उच्च स्थान[२] था।

संघटनों के बहुत विशाल न होने के कारण संघ का प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से परिचित था। जिससे उनको प्रकृति-विकृति के लक्षणों का अध्ययन में काफी सफलता मिली थी। वैद्य का आतुर के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध बन जाया करता था, इससे आतुरवैद्य और भिषग्वैद्य लक्षणों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन होता था। औषधियों का प्रभाव भी आसानी से प्रत्यक्ष किया जा सकता था। इसीलिये कोरे शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा क्रियात्मकता[3] पर अधिक बल दिया जाता था।

औषधियों की संख्या भी उतनी अधिक नहीं थी। उनको चिकित्सक आसपास के क्षेत्र में उगाता था अथवा स्वयं जङ्गलों में जाकर पहचान कर

---

१. नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥ अ. १।२३।१

२. प्रथमो दैव्यो भिषक् (यजु. १६।५)

३ यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः॥ अ. २।३।५

ले आता था। इसके फलस्वरूप औषधियाँ[1] उत्तम और पूर्ण रस-गुण-वीर्य वाली उपलब्ध होती थीं। रोग बहुत अधिक न थे। कतिपय रोगों को कतिपय औषधों के सहारे ठीक कर लिया जाता था। रोग से बचने के लिये सद्वृत्तानुष्ठान किया जाता था। इसके लिये ब्रह्मचर्यपालन, यज्ञ, जप, तप का विधान बताया गया है। काम, क्रोधादि का त्याग कर देने से बहुत से मानसिक विकार स्वयं ही नहीं उत्पन्न होते। इसके जो स्वाभाविक रोग हैं, जैसे क्षुत्, पिपासा, जरा आदि, उनसे बचने के लिये रसायन (सोमपान) तथा वाजीकरण आदि का भी प्रयोग किया जाता था।

आहार-विहार बहुत ही संयत था। लोग हितमित भुक् एवं मधुरार्थ वादी थे। अत एव जीवन की जरूरतें भी बहुत अधिक न थीं। वन्य जीवन होने के कारण जङ्गली जानवरों और हिंस्य पशुओं से बचने के लिये विष विद्या का भी काफी प्रचार था। इसी प्रकार समय-समय पर युद्धादि होते रहने से व्रणबन्ध आस्त्रावज्ञान तथा शल्यशास्त्र से सम्बद्ध विषय का भी महत्त्वपूर्ण ढंग से अध्ययन, अध्यापन तथा क्रियात्मक प्रदर्शन किया जाता था।

त्रिदोष-विज्ञान—

अधिकांश लोग इस बात को मानते हैं कि इस समस्त जड़ चेतन सृष्टि का कर्ता, पालक और संहर्ता एक आदि शक्ति है। इसे कुछ लोग परमात्मा कहते हैं तो कोई अन्य नामों से सम्बोधन करता है। किन्तु उद्देश्य सब का एक मात्र उसीका सम्बोधन करना है। सांख्यशास्त्र का सिद्धांत यह है कि परमात्मा स्वयं नहीं करता अपितु उसकी एक दूसरी शक्ति जिसे प्रकृति कहते हैं वही सत्त्व, रज और तम गुणों से युक्त होकर विश्व का जनन, नियमन और संहरण करती रहती है। यदि इसे सही माने में समझा जाय तो प्रकृति एक प्रकार की शक्ति और सत्व-रज–तम उसके गुण हैं। जिस प्रकार भौतिक जगत में विद्युत् एक शक्ति है और प्रकाशोष्मा गति आदि उसके गुण होते हैं। जब सत्त्व, रज और तम समान अवस्था में होते हैं तो उस समय प्रकृति निष्क्रिय होती है और जब इनमें से कोई भी एक गुण बढ़ा या घटा तो सृष्टिक्रम प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसके लिये कोई परमात्मा की इच्छा कारण मानता है तो कोई प्रकृति का स्वभाव ही ऐसा है यह बतलाता है, अन्य लोग परिणामवाद को स्वीकार करते हैं और दूसरे कर्मफल को, परन्तु सष्टि उत्पन्न होती है, पलती है और विनष्ट होती

---

१. यत्रौषधी समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषक् रक्षोहामीव चातनः ॥ ऋ. १०।९७।६

है, इस कार्य के विषय में किसी भी दो व्यक्ति या सम्प्रदाय में मतभेद हो ही नहीं सकता।

अथर्ववेद में सत्त्वरजस्तम को प्रकृति की प्रजा[1] बताया गया है। इसकी दूसरी प्रजा महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रायें बताई गई हैं। इनके अत्यधिक विस्तार होने से स्थावर, जङ्गम सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी अभिप्राय का उल्लेख करते हुए सुश्रुत ने 'सर्वभूतचिन्ता शरीर' नामक प्रथम अध्याय (शारीर स्थान) में बताया है कि अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति हुई और महान् से अहङ्कार की, अहङ्कार वैकारिक-तैजस और भूतादि (सात्विक-राजस-तामस) तीन प्रकार का हुआ। वैकारिक अहङ्कार से तैजस की सहायता से नेत्र-नासा-कर्ण-त्वक्-रसना-जिह्वा-हस्त-पाद-पायु उपस्थ और मन इन ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। इनमें प्रथम पांच ज्ञानेन्द्रिय दूसरी पांच कर्मेन्द्रिय और मन-ज्ञान-कर्मेन्द्रिय (उभयात्मक) है। तैजस की ही सहायता से भूतादि अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राओं को तथा शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र-की उत्पत्ति हुई, जिनसे क्रमशः अकाश वायु, तेज, जल और पृथिवी महाभूत उत्पन्न हुए। इन चौबीसों को तत्त्व कहा जाता है। ये सभी अचेतन हैं।

ज्ञानेन्द्रियों के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और कर्मेन्द्रियों के वचन-आदान-गमन-विसर्ग और आनन्द विषय हैं। अव्यक्त, महान् अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राओं को प्रकृति और शेष सोलह को विकार कहा जाता है। इन प्रत्येक के अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत विषय हैं। उदाहरणार्थ बुद्धि के देवता ब्रह्मा, अहङ्कार के शिव (ईश्वर), मन के चन्द्रमा, कर्ण की दिशायें, त्वचा के वायु, नेत्र के सूर्य, रसना के जल, घ्राण की पृथिवी, वाणी के अग्नि, हाथ के इन्द्र, पैर के विष्णु, पायु के मित्र और उपस्थ के प्रजापति देवता हैं।

इस अचेतन से जब जीव का संयोग होता है तभी उसमें क्रिया शक्ति और ज्ञानशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। जीव को हरित और इन्द्रियों को हरणी संज्ञा

१. तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्यन्या अर्कमभितो विशन्त।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीराविवेश ॥ अ. १०।८।३
यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥
स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः। स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्। अ. १०।८।१-२
सु० सू० २१ अ., सु० सू० ३० अ. एवं सु० शा० २१ अ. २८।२

गई है जीवरहित शरीर क्षेत्र है और अव्यक्त या जीव उसका ज्ञाता या क्षेत्रज्ञ है। महान् को ही बुद्धि भी कहते हैं। पुरुष की उत्पत्ति व्यक्त और अव्यक्त के चक्र के रूप में होती रहती है. इस चक्र का कारण रज और तम का आवेश है। इसलिए सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि से आविष्ट चित्त वाले जीवों का ही उत्पादन और विनाश होता रहता है। जो सत्त्वप्रधान होते हैं उनकी मुक्ति हो जाया करती है। आत्मा चेतनावान् है और मन अचेतन है। मन के माध्यम से वह अपनी क्रियाओं को परिपूर्ण करता है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवशरीर यन्त्र का धारक आत्मा है और संसारचक्र का धारक परमात्मा है।

शरीर का पोषण आहार रस से होता है। अभ्यवहृत आहार पाञ्चभौतिक होता है। जठराग्नि उसका पाक कर के रस और मल में विभाजित करता है। रस धातुओं का पोषण करता है और किट्ट मलों का। मल से वातादि दोषों का भी पोषण होता है। शरीर की धातुओं का अत्यन्त सूक्ष्म विभाग होता रहता है। प्रतिक्षण इनका परिणाम होता रहता है। शरीर धातुओं के इस परिणाम के ही आधार पर शरीर की दशा में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। इन धातुओं के कण-कण में वातादि दोष उसी प्रकार व्याप्त[1] है जैसे तिल में तैल। इसके लिये उदाहरण दिया जा सकता है प्रकृति के गुणों को, जैसे रज-सत्त्व-तम को संसार की उत्पत्ति, स्थिति विनाश का कारण माना जाता है, किन्तु वे वस्तुओं के अतिरिक्त अपनी सत्ता नहीं रखते, वैसे ही वात-पित्त-कफ शरीर की और व्याधियों की उत्पत्ति में कारण होते हुए भी शरीर से अलग उनकी कुछ सत्ता नहीं है। दूसरा और स्थूल उदाहरण लें, घड़ा मिट्टी से बनता है किन्तु दोनों में आपस में अभेद है। हम घड़े को मिट्टी से अलग नहीं कर सकते यदि ऐसा कोई प्रयत्न किया जाय तो उसका विनाश ही निश्चित है। यही दशा वातादि से संबद्ध शरीर की है। जैसे घड़े और मिट्टी में केवल आकार का ही वैषम्य है। वास्तव में जो मिट्टी घड़े को बनाने के लिए ली गई वही मिट्टी अन्यत्र भी है। वैसे ही इस शरीर के आरम्भक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं के साथ वातादि का अङ्गाङ्गिभाव संबन्ध है। शरीर के अवयवों स् अलग करके हम उनको नहीं देख सकते। जो स्थिति दोषों की है वही रक्त की भी है, किन्तु रक्त उनकी अपेक्षा अधिक स्थूल है। जैसे आधुनिक यन्त्रों की सहायता से शरीर के रक्त को एकदम निकाल दें तो फिर शरीर नष्ट हो जायगा, वैसे तो दोषों को भी एकदम निकाला नहीं जा सकता।

---

१. स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वकुलाये तं न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि सः। श० ब्रा० १४।४।२।१६

तीनों दोषों का सम्बन्ध पञ्चमहाभूतों से है। क्योंकि आहार और औषध दोनों ही पाञ्चभौतिक हैं। आहार स्वस्थावस्था में रस के माध्यम से शरीर का पोषण करता है तो औषध आतुरावस्था में दोषों का शमन करता है। पांचों भूतों में से आकाश सत्त्वगुण प्रधान, वायु रजोगुण प्रधान, अग्नि सत्त्व-रजोगुण बहुल, जल सत्त्वतमोगुण बहुल और पृथ्वी तमोगुण प्रधान है। सृष्टि के मूलकारण त्रिविध हैं, अत एव इन भूतों को आयुर्वेदशास्त्र ने त्रित्व की कोटि में स्थापित किया है। जल और पृथ्वी के तमोगुण बहुल होने के कारण उससे श्लेष्मा की उत्पत्ति हुई। यह संधियों का श्लेषण, स्नेहन रोपण पूरण, बलदान और स्थैर्य प्रदान करता है। मधुर, पिच्छिल और प्रक्लेदि होने के कारण आमाशय में इसकी उत्पत्ति होती है और वहीं से यह अपने गुणों से अन्य श्लेष्म स्थानों और शरीर का पोषण करता है। उदाहरणार्थ—उरःस्थित श्लेष्मा अपने गुणों तथा अन्नरस के सहयोग से हृदय का अवलम्बन करता है. जिह्वामूल और कण्ठ में स्थित होकर सौम्यगुण के प्रभाव से रसज्ञान कराता है, शिर में अवस्थित होकर स्नेह और सन्तर्पण का ग्रहण करता है, इन्द्रियों को अनुप्राणित करता है। जो द्रव्य हम खाते-पीते हैं उनका परिपाक होता है जिससे वे सूक्ष्म कणों के रूप में परिणत हो जाते हैं। उनमें जो स्नेह, सौम्यता और क्लेद का अंश होता है उसी से श्लेष्मा का और श्लेष्मप्रधान अन्य धातुओं का पोषण होता रहता है।

पित्त, सत्त्व, रजोबहुल होता है। इसकी उत्पत्ति जल और अग्नि (तेज) के संयोग से होती है। शरीर में आहारपाक और धातुपरिणाम की समस्त क्रियायें इसी के द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। इसी लिये शरीर के अन्दर यही अग्नि का आधार है। शरीर के अवयवों में श्लेष्मा का प्राधान्य होता है और पित्त आमाशय, ग्रहणी, क्लोम के रस तथा विविध ग्रन्थियों के स्राव के रूप में उपलब्ध होता है। कटु, अम्ल और लवण रसप्रधान द्रव्यों से इसका पोषण होता है। आहार में इन आग्नेय रसों की सहायता से अभ्यवहृत पदार्थों के स्थूलांश को पृथक् किया जाता है और शरीरोष्मा की सहायता से उन जड़ परमाणुओं में सजीवता लाई जाती है। यह शरीर के राग (वर्ण), तेज, ओज, ऊष्मा और पाचनक्रिया का सम्पादन कराने वाला है। यों तो शरीर में इसका भी स्थान है किन्तु पक्वाशय और आमाशय के बीच में अवस्थित होकर यह चतुर्विध अन्न का परिपाक करता है और अन्य पित्तस्थानों तथा कर्मों का पोषण करता है। उदाहरणार्थ—यकृत् प्लीहा में स्थित होकर रक्त की उत्पत्ति और जीर्ण-शीर्ण हो गये रक्तकणों के नाश में मदद करता है। नेत्र में अवस्थित होकर दृष्टिशक्ति को बल देता

है। त्वचा में अवस्थित होकर अभ्यंग प्रलेप, अवगाह आदि औषधद्रव्यों का पाचन कर के शरीर के लिए उनका ग्रहण करता है। कान्ति का प्रकाशित करता है। तीक्ष्ण, उष्ण और कटु रस वाले आहार या औषधद्रव्यों से इसका पोषण होता रहता है। वास्तव में देखा जाय तो जिस प्रकार श्लेष्मा शरीर के निर्माण में भाग लेता है, उसी प्रकार पित्त शरीर के पोषण में मदद करता है और वात उसको क्रियाशक्ति प्रदान करता है। आहारद्रव्यों से रस का निर्माण पित्त के ही कारण होता है और रस ही पोषक तत्त्व है।

वायु रजोगुणप्रधान है। किन्तु सत्त्वगुण बहुल आकाश भी अनुषङ्गी रूप में इसके उत्पत्ति में भाग लेता है (यों तो आकाश का अनुषङ्ग श्लेष्मा और पित्त के साथ भी होता ही है) यह वायु ही शरीर को गतिशील बनाता है। व्याकरण शास्त्र में गतिशब्द के चार अर्थ बताये गये है–ज्ञान, गमन, मोक्ष और प्राप्ति। ये चारों ही अर्थ वायुदोष के सम्बन्ध में घटित होते हैं। यह स्वयं तो अव्यक्त हैं किन्तु अपने कार्यों के द्वारा व्यक्त है। रुक्ष, शीत, लघु और खर गुण वाला, दोषों का नेता तथा पक्वाशय में अवस्थित रहता है। यहीं से सारे शरीर का सञ्चालन करता है। ज्ञान-तन्तुओं के भीतर अधिष्ठित होकर शारीर और मानस क्रियाओं का सम्पादन करता है। जैसे शरीर के तन्त्र और यन्त्र का विभिन्न कार्यों में रत रहना विभिन्न उच्चावच चेष्टाओं की प्रवृत्ति, मन का नियमन इन्द्रियों की स्वस्व-कर्मों में प्रवृत्ति, इन्द्रियों का अभिवहन, शरीर में धातुओं की रचना, शरीर का सन्धान करना, वाक्प्रवृत्ति, हर्ष और उत्साह को बनाये रखना, अग्नि को सन्दीप्त करना, रस का आदान और मल का निष्कासन स्थूल सूक्ष्म स्रोतों को आवश्यकतानुसार खोलना और बन्द करना, गर्भ के आकृति का निर्माण और वायु की अभिवृद्धि आदि को सम्पन्न करना।

गर्भ की उत्पत्ति पिता-माता के शुक्र-शोणित-संयोग से होती है। पहले यह कलल के रूप में होता है। यह पाञ्चभौतिक, त्रिगुणात्मक और त्रिधात्वात्मक होता है। सभी धातुयें एवं अङ्गप्रत्यङ्ग बीजरूप से इसमें विद्यमान होते हैं। वात-पित्त-कफ से इसका परिपाक होकर धीरे-धीरे विकास होने लगता है जिससे समय पर सर्वाङ्गपरिपूर्ण बालक का प्रसव होता है। चेतना का प्रादुर्भाव इसमें चतुर्थ मास में होता है क्योंकि उसी समय से गर्भ का हृदय अपना व्यापार प्रारम्भ करता है। इसका पोषण माता के रस से होता है। गर्भावस्था में श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया भी नहीं होती क्योंकि अशुद्ध रक्त का शोधन माता के ही फुफ्फुसों में हो जाया करता है। उत्पत्ति (गर्भाशय से बाहर संसार में आने) के पश्चात् ही

बालक श्वास लेता है और फुफ्फुसों की क्रियाशीलता तभी जाकर प्रारम्भ होती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार वायु, सूर्य और चन्द्र विक्षेप आदान और विसर्ग की क्रियाओं से संसार का धारण-पोषण करते हैं उसी प्रकार वात, पित्त और कफ इस शरीर को गन्ति प्रदान करते हैं, इसका पोषण करते हैं और इसे आयु की समाप्तिपर्यन्त धारण किये रहते हैं। इन दोषों में तमोबहुल जल और पार्थिव परिणाम वाला श्लेष्मा ही अधिक मात्रा में होता है। शरीर में यह स्थूल और मूर्त है तथा इसका प्रतिशत प्रमाण भी शरीर में अन्यों की अपेक्षा अधिक है। ये ही दोष जब पाञ्चभौतिक शुक्र शोणित संयोग के समय न्यूनाधिक उत्कट होते हैं तो तदनुसार मनुष्य की प्रकृति का निर्माण करते हैं। उसके शरीर और मन में स्थित दोषों के गुणों के अनुसार ही स्वभाव की उत्पत्ति होती है।

ये वातादि दोष ही क्षीण वृद्ध अथवा प्रदुष्ट होकर विभिन्न प्रकार के व्याधियों की उत्पत्ति करते हैं और जबतक ये दोष समान परिमाण में बने रहते हैं तबतक मनुष्य व्याधिरहित (स्वस्थ) रह कर अपना जीवन-व्यापार चलाता रहता है। इसीलिये इन्हे कार्य के अनुसार कभी दोष तो कभी धातु और किसी समय मल संज्ञा दी जाती है। कार्य के साथ ही साथ स्वरूपभेद भी इनके इस प्रकार के तीन पर्याय देने का कारण है। यह शरीर दोष, धातु और मल इन तीनों से ही विधारित होता है। इन दोषों को प्रकुपित और शमित करने वाले मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय, ये ६ रस माने गये हैं। इनमें से तीन-तीन रस एक-एक दोष के प्रकोपक और प्रशम-कारक होते हैं।

विरुद्ध आहार-विहार अथवा ऋतुवैषम्य आदि के कारण जिनमें विकृति उत्पन्न हो जावे उन्हें दोष कहते है। ये वातादि असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराध और ऋतुवैषम्य से स्वयं प्रकुपित होकर अन्य रसादि धातुओं. हृदयादि अवयवों आदि को दूषित करते रहते हैं, इस लिये भी इन्हे दोष संज्ञा दी गई है। संक्षेप में दोष की यह परिभाषा है कि वह स्वयं प्रदुष्ट हो और दूसरे को भी प्रदूषित करे। ये दोष सत्त्व, रज और तम के ही परिणाम[१] हैं।

यदि कोई यह शङ्का करे कि एक ही वस्तु को तीन नाम क्यों दिया गया ? अर्थात् वात, पित्त, कफ को ही दोष, धातु या मल कैसे कहा जा

१. भिन्ना दोषास्त्रयो गुणाः। सु० उ. ६६।९

सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि चूंकि वे स्वयं प्रकुपित होकर रसादि को प्रदुष्ट करके रोगोत्पत्ति करते हैं, इसलिए उन्हें दोष मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। अब रह गया धातुत्व और मलत्व का सवाल, तो चरक ने धातु और मल को स्वरूपभेद से दो किन्तु मूलरूप में एक ही माना है। जब शरीर को उनके भीतर बने रहने से बाधा (पीड़ा) उत्पन्न होने लगती है तो उस अवस्था में मल संज्ञा प्राप्त होती है। अत एव शरीर से इनका परित्याग किया जाता है। आंख, कान, नाक, गुदा, शिश्न आदि के उपदेह, शरीर से बाहर निकलने वाले परिपक्व धातु प्रकुपित वात-पित्त-श्लेष्मा तथा अन्य कोई भी द्रव्य जो शरीर में रुकने पर पीड़ा पहुँचाने वाले हों, मल के ही अन्तर्गत आते हैं। इसके अतिक्ति जो शरीर के लिये हितकर हों उन्हें 'प्रसाद' संज्ञा दी गई है। ये प्रसाद द्रव्यभेद से रसादि के नाम से और गुणभेद से गुरु, लघु आदि के रूप में विख्यात हैं।

दोषों का प्रकोप उनकी वृद्धि या क्षय होकर होता है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भी अवस्था है जिसमें उनके स्वरूप की प्रदुष्टि मात्र होती है। इससे भी व्याधि की उत्पत्ति हो सकती है। इस सम्पूर्ण विवेचन का यही निष्कर्ष है कि पञ्चमहाभूतों के प्रसाद से वातादि दोषों की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक दोष के अपने-अपने गुण होते हैं, जैसे वात-रूक्ष, शीत, लघु, चल आदि गुणवाला होता है। यदि हम रूक्ष और शीत पदार्थों का अधिक सेवन करेंगे तो वातदोष का प्रकोप होगा और उसका शमन स्निग्ध, उष्ण द्रव्यों के द्वारा होगा। यही दशा पित्त और श्लेष्मा के संबन्ध में भी समझनी चाहिये। यह नियम धातुओं और शरीर के अन्य सभी भावों के लिए लागू होता है। समान गुण वाले पदार्थों के सेवन से वृद्धि और विशेष (विपरीत) गुण वाले पदार्थों के सेवन से क्षय की उत्पत्ति होती है।

ये वातादि दोष शरीर में सूक्ष्म और स्थूल दो रूपों में पाये जाते हैं। सूक्ष्मरूप में क्रिया और गुण के द्वारा उनका अनुमान किया जाता है, किन्तु स्थूल अवस्था में उनका मलरूप हमारे सामने आता है। इसी के पोषण का विधान आहार के किट्ट से बताया गया है। इसी की उत्पत्ति आहार के पचने के समय होती है और धातुओं के परिपाक काल में भी रस से कफ और रक्त से पित्त की उत्पत्ति का होना मलस्वरूप का ही बोधक है। इसका सूक्ष्म रूप वातनाड़ियों और त्रिविध स्रावों के माध्यम से शरीर की क्रियाओं का सञ्चालन, शरीर के पोषण आदि का सम्पादन करता रहता है। जिन व्याधियों को रसज, रक्तज या मांसज आदि कहा गया है उसका कारण

दोष-धातु-मलों के संसर्ग और स्रोतोविशेष की दुष्टि मात्र है। इससे वातादि का दोषत्व खण्डित नहीं होता।

अब इस शङ्का का भी इसी स्थल पर समाधान कर देना उचित प्रतीत होता है कि वातादि दोषों की शरीर के अतिरिक्त क्या अन्य स्थलों पर भी सत्ता है ? इसका उत्तर इतना ही पर्याप्त है कि सजीव (चेतन) सृष्टि में तो इन दोषों का महत्त्व है किन्तु जड़ वस्तुओं में इनका कोई महत्त्व नहीं है। हां, उन में कुछ गुण ऐसे अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं जिनका चेतन शरीर से सम्बन्धित होने पर उनके द्वारा वातादि का ह्रास या वृद्धि होती है। इसीलिए उनको वातादि को बढ़ाने वाला (वातल) कहा जाता है।

इन सब कथनों का सारांश यही है कि वातादि ही शरीर के धारक, पोषक और विकारोत्पादक हैं। समान गुण वाले पदार्थों के सेवन से इनकी वृद्धि होतो है और विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन से ह्रास होता है। सर्वदा इनको सम बनाये रखने की कोशिश करनी चाहिए। ऋतुओं और वय का भी इनके वृद्धि-ह्रास पर प्रभाव पड़ता है। इनका सामान्य वर्णन वेदों में भी 'त्रिधातु' के रूप में मिलता है। चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं में स्थान स्थान पर इनके गुण-कर्म आदि का विशद विवेचन किया गया है। रोगों की उत्पत्ति में ये समवायि या असमवायि कारण के रूप में भाग लेते हैं। मनुष्य को स्वस्थ रखने के लिए इनके प्रमाण को शरीर में सम बनाये रखना अत्यावश्यक है। यह प्रसङ्ग दोषों के विवेचन का नहीं अपितु उनके इतिहास के विवेचनका है। अत एव इसको संक्षिप्त रूप में ही उपन्यस्त किया जाता है। विस्तृत विवेचन के लिए 'त्रिदोष विज्ञान' का अवलोकन करना चाहिए।

अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र—इसके लेखक श्री प्रियरत्न आर्ष हैं। प्रकाशन सन् १९४१ ई० में सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा, दिल्ली के द्वारा किया गया है। इस पुस्तक में लेखक ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है कि अथर्ववेद ही आयुर्वेद का मूल उपजीव्य है। सम्पूर्ण ग्रन्थ को तीन स्थानों—सूत्रस्थान-निदानस्थान और चिकित्सास्थान में विभक्त किया गया है।

अथर्वा[2] का अर्थ भेषज, चिकित्सा आदि होता है। इसी प्रकार का ब्रह्मा[3] का अर्थ भी प्रसङ्गानुसार वैद्य, ज्योतिषी और विश्वकर्मा मिलता है।

---

१. देखें पृष्ठ २।

२. येऽथर्वाणस्तद्भेषजम् (गो० पू० ३।४)
थर्वतिश्चरति कर्मा तत् प्रतिषेधः (निरुक्त ११।१९)

३. देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः। (अ० २।९।४)
सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषन्त्योषधिम्।

चिकित्सकों में पशुचिकित्सक और शस्त्रचिकित्सक भी ब्रह्मा[1] को ही कहा गया है। इसी लिये अथर्ववेद आयुर्वेद से संबद्ध है।

सूत्रस्थान में स्वस्थवृत्त[2] का वर्णन प्रथम किया गया है। तदनन्तर रोगि-परिचर्या[3] का विषय आता है। विभिन्न प्रकार के विषों से जब अन्न, पानादि प्रदुष्ट हो जाते हैं तो मनुष्य रोगग्रस्त होता है। उसे रोगमुक्त करने के लिये आश्वासन(मानसिक चिकित्सा[3]) और औषधप्रयोग (शारीरचिकित्सा)करना दोनों ही उपादेय माने गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों भी रोगी को आतुरालय[3] में रखकर चिकित्सा करने की परम्परा प्रचलित थी। ये आतुरालय[3] पशुओं के लिये भी खोले जाते थे।

औषधियों के ज्ञानार्थ निघण्टुओं की रचना मिलती है। जिनमें औषधियों का वर्गीकरण रंग[4], गुण-धर्म[5],प्रभाव[6], उत्पत्तिस्थान[7] आदिके अनुसार किया गया है। उनके संग्रह करने के काल, संग्रहणीय अङ्ग, भैषजकल्पों आदि का वर्णन मिलता है। विभिन्न प्रकार की मृत्तिका, जल, अग्नि, वायु, मेघ, चन्द्र, सूर्य आदि के प्राकृतिक द्रव्यों के साथ ही साथ चित्रक, अपामार्ग, अर्क, अज-शृङ्गी, अश्वत्थ, शमी, अर्जुन, इन्द्रायण, उदुम्बर, इलायची, कचूर कुष्ठ,

---

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥ (अ० १४।१।३)
ब्रह्मणा शाला निमितां कविभिर्निमितां मिताम्। (अ० ९।३।१९)

१. उतैनां यमिनीं गां ब्रह्मणे दद्यात्।
तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ (अ० ३।२८।२)
येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ (अ० ६।६८।३)

२. यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते 'अन्नमविषं कृणोमि' ॥ अ० ८।२।१९

३. सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः।
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ अ० ८।२।२४-२५

४. या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि ॥

५. जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधिमहम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्या अरिष्टतातये ॥

६. यद् वः सहः समाना वीर्यं यच्च वो बलम्।
तेनेयमस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥

७. प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरावदामसि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवी रुग्राः पुरुषजीवनीः।

खस, गुग्गुलु, चीड़ का निर्यास (राल), जीवन्ती, अष्टवर्ग, दशमूल, दारुहरिद्रा, सारिवा, पिप्पली, सोम आदि; मृङ्गश्रृङ्ग, धृत, मधु आदि जान्तव द्रव्य तथा अञ्जन, मणि आदि उद्भिजों का प्रयोग चिकित्सार्थ मिलता है।

शारीरस्थान में वातादि दोषों[1], रसादि धातुओं[2] श्वास-प्रश्वास क्रिया, रक्तपरिभ्रमण[3], धमनिओं, नासाकर्ण, नेत्रादि इन्द्रियों, ग्रीवा, कण्ठ अंस, हृदय, क्लोम, फुफ्फुस, यकृत्, प्लीह, वृक्क, मूत्राशय, नाभि, अन्त्र, ऊरु, पार्ष्णि, अस्थि, मज्जा, अंगुलि, नख, लोम, पर्व, त्वचा आदि का वर्णन है। प्रसव-कालीन उपचारों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसूतितन्त्र-विषयक[4] चिकित्सा भी विकसित थी।

निदानस्थान में ज्वर[5] उन्माद, स्वप्नदोष, शल्य एवं अभिघातज रोगों

---

१. शतधारं वायुमर्कं स्वविदं नृचक्षसस्ते अभिचक्षते रयिम्।
ये पृणन्ति प्रचयच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम्। अ० १८।४।२९

२. द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यां च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः॥ अ० १८।४।२८

३. प्राणः सिन्धूनां कलशां अचिक्रदिन्द्रस्य, हार्दिमाविशन् मनीषया। अ० १८।४।५८
युवा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सखयुर्न प्रमिनाति सङ्गिरः।
मर्या इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा॥ अ० १८।४।६०
एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवासा उपतिष्ठन्तु त्वात्र॥ अ० १८।४।३३

४. वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता विपर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥
चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे॥ इत्यादि

५. यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्, सचतां पर्वतांश्च। अ० १।१२।३
यत् त्वं शीतोथो रूरः सह कासा वेपयः।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परिवृङ्धि नः। अ० ५।२२।१०
तृतीयकं वितृतीयकं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥ अ० ५।२२।१३
यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।
हूडर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परिवृङ्धि तक्मन्। अ० १।२५।३
यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परिवृङ्धि तक्मन्॥ अ० १।२५।१
अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपयाति।
अन्यमस्मादिच्छतु कंचिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने॥ अ० ६।२०।१
अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि।
तस्मै ते रुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने॥ अ० ६।२०।३

का वर्णन मिलता है। चिकित्सा में आश्वासन, हर्षण आदि मानसिक उपचारों; सूर्यरश्मिचिकित्सा का हृद्रोग, हलीमक, गण्डमाला आदि में प्रयोग तथा शिरो रोग, कर्णशूल, मुखरोग, नेत्ररोग, ज्वर, मूत्राशय के रोग, हृद्रोग, पार्श्व-वंक्षण-जङ्घा-गुद आदि के रोगों आदि में भी सूर्यरश्मि से चिकित्सा करने का विधान बताया गया है।

इसी प्रकार जलचिकित्सा हृदय की धड़कन, जलन आदि; नेत्र, पार्ष्णि, त्वचा के रोगों तथा क्रिमियों के नाशनार्थ प्रयुक्त की जाती है। क्रिमि-नाशनार्थ अग्नि, वायु और हवन का भी विधान मिलता है।

शल्यचिकित्सा द्वारा रोहिणी, अस्थिभग्न विविध अवयवों और धातुओं का सन्धान, शल्याहरण आदि किया जाता था। सर्पविष-चिकित्सा का बड़ा ही विस्तृत वर्णन मिलता है। दंष्ट्राविष (जङ्गमविष), स्थावरविष, अनेक रोगोत्पादक क्रिमियों की चिकित्सा, केशरोग, शिरोरोग, मानसिक रोग, उन्मादरोग, भूतोन्माद, नेत्ररोग, कास, हृद्रोग, श्वास, उरःक्षत, अग्निमान्द्य, अर्शोरोग तथा मूत्ररोगचिकित्सा का बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है।

वाजीकरण, कामिनीकरण, बन्ध्यात्वनिवारण, योनिदोष तथा गर्भदोष के शमन का विधान है। किलास, कुष्ठ, क्षत, विद्रधि, विसर्प, क्षेत्रियरोग, ज्वर आदि के उपचार के उल्लेख में अनेकों मन्त्र आते हैं। रसायन प्रकरण और पशुचिकित्सा का भी समावेश किया गया है।

संहिताकाल—

इसका प्रारम्भ महाभारत काल से होता है और अन्त ईसा की आठवीं शताब्दीं के लगभग होता है। इसी अवधि में आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों चरक, सुश्रुत आदि का प्रणयन हुआ। इसी काल में महाभाष्य जैसे ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ। इससे पूर्व आयुर्वेद की उतनी उन्नति न हो सकी, इसका कारण यह है कि वह युग शान्ति का था रोग भी बहुत अधिक न थे, अत एव आर्य जनता ने धर्म के ऊपर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया इसी लिये उपनिषदों और आरण्यकों की रचना हुई। इसके बाद साङ्ख्य, वैशेषिक आदि भौतिक विषयों की उन्नति हुई। इन सभी ने आयुर्वेद के विस्तार में भाग लिया। उदाहरणार्थ छान्दोग्य उपनिषद्[1] में अन्नपाचन की क्रिया का बड़ा ही सुन्दर (चरक, सुश्रुत से भी उत्कृष्ट) वर्णन मिलता है—

---

१. छान्दोग्योपनिषदि त्रिवृत्करणप्रकरणे

प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीः वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं यं अन्नेन हीदं सर्वं स्थितम्। छा० ब्रा० ३-२

जिस अन्न का हम भोजन करते हैं, उसका परिणाम तीन रूपों में होता है। जो स्थूल धातु (भाग) है, वह पुरीष बनता है। जो मध्य धातु है, उससे मांस की उत्पत्ति और वृद्धि होती है किन्तु जो सूक्ष्म अंश है उससे मन का पोषण होता है। पिये हुए जल का भी इसी प्रकार से तीन रूप में परिणाम होता है—स्थूल धातु से मूत्र, मध्यम से रक्त और सूक्ष्म अंश से प्राण का निर्माण एवं पोषण होता रहता है। तैजस पदार्थों का भी तीन प्रकार से परिणाम होकर स्थूल धातु से अस्थि, मध्यम से मज्जा और अणु भाग से वाणी का पोषण होता है। इसीलिये मन को अन्नमय, प्राण को जलमय और वाणी को तेजोमय कहा गया है।

इसी प्रकार का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थ, एवं निघण्टु में भी देखने को मिलता है। पाणिनीयशिक्षा[1] में वाक्प्रवृत्ति का वर्णन बड़े ही अनुपम ढंग से किया गया है। आत्मा, बुद्धि के साथ सम्मिलित होकर मन को विवक्षा (बोलने) के लिये नियुक्त करता है। मन, कायाग्नि में हलचल उत्पन्न करता है, अग्नि, वायु को प्रेरित करता है, वायु जब उरःस्थल में सञ्चार करता है तो मन्द स्वर की, गले में आने पर मध्यम स्वर की और मस्तक से टकराने पर उच्च स्वर की उत्पत्ति होती है। इसी तरह का वर्णन ऐतरेय आरण्यक में भी मिलता है। इस सब कथन का तात्पर्य यही है कि जिस समय आयुर्वेदीय संहिताओं की रचना हुई, उसी समय वैदिक संहितायें भी बन रही थीं किन्तु उनमें आयुर्वेद से संबद्ध अंश अल्प मात्रा में ही लिया गया है। जो भाग यत्र तत्र विकीर्ण मिलता है वह आयुर्वेद के जाज्वल्यमान स्वरूप को प्रतिभासित करता है। आयुर्वेदीय संहिताओं में भी जो वर्णन इस समय मिलता है वह काल के घात-प्रतीघात से बनता-बिगड़ता रहा और आज हमारे सम्मुख कुछ त्रुटित और कुछ परिष्कृत रूप में मिलता है। कुछ संहितायें उपलब्ध हैं तो कुछ अनुपलब्ध। अब उनके ऊपर विचार किया जा रहा है।

आयुर्वेद की प्रवृत्ति का इतिहास चरक, सुश्रुत, काश्यपसंहिता आदि में कुछ अंशों में समान होते हुए भी अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुरूप विविधता

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥

का प्रतिपादन करता है। आयुवद की प्रवृत्ति का द्योतक यह चित्र सभी दृष्टिकोणों का पोषण करता है—

ब्रह्मा
|
दक्षप्रजापति
|
अश्विनीकुमार
|
इन्द्र
|
- भरद्वाज
  - पुनर्वसु आत्रेय
    - भेल
    - अग्निवेश
      - चरक
        - दृढबल
    - पराशर
    - हारीत
    - क्षारपाणि
- धन्वन्तरि
  - दिवोदास
    - सुश्रुत
    - औपधेनव
    - औरभ्र
    - पौष्कलावत
    - वैतरण
    - करवीर्य
    - गोपुररक्षित
    - भोज
- काश्यप
  वशिष्ठ
  अत्रि
  भृगु
  इनके पुत्र शिष्य आदि

इसके ऊपर दृष्टिपात करनें से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मा से लेकर इन्द्र तक की परम्परा सभी संहिताकारों को एकमत से स्वीकार्य है। उसके बाद सम्प्रदायानुसार भेद होता है।

ब्रह्म-संहिता—सुश्रुतसंहिता में जो वर्णन है उसके अनुसार ब्रह्मा जी ने आयुर्वेद की रचना एक लाख श्लोकों में की थी। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ एक हजार अध्यायों में विभक्त था। आगे चलकर इसके आठ भाग हुए जो शल्यतन्त्र, शालाक्य, कौमारभृत्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, आगदतन्त्र, रसायनतन्त्र, वाजीकरण—इस प्रकार आठ तन्त्रों के रूप में प्रचलित हुए। शल्यतन्त्र का प्रतिपादन सुश्रुतसंहिता में और कायचिकित्सा का प्रतिपादन चरक-संहिता में साङ्गोपाङ्ग रीति से किया गया है। कौमारभृत्य पर काश्यप-संहिता मिलती है। इसके बाद के तन्त्रों पर कोई आधिकारिक ग्रन्थ नहीं उपलब्ध होता।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक वर्णन मिलता है, जिसमें नारद जी और

सनत्कुमार ऋषि के संवाद में भूतविद्या के अध्ययन का उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान किया जाता है कि उपनिषत्काल (त्रेतायुग के प्रारम्भ) में इस तन्त्र का प्रचार था और बड़े बड़े विद्वान् लोग इसका अध्ययन करते थे।

ब्रह्मसंहिता यद्यपि इस समय उपलब्ध नहीं है, किन्तु कतिपय योग यथा—ब्राह्मरसायन के दो योग (च. सू. चि. १ अ., अ. हृ. चि. ६।५५, अ. हृ. उ. ३९।१५) आमलकायस, ब्राह्मरसायन (च.) ब्राह्मीतैल, चन्द्रप्रभावटी आदि के उल्लेख मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य योग यथा सर्वाङ्गसुन्दर रस, वातकुलान्तक चतुर्मुख रस, आमवातगजसिंह मोदक, विजयानन्द, सूतिकाभ्र रस, नीलकंठ रस, मृतसञ्जीवन अगद, बृहदग्निमुख चूर्ण, बृहत्सारस्वत चूर्ण, स्वायम्भुव गुग्गुलु, माचिकासव, दशसारसर्पि और कर्णामृत तैल के पाठों का उल्लेख श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने किया है।

'ब्राह्मी' बूटी भी सम्भवतः उन्हीं की अन्वेषण हो, जिसका मेधायुष्कामीय के लिये बड़ा प्रयोग मिलता है।

ब्रह्मा ने आयुर्वेद का उपदेश दो शिष्यों को दिया—प्रथम दक्षप्रजापति और दूसरे सूर्य को। सूर्य ने *भास्करसंहिता* का निर्माण किया किन्तु इसका वैद्यपरम्परा में अधिक प्रचार न हो सका। सम्भवतः इसमें व्याधिप्रतिबन्धन का ही अधिक विधान था। इसीलिए आजकल यह उक्ति प्रचलित है कि आरोग्य की इच्छा रखने वाला सूर्य की उपासना करे।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में भास्करसंहिता का उल्लेख मिलता है। श्री मुखोपाध्याय ने 'ज्ञानभास्कर' नामक पुस्तक का भी उल्लेख किया है और भास्कर लवण (३ योग) और उदर्क रस का भी उद्धरण दिया है।

दक्षप्रजापति[१]—इन्होंने भी ब्रह्मा से उपदेश ग्रहण किया और इनकी परम्परा का खूब विकास हुआ। आयुर्वेद की सभी संहितायें अपना संबन्ध इनसे बताती हैं। ज्वर की उत्पत्ति का प्रकरण भी दक्षाध्वरोद्ध्वंस से ही प्रारम्भ होता है। भावप्रकाश में महारास्नादि क्वाथ नामक योग इनके द्वारा विनिर्मित बताया गया है।

अश्विद्वय—ये दो भाई थे, एक का नाम नासत्य और दूसरे का दस्र है। दोनों को एक साथ ही अश्विनीकुमार कहते हैं। इनके संबन्ध में शल्यकर्म से संबद्ध अनेक बड़ी-बड़ी शस्त्रचिकित्साओं का वर्णन वेदों में मिलता है

---

१. शिवपुराण में इनके सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

(देखे पृष्ठ १३) ब्रह्मवैवर्त पुराण में "चिकित्सा तन्त्र सार" का उल्लेख मिलता है और यह बताया गया है कि इसकी रचना अश्विनीकुमारों के द्वारा की गई। उसी श्लोक के उत्तरार्ध में 'भ्रमघ्न' नामक गन्थ की रचना का संकेत दिया गया है।

गदनिग्रह में उद्धृत हिंग्वादि चूर्ण की प्रशस्ति में 'आश्विन संहिता' का उल्लेख मिलता है। इसी अश्विनीकुमारसंहिता के अंश में 'धातुरत्नमाला' का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर इस संहिता का परिशिष्ट हो ?

इन दोनों के नाम से विरचित 'नाडीपरीक्षा' नामक ग्रन्थ की भी उपलब्धि का प्रमाण मिलता है। नेपाल राजगुरु ने काश्यपसंहिताके उपोद्घात परिशिष्ट में 'ज्वरसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में अश्विकुमारों के मत के प्रदर्शक श्लोक होने का वर्णन किया है। इसी प्रकार वृन्दमाधव में अश्विदृष्ट-रसायन' और वङ्गसेन में अश्विविहित 'रक्तपित्तनाशनयोग' तथा 'वाजि-गन्धाघृत' का उल्लेख मिलता है। ये योग अश्विद्वय प्रोक्त है।

श्री जी.एम. मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इन्डियन मेडिसिन' में मातुलुङ्गगुटिका के दो योग, गुल्मनाशनचूर्ण, हरिद्राद्वयादि गुटिका, लशुनादि घृत, सर्वज्वरहर सर्पिः, चन्दनादि घृत, बिन्दुघृत, रक्तपित्तनिवारक चन्दनादि चूर्ण, अमृत तैल, गुडसृतक्षीर, मूत्रग्रह में अयोरजः का प्रयोग, अश्वगन्धामूल क्वाथ का निरूह बलवर्णमांसवर्धनार्थ, पिप्पलीवर्धमानकल्प, विश्वामित्र ऋषि को बताया गया आप्यायन रसायन, शतपुष्पादि यवागू योग, हरीतकी कल्प, सुबृहद् गुड़पिप्पली, फलघृत, अमृता गुग्गुलु के २ योग अमृतादि घृत, अमृताप्राशावलेह, कुंकुमादि तैल, गोधूमाज्य रसायन, महासुगन्धि तैल, गुडकूष्माण्ड, कूष्माण्डक रसायन, नारिकेलखण्ड, दाड़िमादि घृत, शतावरी घृत, हिंग्वादि चूर्ण (गदनिग्रह में भी उद्धृत), दशाङ्ग तैल, बृहदग्निमुखचूर्ण, चित्रकहरीतक्यवलेह (रसायन के तीन योग). कदलीकन्द घृत, अयो-पतिरस, मार्तण्डरस, बालसूर्योदय रस का उल्लेख किया है।

महाभारत हरिवंशपुराण एवं वायुपुराण तीनों ही ग्रन्थों में ऐसा वर्णन मिलता है कि नासत्य और दस्र ये दोनों ही अश्विनीकुमार अष्टम प्रजा-पति मार्तण्ड के पुत्र थे। इनका निवासस्थान चन्द्रपर्वत पर था। वहां उन्होंने औषधियों की खेती की और उनसे अमृत की उत्पत्ति की। अमृत वह तत्त्व है जिसके सेवन से वृद्धावस्था और मृत्यु का भय जल्दी नहीं होता। भूख और प्यास भी बहुत लम्बे समय के बाद लगती है। इन औषधियों के सेवन से सर्वथा मृत्यु ही नहीं होती ऐसा नहीं समझना चाहिये।

च्यवनप्राश का भी अश्विद्वय से संबन्ध बताया जाता है, इसका उल्लेख चरकसंहिता के चिकित्सास्थान प्रथमाध्याय में है। इसी अध्यायके चतुर्थपाद (श्लोक ४१-४२) में वर्णन मिलता है कि इन्होंने यक्ष के कटे हुए शिर को जोड़ दिया। पूषा के सड़ गये दांतों का, भग के नष्ट (अन्ध) नेत्र की और इन्द्र के भुजस्तम्भ की चिकित्सा इन्होंने ही की। राजयक्ष्मा से ग्रस्त चन्द्रमा को भी इन्होंने चिकित्सा कर के स्वस्थ बनाया।

इन्द्र—ये कश्यप महर्षि से अदिति में उत्पन्न हुए थे। इनकी पत्नी का नाम शची था यों तो इन्द्र अनेक हुए हैं किन्तु आयुर्वेदोपदेशक शचीपति इन्द्र ही माने जाते हैं। चरकसंहिता में इनका शचीपति के अतिरिक्त बलहन्ता, सुरेश्वर, अमरप्रभु, शतक्रतु (सू० १ अ०) और सहस्रदृक्, अमराधिपति अमरगुरु (चि० १ अ०) आदि पर्याय दिया गया है। पृथ्वी पर आयुर्वेद का प्रचार इन्द्र के ही उपदेशानुसार हुआ। इन्द्र को आयुर्वेद के सभी अङ्गों का यथावत् ज्ञान था। इतना ही नहीं, आत्मज्ञान (छा० उ०) मीमांसाशास्त्र, शब्दशास्त्र, पुराण, नीतिशास्त्र, छन्दःशास्त्र तथा ऋचाओं के भी ये प्रकाण्ड विद्वान् थे।

इन्द्र ने कायचिकित्सा का उपदेश महर्षि भरद्वाज को, शल्यतन्त्र का धन्वन्तरि को और कश्यप, वशिष्ठ, अत्रि, भृगु को कौमारभृत्य का उपदेश दिया। इनके अतिरिक्त निमि ऋषि को शालाक्य तन्त्र का औरअन्य ऋषियों को विभिन्न योगों का भी उपदेश दिया है ऐसे उल्लेख यत्र तत्र मिलते हैं।

इन्द्र के नाम से सम्बद्ध *'बलभित् संहिता'* का उल्लेख मिलता है। चरकसंहिता चिकित्सा स्थान प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम प्रभृति महर्षियों को इन्द्र के द्वारा आयुर्वेदोपदेश (रसायन) का वर्णन मिलता है। वहां इन्द्रोक्त रसायन योगों तथा आचाररसायन और अन्य एकीय औषधों का विवरण दिया गया है। यह सब इन्द्र से सम्बद्ध मालूम पड़ता है।

श्री मुखोपाध्याय जी ने सर्वतोभद्र रस, दशमूलाद्य तैल, और हरीतक्यवलेह का उद्धरण भी अपनी पुस्तक में दिया है जो इन्द्र से सम्बन्धित है।

श्री मद्भागवत और वाल्मीकिरामायण में भी ऐसा वर्णन मिलता है कि इन्द्र ने दिति के गर्भ में प्रविष्ट होकर उसका ७ बार और पुनः एक-एक का ७-७ बार छेदन कर दिया। इससे ४९ मरुतों की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त गर्भाधान, सन्तानप्राप्ति एवं दीर्घायुष्य की प्राप्ति के सूचक मन्त्रों का भी निर्देश मिलता है। स्वस्थ बने रहने के लिये त्रिधातुशाम्यस्थापन क्रियार्थ भी इन्द्र की प्रार्थना की जाती है।

चरक-संहिता

ब्रह्मा ने त्रिसूत्रात्मक आयुर्वेद का बोध प्राप्त किया, जिसमें हेतुज्ञान, लिंगज्ञान और औषधज्ञान सन्निहित था। इन्हीं तीनों का उपदेश भरद्वाज को भी इन्द्र से मिला और इसको सम्पूर्ण रूप से इन्होंने ऋषियों को समझाया। ऋषियों ने भरद्वाज से सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय केसम्बन्ध से इसका ग्रहण किया। इनमें से पुनर्वसु आत्रेय नाम के एक ऋषि ने अग्निवेशादि अपने ६ शिष्यों को भरद्वाजकृत आयुर्वेदोपदेश दिया। इन सभी शिष्यों ने अपने-अपने नाम से संहितायें बनाई किन्तु अग्निवेशसंहिता सर्वोत्तम थी। इसी के आधार पर आगे चलकर वर्तमान चरकसंहिता बनी। अत एव इस सम्प्रदाय के मूल पुरुष महर्षि भरद्वाज हुए, इनके शिष्य हुए पुनर्वसु आत्रेय जिन्हें कृष्णात्रेय, चान्द्रभागि आदि भी कहते हैं। आत्रेय इनका गोत्रपरक नाम है और चन्द्रभागा इनकी माता का नाम था ऐसा प्रतीत होता है। आत्रेय के शिष्य अग्निवेश ने अग्निवेशसंहिता का निर्माण किया। जिसके कालक्रम से जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर प्रथम चरक और बाद में दृढबलने प्रतिसंस्कार किया।

भरद्वाज—ये प्रथम आचार्य थे जिन्होंने आयुर्वेद शास्त्र को मृत्युलोक में प्रकाशित किया। यद्यपि इस नाम के अनेक पुरुष इतिहास, पुराण में देखने को मिलते हैं किन्तु वे सभी एक व्यक्ति थे यह मानना उचित नहीं। सभी में भिन्न-भिन्न गुण थे और उन्होंने तदनुरूप विभिन्न क्षेत्रों में ख्याति अर्जित की। चरकसंहिता में ही अनेक प्रसङ्गों में इस संज्ञा का प्रयोग किया गया है। कुछ तो सविशेषण हैं—यथा कुमारशिरा भरद्वाज, किन्तु कुछ स्थलों (यथा शारीर स्थान ३.४ अध्याय) पर केवल भरद्वाज शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है कि वे वही आत्रेयगुरु भरद्वाज नहीं हैं अपितु कोई अन्य विद्वान् हैं। यदि ऐसा मानेंगे तभी उनके संशय को आत्रेय के द्वारा दूर किया जाना सुसङ्गत प्रतीत होगा।

अन्य आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भरद्वाज शब्द का जोउल्लेख है वह भी आयुर्वेद प्रवर्तक भरद्वाज के अलावा दूसरे लोगों का द्योतक है। जैसे भावप्रकाश ने भरद्वाज रचित द्रव्यगुणविज्ञान का उल्लेख किया है अथवा 'भारद्वाजीयम्' या 'भेषजकल्प' के रचयिता भरद्वाज प्रस्तुत महर्षि से भिन्न व्यक्ति हैं। वृन्दमाधव में भारद्वाज के नाम से बृहत् फलघृत और शार्ङ्गधर में फलघृत का उल्लेख है। ये भी आचार्यद्वय कोई दूसरे व्यक्ति मालूम पड़ते हैं।

आयुर्वेदप्रवर्तक भरद्वाज के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि अन्य भरद्वाज नामधेय व्यक्तियों को अपेक्षा आयुर्वेदप्रवर्तक महर्षि भरद्वाज

का हिस्सा इस विज्ञान के प्रचार और प्रसार में अधिक गौरवपूर्ण है। महाभारत के एक प्रसङ्ग में लिखा हुआ है कि भरद्वाज ने आयुर्वेद को उसके आठ अंगों में विभक्त किया।

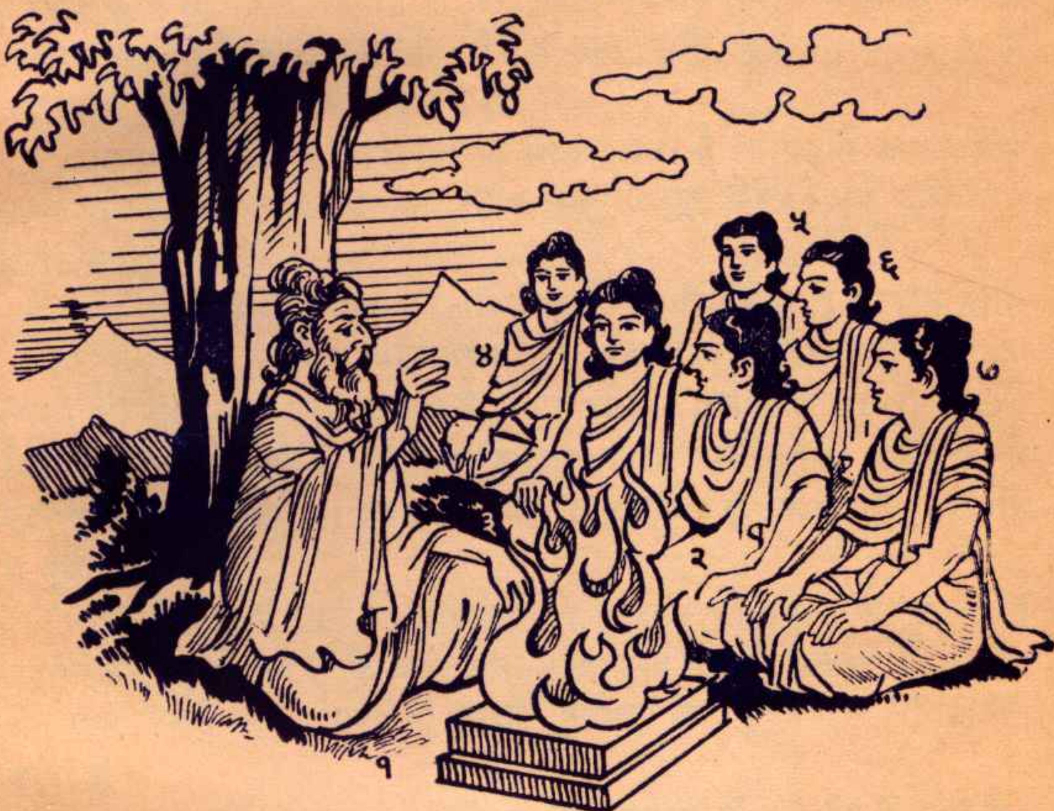
आत्रेय—इनका नाम पुनर्वसु आत्रेय था। यद्यपि ये गान्धार देश के रहने वाले थे किन्तु पांचालक्षेत्र, चैत्ररथवन, पञ्चगङ्ग, धनेशायतन, कैलास हिमालय के उत्तर पार्श्व में त्रिविष्टप आदि स्थानों पर आयुर्विद्या के प्रचार-प्रसार के लिये घूमते रहे। महाभारत में शान्तिपर्व के श्लोकानुसार कायचिकित्सा के आचार्य रूप में इनकी प्रसिद्धि थी। अत एव ये महाभारत के समकालीन होते हैं।

जिस प्रकार भरद्वाज नाम के कई ऋषि हुए हैं, उसी प्रकार इस आत्रेय नाम से भी अनेक विद्वान् ऋषि हुए हैं। वे समकालिक भी थे और पौर्वापर्य में भी हो गये हैं। अत एव नामसाम्य से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। उदाहरणार्थ बुद्ध के जन्म के समय तक्षशिला विश्वविद्यालय में भी आत्रेय नाम के आयुर्वेदज्ञ महर्षि थे। अब इन्हे ही यदि भरद्वाज का शिष्य माना जाये तो सारी चरकसंहिता में (या प्रतिसंस्कृत अग्निवेशसंहिता में) तक्षशिला का कोई उल्लेख ही नहीं है; उल्लेख है तो कम्पिल्य देश का। यह देश वैदिक काल से ही प्रसिद्ध था और शुक्ल यजुर्वेद, तैत्तिरीयमैत्रायणीय—काठक संहिता आदि में इसका उल्लेख है। अत एव जिस तक्षशिलावासी बुद्धकालीन आत्रेय से जीवक ने शिक्षा ग्रहण की उससे भिन्न व्यक्ति काम्पिल्य देशवासी अग्निवेश के गुरु पुनर्वसु आत्रेय हुए। क्योंकि तक्षशिला का वेदों में कोई उल्लेख ही नहीं है। ये पुनर्वसु आत्रेय बौद्धकालिक आचार्य से भी पूर्ववर्ती हुए।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय गान्धार देश के राजा नग्नजित् के सम्भवतः राजवैद्य थे और उन्होंने राजा को आयुर्वेदोपदेश भी किया था। राजर्षि नग्नजित् का उल्लेख शतपथब्राह्मण और ऐतरेयब्राह्मण में मिलता है। शतपथब्राह्मण का रचनाकाल प्राच्य विद्वानों के मतानुसार इसवी सन् से ३००० वर्ष पूर्व हुआ ऐसा इतिहासकारों का मत है। इसलिए पुनर्वसु आत्रेय का काल आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व निश्चित होता है। पाश्चात्त्य विद्वान् शतपथब्राह्मण की रचना ईसा से ८०० वर्ष पूर्व हुई, ऐसा मानते हैं। उनके मत से आत्रेय महर्षि के काल की वैसी गणना कर लेनी चाहिए।

अग्निवेश—चरकसंहिता में अग्निवेशादि ६ ऋषियों को महर्षि आत्रेय का शिष्य बताया गया है। अत एव इन लोगों का काल भी पूर्वोक्त ही होगा

आयुर्वेद शिक्षण



१. पुनर्वसु आत्रेय २. अग्निवेश ३. भेल ४. जतूकर्ण
५. हारीत ६. पाराशर ७. क्षारपाणि

[आ० पृ० ४४–४५

इसमें किसी को सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। तथापि इसके लिए एक और प्रमाण उपस्थित किया जाता है।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार भारतवर्ष में रवि-सोम-भौम आदि वारों की गणना शक-काल से लगभग १ हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ होती है। इससे पहले इस देश में वारों का प्रचार नहीं था, प्रत्युत तिथि-करण-नक्षत्र-मुहूर्तादि का प्रचार था। चरकसंहिता में भी जो अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कृत रूप है, सर्वत्र (सू. स्था. १५अ, वि. ८, इ. १२ आदि अध्याओं में) तिथ्यादि का ही उल्लेख मिलता है—वारों का नहीं। वैद्य के पास शनि, बुध, सोम कोन जाने, यह उक्ति बाद के समय में प्रचलित हुई।

कालगणना की यह परम्परा भी सिद्ध करती है कि महर्षि आत्रेय और उनके शिष्य अग्निवेशादि का समय न्यूनातिन्यून ३००० वर्ष पहले सिद्ध होना चाहिए।

उपर्युक्त तक्षशिला शब्द भी अग्निवेश का पाणिनि से पूर्वभवत्व प्रतिपादित करता है, क्योंकि अग्निवेशसंहिता (वर्तमान चरकसंहिता) में तक्षशिला का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। पाणिनि ने तक्षशिला का भी उल्लेख किया है और 'गर्गादि गण' में जतूकर्ण-पराशर-अग्निवेश आदि शब्दों का भी उल्लेख किया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ये लोग पाणिनि से पूर्व हुए।

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने आयुर्वेद को प्रमाण के संबन्ध में उद्धृत करते हुए कहा है कि आप्तजनों ने आयुर्वेद का भी प्रवचन किया है। अत एव इससे भी आयुर्वेद के प्रवक्ता ऋषियों का पूर्वभवत्व प्रतिपादित होता है।

चरक—महर्षि चरक के बारे में भी बड़ा मतभेद है कि ये कौन थे। कुछ लोग कहते हैं चरक किसी व्यक्ति का नाम नहीं है किन्तु वेद की एक विशेष शाखा के अध्येता ब्राह्मण की अभिख्या है। यदि किसी प्रकार इसे व्यक्तिवाचक मान भी लें तो यह सांकेतिक नाम ही होगा, प्रधान नाम नहीं होना चाहिए। भावप्रकाशकार का कथन है कि ये शेषावतार थे और पृथ्वी पर आयुर्वेद के प्रचारार्थ अवतरित हुए थे। श्री वराहमिहिर विरचित बृहज्जातक में लिखा है कि ये शाक्य (जैन) भिक्षु थे। इसकी टीका करते हुए भट्टोत्पल ने इन्हें चक्रधर और रुद्र ने चिकित्साव्यवसायी बताकर इस शब्द को सम्प्रदायवाचक माना है। जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में चरक को विविध प्रमाणप्रमेयज्ञ विद्वान् माना है।

पाणिनि के सूत्रों में चरक शब्द का निर्देश देखकर कुछ विद्वान् ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि ये पाणिनि के पूर्ववर्ती थे। किन्तु यह बात युक्तियुक्त नहीं

प्रतीत होती, क्योंकि उन सूत्रों में निर्दिष्ट चरक शब्द किसी संहिता द्रष्टा महर्षि के वाचक हैं अथवा वेद की चरकशाखा के। यही हाल याज्ञवल्क्य स्मृति व्याख्या में उद्धृत चरक शब्द का समझना चाहिये। काशिकावृत्ति के लेखानुसार भी चरक शब्द शाखाप्रवर्तक के लिये ही व्यवहृत हुआ है ।

कुछ विद्वान् जैसे चक्रपाणि, विज्ञानभिक्षु, रामभद्र दीक्षित आदि भगवान् पतञ्जलि और चरक दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं, किन्तु यह मत भी उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पतञ्जलि का समय इतिहासकारों के मत से पुष्यमित्र का शासनकाल है, किन्तु चरक का काल कनिष्क का शासन-काल माना जाता है। दूसरी बात यह है कि चरक में प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में "इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते" शब्द मिलता है, 'पतञ्जलिप्रतिसंस्कृते" कहीं नहीं लिखा मिलता। अत एव यह भी दोनों व्यक्तियों के अनैक्य का साधक है। दृढ़बल ने भी चिकित्सास्थान तथा सिद्धिस्थान के अन्त में चरक के नाम से ही प्रतिसंस्कर्ता का उल्लेख किया है, पतञ्जलि के नाम से नहीं। चरक के प्राचीनतम टीकाकार भट्टार हरिचन्द्र ने भी चरक की ही वन्दना की है, पतञ्जलि की नहीं। वाग्भट ने भी चरक के ही नाम का निर्देश किया है। अत एव इतने सारे नास्त्यात्मक प्रमाणों से सिद्ध यही होता है कि चरक और पतञ्जलि यद्यपि शेषावतार थे, किन्तु इनका काल भिन्न था और तदनुसार ये दोनों भिन्न व्यक्ति थे। इसीलिये भावमिश्र ने चरक को शेषावतार तो बताया किन्तु उनका पतञ्जलि के रूप में उल्लेख नहीं किय।

अब इतिहासकारों द्वारा चरक का कनिष्क-समकालीन होना जो माना जाता है, उसपर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। बौद्धत्रिपिटक के चीनी अनुवाद से ऐसा मालूम होता है कि चरक कनिष्क के राज वैद्य थे। शिलालेखों से प्रतीत होता है कि अश्वघोष और नागार्जुन उनके राजपण्डित थे। नागार्जुन ने अपने 'उपाय हृदय' नामक वैद्यकीय ग्रन्थ में सुश्रुत का तो उल्लेख किया है किन्तु चरक का राजवैद्य होते हुए भी कोई उल्लेख नहीं किया, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसीसे जो लोग यह कहते हैं कि 'उपाय हृदय' और चरक में विगृह्य संभाषा का समान रूप से वर्णन होने के कारण दोनों समकालीन हैं उसका भी खण्डन हो जाता है। अब दूसरा एक और आभ्यन्तर प्रमाण उपस्थित किया जाता है—कनिष्क बौद्ध थे और चरक वैष्णव, इसीसे उन्होंने ज्वर की चिकित्सा में विष्णुसहस्र-नाम के पाठ का विधान बताया है । विष्णुसहस्रनाम का पाठ महाभारत

में मिलता है। अत एव चरक का महाभारत समकालिक या उत्तरकालिक होना सिद्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से चरक *की भाषा और श्रीमद्भागवत की भाषा एक जैसी प्रसाद-माधुर्य-गुणयुक्त* गद्य-पद्यमय है अत एव यह भी महाभारत कालीनत्व का द्योतक है। इसी समय में युद्ध से जर्जर विभिन्न विज्ञानों का प्रतिसंस्कार किया गया। अत एव यह प्रतिसंस्कार युग अग्निवेशतन्त्र के उद्धार का भी काल माना जाना चाहिये।

दृढबल—इनका जन्म पञ्चनद (आधुनिक पञ्जाब) प्रदेश में हुआ था। कल्हण के मतानुसार उस समय पञ्चनद पर काश्मीरियों की प्रभुता थी। कुछ लोगों के मतानुसार पञ्चनद, श्रीनगर से ७ मील उत्तर पञ्जन्योर नामक स्थान है अस्तु जो भी हो? यद्यपि इनके उत्पत्तिकाल के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि ये वाग्भट और जेज्जट से पूर्ववर्ती थे यह तो निश्चित हो ही जाता है, क्योंकि वाग्भट ने दृढ़बलसंपूरित चरक के अंशों से बहुत से विषयों का ग्रहण किया है और जेज्जट ने उस अंश (दृढ़बल पूरित) पर टीका की है। वाग्भट का काल ईसा की चतुर्थ शताब्दी है अत एव दृढ़बल का काल सम्भवतः तीसरी शताब्दी रहा होगा।

अब यहां पर एक विवाद यह भी खड़ा हो जाता है कि दृढ़बल ने चरक-प्रतिसंस्कारित संहिता के किस अंश को पूरा किया। कल्प और सिद्धिस्थान में तो किसी को कोई मतभेद नहीं है, किन्तु चिकित्सास्थान के बारे में टीकाकार भिन्न-भिन्न अध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसका कारण यह है कि आचार्य दृढ़बल ने "अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः" अर्थात् चिकित्सास्थान के सतरह अध्यायों को मैंने पूरण किया इतना ही कहकर छोड़ दिया। चिकित्सा स्थान में कुल ३० अध्याय हैं—१. रसायन, २. वाजीकरण, ३. ज्वर, ४. रक्तपित्त, ५. गुल्म, ६. प्रमेह, ७. कुष्ठ, ८. राजयक्ष्मा, ९. उन्माद, १०. अपस्मार, ११. क्षतक्षीण, १२. श्वयथु, १३. उदर, १४. अर्श, १५. ग्रहणी, १६ पाण्डुरोग, १ . हिक्काश्वास, १८. कास, १९. अतिसार, २०. छर्दि, २१. विसर्प, २२. तृष्णा, २३. विष, २४. मदात्यय २५. द्विव्रणीय, २६ त्रिमर्मीय, २७ उरुस्तम्भ २८. वातव्याधि, २९. वातरक्त और ३०. योनिव्यापत् चिकित्सित। श्री चक्रपाणि का मत है कि इन तीस में से प्रथम ८ अध्याय और अर्श-अतिसार-विसर्प-मदात्यय-द्विव्रणीय कुल मिलाकर इन १३ अध्यायों का प्रतिसंस्कार तो चरक ने किया, शेष सतरह अध्यायों का दृढ़बल ने। कविराज गङ्गाधर जी का मत सीधा सीधा है, उन्होंने प्रारम्भ के १३ अध्यायों को चरकप्रतिसंस्कृत और अन्तिम सतरह अध्यायों को दृढबल पूरित

माना है। दोनों ने अध्यायों का पौर्वापर्यक्रम उपरि लिखित ही माना है। जेज्जटने चक्रपाणि के क्रम को ही माना है और उसी की पुष्टि की है, अपने मत के पोषणार्थ उन्होंने भट्टार हरिचन्द्र का उद्धरण दिया है। इससे एक अनुमान होता है कि चरक ने सम्पूर्ण अग्निवेशतन्त्र का ही प्रतिसंस्कार किया था किन्तु दृढ़बल के समय यह उपलब्ध नहीं था इसीलिये उन्होंने "नासाद्यन्ते" अर्थात् नहीं प्राप्त होते इस शब्द का प्रयोग किया, "प्रतिसंस्कार नहीं किया", ऐसा कभी नहीं कहा।

चरकसंहिता के टीकाकार—इस समय इस ग्रन्थ पर ५ प्राचीन टीकायें संस्कृत में उपलब्ध हैं। हिन्दी भाषा में भी कई टीकायें हुई हैं। अब एक-एक का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

(१) *भट्टार हरिचन्द्र की चरकन्यास नामक टीका*—इस टीका के कुछ अंश ही वर्तमान काल में उपलब्ध हैं, वह भी यत्र-तत्र प्रसङ्गोपात्त निर्देश के रूप में ही। ये इस ग्रन्थ के प्राचीनतम टीकाकार हैं। भट्टार हरिचन्द्र के गद्यबन्ध की उत्कृष्टता का उल्लेख वाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है। वाक्पति विरचित गौडवह नामक प्राकृत काव्य में भी इनका निर्देश मिलता है। जो इस बात की पुष्टि करता है कि ये अपने समय के जाने-माने विद्वान् में रहे होंगे। तीसटाचार्य विरचित चिकित्साकलिका के व्याख्यासन्दर्भ में चन्द्रट ने लिखा है कि हरिचन्द्र और जेज्जट की व्याख्या के पश्चात् अन्य विद्वान् का प्रयत्न धृष्टतामात्र ही होता है। अत एव इससे भी इनके प्रौढ़ता की पुष्टि ही होती है।

विश्वप्रकाशकोष की व्याख्या में इनके वंशज महेश्वर ने लिखा है कि अनवद्यवैद्य-विद्यातरङ्ग,'इन दो उपाधियों से विभूषित श्री हरिचन्द्र ने चरकतन्त्र को अपनी व्याख्या से अलङ्कृत किया। उसमें इन्हें साहसाङ्क नृपति का राजवैद्य बताया गया है। इतिहासकार साहसाङ्क नृपति को द्वितीय चन्द्रगुप्त मानते हैं, जिनका राज्यकाल ३७५ ई० से लेकर ४१३ ई० पर्यन्त रहा। अत एव वही काल भट्टार हरिचन्द्र के व्याख्या का भी समझना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रह के व्याख्याता इन्दु के अनुसार भट्टार हरिचन्द्र ने खरनादसंहिता का प्रतिसंस्कार किया है। यह भी बताया गया है कि यह संहिता, चरकसंहिता की प्रतिबिम्बरूपा थी।

(२) *जेज्जट की निरन्तर पदव्याख्या नामक टीका* चिकित्सास्थान से आरम्भ करके सिद्धिस्थान पर्यन्त किन्तु बीच-बीच में त्रुटित रूप में यह टीका पं० हरिदत्त शास्त्री जी के सम्पादन में वाराणसी से प्रकाशित हुई है। कालक्रम में ये आचार्य, हरिचन्द्र के बाद आते हैं, जिसका प्रमाण यह है कि मदात्ययचिकित्सा (चि० स्था० २५ अध्याय) की

व्याख्या के समय जेज्जट नें स्वयं लिखा है कि यह अध्याय चरकाचार्य प्रणीत है और भट्टार हरिचन्द्र ने इसकी अत्युत्तम व्याख्या की है। ये वाग्भट के शिष्य थे जिसका उल्लेख चिकित्सास्थान के पहले अध्याय की टीका समाप्त करने पर "इति वाग्भटशिष्यस्य जेज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्या-चिकित्सितस्थाने" इत्यादि शब्दों में किया गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ये वाग्भट के समकालीन (ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त और पाँचवीं के प्रारम्भ में) हुए थे।

भट्टार हरिचन्द्र (हरिश्चन्द्र) ने जो 'चरकन्यास' टीका बनाई उसमें से तन्त्रयुक्तियों के प्रकरण को अलग निकाल कर तक्षशिला अष्टाङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय के संरक्षक राजवैद्य' वैद्य पञ्चानन पं० मस्तराम शास्त्री आयुर्वेदाचार्य ने अलग से प्रकाशित किया। प्रकाशन तिथि १९८९ वै० है। यह टीका अनेक स्थानों पर त्रुटित है किन्तु शास्त्री जी के ही बुद्धि का यह कौशल है कि उन्होंने उसे न केवल पढ़ने योग्य ही बना दिया अपितु पढ़ने पर ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि यह भट्टार हरिचन्द्र द्वारा लिखित नहीं है।

पं० मस्तराम शास्त्री जी पञ्जाब के रावलपिण्डी नगर (जो अब पाकिस्तान की राजधानी है) के रहने वाले थे। आप बहुत यशस्वी चिकित्सक और विद्वान् वैद्य थे। आपकी इच्छा थी कि चरक पर प्राचीन सभी टीकाकारों यथा भट्टार हरिचन्द्र, जेज्जट, शिवदास, गयदास, स्वामी, कुमारदास आदि की कृतियाँ प्रकाशित की जायें किन्तु दुर्दैववशात् ऐसा न हो सका।

भट्टार हरिचन्द्र ने इसमें ४० तन्त्रयुक्तियों, १५ व्याख्या, ७ कल्पना, २१ अर्थाश्रय, १७ ताच्छील्य और १४ तन्त्र दोषों को स्वीकार कर उनपर व्याख्या रची है।

(३) *चक्रपाणिदत्त की आयुर्वेद दीपिका टीका*—यह टीका बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है और साङ्गोपाङ्ग उपलब्ध होती है। वास्तव में देखा जाय तो चरकसंहिता के अनुरूप ही यह टीका है। चक्रपाणिदत्त गौड़देश (वर्तमान बङ्गाल) के निवासी थे। इनके पिता का नाम नारायणदत्त था जो गौडाधिप नयपाल देव के महानसाधिकारी और मन्त्री भी थे। इनके बड़े भाई का नाम भानुदत्त और गुरु का नाम श्री नरदत्त था। इनके वंश में परम्परया वैद्यवृत्ति होती आ रही थी। इसे 'लोध्रबली' संज्ञक दत्त कुल कहा जाता है। इतिहासकारों का मत है कि श्री नयपाल देव का शासन-काल ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग (१०४० से १०७० A. D.) है अत एव इसके बाद का समय ही इनकी उत्पत्ति और प्रचार का काल समझना चाहिये।

श्री चक्रपाणिदत्त ने सुश्रुतसंहिता के ऊपर 'भानुमती' नामक व्याख्या लिखी है, जिसके सूत्रस्थान तक के भाग का प्रकाशन श्री स्वामी लक्ष्मीराम निधि की ओर से सन् १९३९ में हुआ है। यह व्याख्या भी आयुर्वेददीपिका के ही समान बड़ी प्राञ्जल है।

इसके अतिरिक्त 'चक्रदत्त' नामक चिकित्सा ग्रन्थ और द्रव्यगुणसंग्रह' नामक ग्रंथ भी चक्रपाणि की देन है। आयुर्वेदजगत इनका यावच्चन्द्र-दिवाकरौ महान् उपकारी रहेगा।

(४) *शिवदास सेन की तत्त्वप्रदीपिका टीका*—यह टीका अपूर्ण स्वरूप में ही उपलब्ध होती है। दिवङ्गत आचार्य श्री यादवजी महाराज के निर्देशानुसार सूत्रस्थान के सत्ताइस अध्याय पर्यन्त बम्बई के रायल एशियाटिक सोसाइटी में उपलब्ध है। इन दिवङ्गत आचार्य को आयुर्वेद के अनेक ग्रंथों के सम्पादन का प्रचार और प्रसार का श्रेय है। वास्तव में कहा जाय तो इन्होंने भी आयुर्वेद साहित्य की महती सेवा की है। इनके प्रयत्न से तत्त्वचन्द्रिका के कुछ-कुछ अंश "निर्णयसागर मुद्रणालय" से प्रकाशित चरकसंहिता में पादटिप्पणी के रूप में देखने को उपलब्ध होते हैं। उनके देखने से ऐसा आभास होता है कि इस टीका ने आयुर्वेददीपिका को और प्रदीप्त किया है।

श्री शिवदास सेन का भी जन्म बङ्गाल प्रान्त के 'मालञ्चिका' ग्राम में श्रीमान् अनन्त सेन के यहां पुत्ररूप में हुआ। ये बार्बक शाह के दरबार में रहते थे। जिसका शासन काल सन् १४५७ से १४७४ ई० तक रहा है। अत एव इसी के समकालीन हमारे शिवदास सेन रहे होंगे। इनकी टीका-चक्रपाणि के सभी ग्रन्थों पर हुई होगी। इन्होंने जो अपना परिचय चक्रदत्त और द्रव्यगुणसंग्रह की व्याख्या के अन्त में दिया है, उससे ऐसा अनुमान होता है। इस प्रकार इनकी विरचित चार पुस्तकें उपलब्ध होती हैं—चरक की तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, चक्रदत्त की तत्त्वचन्द्रिका व्याख्या, द्रव्यगुणसंग्रह व्याख्या और अष्टाङ्गहृदय के उत्तर तन्त्र पर अष्टाङ्गहृदय तत्त्वबोध व्याख्या। उत्तर तन्त्र की टीका श्री स्वामी लक्ष्मीरामनिधि द्वारा प्रकाशित कराई गई है। इससे यह सम्भावना की जा सकती है कि सम्पूर्ण अष्टाङ्गहृदय पर उन्होंने टीका की होगी जो कालप्रवाह में लुप्त हो गई।

(५) *कविराज गङ्गाधर जी की जल्पकल्पतरु व्याख्या*—यह यथा नाम तथा गुण वाली है। सम्पूर्ण संहिता पर आद्योपान्त रूप में उपलब्ध इस विस्तृत टीका का भाव सामान्य संस्कृतज्ञ की समझ में आना सर्वथा दुरूह है।

(६) *कविराज योगीन्द्रनाथ सेन विरचित चरकोपस्कार व्याख्या*—यह व्याख्या चिकित्सास्थान के तेरहवें अध्याय तक ही की पूर्ण जा सकी। भाषा अत्यन्त सुबोध और स्पष्ट है।

(७) हिन्दी टीकायें—चरक पर हिन्दी की अनेक टीकायें भी उपलब्ध हैं। इनमें श्री जयदेव विद्यालङ्कार कृत टीका सर्वोत्तम है। हाल में चौखम्बा वाराणसी से प्रकाशित हिन्दी टीका भी ठीक है। भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं यथा गुजराती, बङ्गाली आदि में भी इस ग्रन्थ पर टीकायें की गई हैं जो मुद्रित रूप में उपलब्ध होती हैं।

चरकसंहिता का संक्षिप्त पर्यालोचन

चरकसंहिता में ८ स्थान, १२० अध्याय और १२ हजार श्लोक हैं। सूत्र-स्थान में तीस अध्याय हैं। ४-४ अध्यायों का एक चतुष्क बनाया गया है। प्रथम चार अध्यायों का भेषज चतुष्क, द्वितीय ४अध्यायों (अर्थात् ५ से८ तक) का स्वस्थ चतुष्क, तृतीय समूह का निर्देश चतुष्क, चतुर्थ का कल्पना चतुष्क, पञ्चम का रोग चतुष्क, षष्ठ का योजना चतुष्क और सप्तम का अन्नपान चतुष्क नाम दिया गया है। यह वर्गीकरण विषय को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसमें वर्णित विषयों की संक्षिप्त सूची लगा दी गई है।

प्रथम अध्याय में आयुर्वेद की प्रवृति, उसकी परिभाषा, आयु का लक्षण बताने के बाद षट्पदार्थनिरूपण किया गया है। दोषों और द्रव्यों के वर्णन के साथ भेषजचतुष्क प्रारम्भ हो जाता है। औषध में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का वर्णन प्रथम अध्याय में किया गया है। द्वितीय अध्याय का औषधिवर्णन पञ्चकर्म के दृष्टिकोण से है। तृतीय अध्याय में किया गया वर्णन व्याधिहरत्व के दृष्टिकोण से है और चतुर्थ अध्याय का वर्णन कल्पनाओं के ऊपर आधारित है।

इसके बाद दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या का ऐसा विवरण उपस्थित किया गया है कि तदनुसार आचरण करने से मनुष्य कभी बीमार हो ही नहीं सकता। आचार रसायन का पालन करने से शारीरिक सुख के साथ ही साथ मानसिक और आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति भी हो सकती है। तृतीय निर्देश चतुष्क में रोग की परिभाषा, रोगप्रशमनार्थ वैद्य-परिचारक-औषध और आतुर के लिये आवश्यक योग्यतायें, रोगोत्पत्ति के कारण एवं दोषों के लक्षणादि पर विचार किया गया है। पञ्चकर्म की व्यवस्था का वर्णन और उसके सम्पादन की विधि का निर्देश कल्पना चतुष्क में किया गया है। रोग चतुष्क में रोगों के नाम, लक्षण, सम्प्राप्ति का वर्णन मिलता है। योजना चतुष्क में रोगों को चिकित्सा विधि और अन्नपान चतुष्क में आहारौषध द्रव्यों के गुण-धर्मों का विवेचन किया गया है। उन्तीसवें अध्याय में वैद्य का

लक्षण और तीसवें अध्याय में हृदय, आयु आदि की व्याख्या के साथ ही साथ सम्पूर्ण संहिता की एक अनुक्रमणिका प्रस्तुत की गई है।

निदानस्थान में ८ अध्याय हैं जिनमें क्रमशः ज्वर, रक्तपित्त, गुल्म, प्रमेह कुष्ठ, शोष, उन्माद और अपस्मार के हेतु, पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति आदि पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। विमानस्थान में भी ८ ही अध्याय हैं। प्रथम अध्याय रसविमान है जिसमें दोषों के प्रकोपक और प्रशमक रसों का वर्णन, दोषप्रकोपक और प्रशमक द्रव्यों का वर्णन, आहारविधिविशेषायतन और उसकी प्रशस्तगुणयोगिता का वर्णन है। द्वितीय अध्याय त्रिविध कुक्षीय विमान में अत्यधिक मात्रा में गुरु द्रव्यों के भोजन से उत्पन्न रोगों विसूचिका, अलसक और विलम्बिका का वर्णन है। तृतीय अध्याय का नाम जनपदोपद्ध्वंसनीय है जिसका अर्थ होता है मरकरूप में फैलने वाले रोग। इसमेंबताया गया है कि देश-काल-वायु और जल की दुष्टि से इस प्रकार के संहारक रोगों की उत्पत्ति होती है। यदि इस समय रोगप्रतिबन्धक औष-धियों का प्रयोग किया जाय तो मनुष्य रोगी नहीं हो सकता। प्रतिबन्धन के लिये पञ्चकर्म का प्रयोग, रसायन सेवन (इन सब प्रयोगों के लिये देश कालादि के प्रदुष्ट होने से पूर्व ही औषधसंग्रह कर लेने का विधान है) सद्वृत्तानुष्ठान तथा महामारीग्रस्त स्थान के परित्याग का विधान किया गया है जनपदोवंसक हेतु, पूर्वरूप और लक्षणों पर भी बड़ा अच्छा प्रकाश डाला गया है। अधर्म को प्रधान हेतु बताया गया है। साथ ही साथ इस बात का विचार किया गया है कि मनुष्य की आयु की निश्चिति जन्मकाल से ही होती है अथवा उसमें वृद्धि-ह्रास भी हो सकता है। अन्त में बताया गया है कि पथ्यसेवा ही आयु का परिपालक है। प्रसंगोपात्त रूप से ज्वर की अवस्था में उष्णोदकानुपान के गुण, शीतसमुत्थ रोगों में उष्णोपचार और उष्णसमुत्थ रोगों में शीतोपचार का निर्देश अर्थात् व्याधिविपरीत चिकित्सा की सार्थ-कता, अपतर्पण चिकित्सा के भेद तथा त्रिविध देश के लक्षण भी बताये गये हैं।

चौथे अध्याय का नाम 'त्रिविध-रोग-विशेष-विज्ञानीय' है। इसमें बताया गया है कि आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान से रोगों को पहचाना जाता है। इन तीनों में से आप्तोपदेश रोग के ज्ञान (Theoritical) के लिये और प्रत्यक्ष अनुमान रोगी के परीक्षा के लिये प्रयुक्त होते हैं। आप्तोपदेश के द्वारा हमें यह बोध होता है कि रोग की परिभाषा क्या है उसके प्रकोपक निदान क्या है कौन सा दोष उसमें प्रधान है। हेतु पूर्वरूप, रूप, अधिष्ठान, वेदना, सम्प्राप्ति और वृद्धिक्षयादि का ज्ञान होता है। रोगी की परीक्षा पञ्च-

ज्ञानेन्द्रियों और प्रश्न के सहारे करनी चाहिये। अनुमान से अग्नि, बल और मनोभावों की परीक्षा की जाती है।

पांचवाँ अध्याय 'स्रोतोविमान' नामक है। इसमें प्रतिपादित किया गया है कि शरीर में जितने धातु-मल या इस प्रकार के अन्य भाव हैं उन सबके लिये अलग-अलग स्रोत हैं। इन्हीं में एक धातु की दूसरे में परिणति भी होती है और उसका संवहन किया जाता है। मुख्य लक्षण, स्रोतों के नाम, उनको दुष्टि करने वाले निदान, दुष्टिज लक्षण, आदि का वर्णन किया गया है। संक्षेप में चिकित्सा भी निर्दिष्ट की गई है।

छटा अध्याय 'रोगानीक विमान' है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों यथा प्रभाव, बल, अधिष्ठान, निमित्त, आशयादि के भेद से रोगों का वर्गीकरण किया गया है। व्याधियों के असीमित और दोषों के परिसीमित होने से सुविधा के लिये दोषों को ही रोगों का हेतु माना गया है। दोषप्रकोपक हेतुओं, प्रकुपित दोषों का प्रधान गौणभाव, दोषानुसार प्रकृति का निर्माण और दोष और प्रकृति के भेद से अग्निबल के चार प्रकारों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। सातवें (व्याधिरूपीय विमान) में किस व्यक्ति को गुरु व्याधितऔर किसे लघुव्याधित समझे यह बताया गया है। इस प्रकार के वैषम्यमें सत्त्वबल की कारणता के साथ क्रिमियों के भेद, उनके अधिष्ठान और चिकित्सा तथा पुनरुत्पत्ति न हो, इसके उपायों का वर्णन है।

आठवाँ अध्याय 'रोगभिषग्जितीय विमान' है। इसमें वैद्य बनने वाले के लिये शास्त्र की परीक्षा, गुरु की परीक्षा, अध्ययन-अध्यापन विधि, सम्भाषा (वाद-विवाद) विधि, सम्भाषा-परिषद् का स्वरूप आदि के साथ-साथ उसमें प्रयुक्त होने वाले प्रश्नों, स्थापना, प्रतिष्ठापन, हेतु-दृष्टान्त-उपनय-सिद्धान्त आदि पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। चिकित्सा का उद्देश्य, चिकित्साफल की उपलब्धि के समय किन-किन लक्षणों के आधार पर रोगविमुक्ति मानना, रोगी की प्रकृति के ज्ञापक लक्षणों का वर्णन, सार-संहनन-प्रमाण-सात्म्य-सत्त्व-बय आदि का वर्गीकरण, पञ्चकर्म कराने के समय और तदर्थ प्रयुक्त की जाने वाली औषधियों का इसमें विस्तृत वर्णन मिलता है।

चौथे स्थान का नाम 'शारीरस्थान' है। इसमें भी आठ ही अध्याय हैं। प्रथम अध्याय को 'कतिधा पुरुषीय' संज्ञा दी गई है। इसमें शिष्य अग्निवेश ने गुरु आत्रेय से पुरुष की उत्पत्ति के संबन्ध में तथा अन्य विशिष्ट विषयों से संबद्ध तेईस प्रश्न किये, जिनका उत्तर दिया गया है। पहला प्रश्न है कि धातुभेद से पुरुष कितने प्रकार के हो सकते हैं। इसके उत्तर में उसे षट्धात्वात्मक केवल चेतनामय अथवा २४ धात्वात्मक बताया गया है। इस रहस्य को

जान लेने से न केवल शरीरदुःखों का नाश हो जाता है अपितु मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा बताया गया है। दूसरा प्रश्न है कि आत्मा (पुरुष) शरीर से संबद्ध सभी भावों का कारण क्यों है ? इसका उत्तर दिया गया है कि यदि आत्मा न हो तो अचेतन शरीर को ज्ञान-अज्ञान, सच-झूठ, सुख-दुःख आदि का ज्ञान ही न होने पावेगा। तीसरा प्रश्न है कि इस आत्मा का उत्पादक कौन है ? इसका उत्तर दिया गया है कि यह तो अनादि है। मोह, इच्छा, द्वेष और सदसत् कर्म के कारण शरीर के बन्धन में आता और मुक्त होता है। इस तरह के अनेक आध्यात्मिक प्रश्नोत्तरों के साथ ही साथ रोगोत्पत्ति क्यों होती है ? इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय का नाम 'अतुल्यगोत्रीय शारीर' है। इसमें गर्भ की उत्पत्ति कैसे होती है, पुत्र क्यों होता है ? कन्या और नपुंसक कैसे होते हैं आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है। सद्योगृहीत गर्भा के लक्षण बताये गये हैं। गर्भ में विकृति किन-किन कारणों से उत्पन्न होती है तथा आत्मा एक देह से दूसरे देह को कैसे प्राप्त होता है, इसका भी विवेचन इस प्रसङ्ग में किया गया है। इस अध्याय में भी रोगोत्पत्ति के कारणों का वर्णन किया गया है और ऋतु के प्रभाव से उत्पन्न दोषों का शोधन कब करना चाहिये इसे स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय में ३६ प्रश्नों और उनके उत्तरों का संग्रह है।

तीसरा अध्याय 'खुड्डीका गर्भावक्रान्ति' और चौथा 'महती गर्भावक्रान्ति' है। खुड्डीका का अर्थ होता है अल्प, गर्भ के स्थित हो जाने पर उसका विकास किन-किन कारणों से होता है, यह विषय इसमें विवेचित किया गया है। गर्भ को मातृज, पितृज, सात्म्यज, रसज और सत्त्वज बताया गया है। इसीमें भरद्वाज नामक एक परवर्ती (न कि आयुर्वेद प्रवर्तक) आचार्य के मत को पूर्वपक्ष के रूप में और पुनर्वसु आत्रेय का मत सिद्धान्त पक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है। भूतों की चार प्रकार की जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज् योनि बताई गई है 'महती गर्भावक्रान्ति' में गर्भ की कैसे-कैसे वृद्धि होती है, कौन-कौन अवयव मातृज है और कौन पितृज, किन-किन महाभूतों से किन किन गुणों और अङ्गों की उत्पत्ति होती है, गर्भ का उपघात कैसे हो जाता है, दोषों का गर्भ की दुष्टि में कारणत्व सत्त्व-रज-तम दोषों के अनुसार मानसिक प्रकृति की उत्पत्ति आदि का वर्णन है।

पाँचवाँ अध्याय 'पुरुष विचय शारीर' है। इसमें पुरुष में और लोक में समानता बताई गई है। इसके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपों का वर्णन किया गया है। प्रवृत्ति और निवत्ति के ऊपर भी इसमें प्रकाश

डाला गया है। 'शरीर विचय शारीर' नामक छठे अध्याय में शरीर के उपचय और विनाश का कारण, शारीरधातुओं के गुण और उनके वर्धक भाव धातुक्षय की अवस्था के आहारौषध और शरीरवर्धक, बलवर्धक, आहार परिणामकारक भावों को बताया गया है। आहार का परिपाक होने पर उससे शरीर का पोषण किस प्रकार होता है इसपर भी संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। गर्भ का पहले कौनसा अङ्ग उत्पन्न होता है, वह गर्भाशय में किस प्रकार अवस्थित रहता है, गर्भाशय से बाहर कैसे आता है, आदि विषयों का भी इस अध्याय में वर्णन है। काल और अकाल मृत्यु तथा कलियुग के लिये सौ वर्ष का आयुप्रमाण भी निर्धारित किया गया है।

सातवाँ अध्याय 'शरीरसंख्या शारीर' है। इसमें अवयवों का विभाग करके उनका वर्णन किया गया है। त्वचा, कला, इन्द्रियों, कोष्ठाङ्गों, अङ्ग-प्रत्यङ्गों के साथ-साथ धमनी, सिरा, स्नायु, पेशी और रस, रक्तादि धातुओं का भी प्रमाण बताया गया है। शरीर का परमाणुभेद (Cellular) से भी वर्णन किया गया है। इनके गुणों के अनुसार पाञ्चभौतिकता की सत्ता को प्रतिपादित किया गया है। इस ज्ञान का फल मोक्षप्राप्ति है।

आठवां अध्याय 'जातिसूत्रीय' है। आदर्श सन्तति को कैसे उत्पन्न करना यह इस अध्याय में बड़े स्पष्ट एवं अनुपम ढंग से प्रतिपादित किया गया है। ऋतुकालिक चर्या, समागम की विधि, इच्छानुरूप वर्ण-आकृति-सत्त्व आदि की उत्पत्ति के उपाय, पुंसवन कर्म, गर्भस्थापक और गर्भव्याघातकर भावों का वर्णन, गर्भिणी की परिचर्या, चिकित्सार्थ किन-किन औषधियों का प्रयोग करे, गर्भ के मृत हो जाने के लक्षण, गर्भ निर्विकार रूप में बढ़ता रहे उसके लिये प्रतिमास की चर्या, सूतिकागार के उपकरण, प्रसव कालीन उपचार, जातकर्म, सूतिका के पथ्य औषध, कुमार की चिकित्सा, शुभाशुभ लक्षणों के आधार पर शिशु का भविष्यज्ञान, धात्री के गुणदोष आदि का इस अध्याय में विस्तृत विवेचन है।

पांचवां स्थान 'इन्द्रियस्थान' है, इसमें १२ अध्याय हैं। इस प्रकरण में रोगी के साध्यासाध्यत्व का विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में आयु-प्रमाण जानने के लिए जिन बातों की परीक्षा करे उनमें से वर्ण, स्वरादि का निर्देश किया गया है। इनमें से कुछ भाव रोगी में अवस्थित होते हैं और कुछ उससे संबद्ध होते हैं जैसे दूत, शकुन आदि पुरुषाश्रित भावों को प्रकृति और विकृति के दृष्टिकोण से देखना चाहिये। अत एव इस अध्याय में वर्ण स्वरादि के प्राकृत-वैकृत लक्षणों का व्याख्यान किया गया है।

दूसरे अध्याय का नाम 'पुष्पितक इन्द्रिय' है। इसमें गन्ध और रस के आधार पर अरिष्ट का विवेचन किया गया है। तीसरे 'परिमर्शनीय' अध्याय में स्पर्श के लक्षणों के द्वारा अरिष्ट का ज्ञान कराया गया है। चौथा अध्याय 'इन्द्रियानीक' है। इसमें पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विपरीत अर्थ-ग्रहण को देखकर मरणख्यापक लक्षण जाने जाते है। पांचवाँ अध्याय 'पूर्वरूपीय इन्द्रिय' है, इसमें ज्वरादि व्याधियों के पूर्वरूप को रोगी में उत्पन्न होते देखकर उसको इस व्याधि से छुटकारा मिलेगा कि नहीं ऐसा जाना जा सकता है। इसमें कुछ स्वप्नों का भी वर्णन है जिनके आधार पर अरिष्ट जाना जा सकता है। छठे 'कतिमानि शरीरीय' अध्याय में रोगों के लक्षणों के आधार पर उनको असाध्यता का परिचय कराया गया है।

सातवाँ अध्याय 'पन्नरूपीय इन्द्रिय' है। इसमें छाया की विकृति से अरिष्ट के अनुमान लगाने का प्रयत्न किया गया है। आकाशादि पांचों भूतों के अनुसार छाया के भी पाँच प्रकार होते हैं। इसी प्रकार प्रभा और प्रतिच्छाया के भेद तथा उनके विकारों का वर्णन किया गया है। कामला, ग्रहणी आदि रोगों के असाध्यताख्यापक लक्षणों को बताया गया है। आठवें अध्याय का नाम 'अवाक् शिरसीय इन्द्रिय' है। इसमें शिर, नेत्र, पक्ष्म, केश, नासा, दन्त आदि को देखकर साध्यासाध्यता का अनुमान लगाया जाता है। नवां अध्याय 'यस्य श्यावनिमित्तीय' है। इसमें नेत्र, नख, हस्त, पादादि की श्यावता को देखकर वातव्याधि, मधुमेह आदि रोगों में अरिष्ट का निश्चय किया जाता है। दशवाँ अध्याय 'सद्योमरणीय' है, इसमें ऐसे लक्षणों का वर्णन है जिनकी उपलब्धि होवे तो वैद्य को समझ जाना चाहिये कि अब रोगी बहुत शीघ्र मरने वाला है। ग्यारहवें अध्याय का नाम 'अणु-ज्योतीय' है। इसमें ऐसे लक्षणों का सङ्कलन है जिनकी उपलब्धि होने पर मनुष्य एक वर्ष के अन्दर ही मर जाता है अर्थात् मृत्युकाल यदि एक वर्ष आगे आने वाला है तो भी इन लक्षणों के आधार पर उसका अनुमान लगाया जा सकता है। अरिष्ट की परिभाषा इसमें बताई गई है।

बारहवां अध्याय 'गोमयचूर्णीय इन्द्रिय' है। इसमें उन लक्षणों का उल्लेख है जो रोगी की आयु १५ दिनों से १ मास मात्र अवशिष्ट बताते हैं। साथ ही दूत, शकुन आदि के आधार पर भी साध्यासाध्यता के विनिश्चय करने का वर्णन है। कुछ ऐसे अन्य सामान्य लक्षणों का वर्णन किया गया है जिनके उत्पन्न होने के साथ ही साथ मृत्यु की छाया पड़ना शुरू हो जाती है।

इस संहिता का छठा स्थान चिकित्सास्थान है। प्रथम रसायन और द्वितीय वाजीकरण का अध्याय है। दोनों के प्रारम्भ में रसायन और वाजी-

करण के गुण और जिनमें इसका प्रयोग करना चाहिये उनकी योग्यता का वर्णन किया गयाहै। प्रत्येक अध्याय में ४-४ पाद हैं और हर एक पाद में कुछ विशिष्ट योगों का उल्लेख है। इससे आगे व्याधियों के निदान, चिकित्सा आदि का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में ज्वर, चौथे में रक्तपित, पांचवें में गुल्म, छठे में प्रमेह, सातवें में कुष्ठ, आठवें में राजयक्ष्मा, नवें में उन्माद और दसवें में अपस्मार के निदान-पूर्वरूप-रूप-सम्प्राप्ति-चिकित्सा पथ्यापथ्य आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ तक उन व्याधियों का अन्त हो जाता है जिनके नाम निदानस्थान में गिनाये गये हैं और जिनके निदानादि का वहाँ भी विवेचन किया गया है। इसके आगे कुछ ऐसी व्याधियों के हेतु-लक्षण-चिकित्सादि का वर्णन है जिनका निदानस्थान में उल्लेख नहीं मिलता। ग्यारहवें अध्याय में क्षतक्षीण का वर्णन किया गया है।

बारहवें अध्याय में शोथ, तेरहवें में उदर, चौदहवें में अर्श, पन्द्रहवें में ग्रहणी, सोलहवें में पाण्डुरोग, सतरहवें में हिक्का और श्वास, अठारहवें में कास, उन्नीसवें में अतिसार, बोसवें में छर्दि, इक्कीसवें में विसर्प, बाइसवें में तृष्णा, तेइसवें में स्थावर जङ्गम और गर विष, चौबीसवें में मदात्यय, पच्चीसवें में व्रण, छब्बीसवें में बस्ति हृदय और शिर के रोगों के साथ ही साथ उदावर्त, प्रतिश्याय, नासा-नेत्र-कर्ण विकारों; सत्ताइसवें में उरुस्तम्भ, अट्ठाइसवें में वातव्याधि, उन्तीसवें में वातरक्त और तोसवें अध्याय में योनिव्यापत् के निदान, लक्षण, सम्प्राप्ति, चिकित्सा आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस प्रकार तीस अध्यायों में यह चिकित्सास्थान समाप्त होता है।

इस चिकित्सास्थान के सतरह अध्याय और आगे के कल्प एवं सिद्धि स्थान दृढ़बल संपूरित हैं। इन दोनों स्थानों में ही बारह-बारह अध्याय हैं। कल्पस्थान के प्रथम ६ अध्यायों में वमनोपयोगी द्रव्यों और अन्तिम ६ अध्यायों में विरेचनोपयोगी द्रव्यों के विभिन्न कल्पों का समावेश किया गया है। वामक द्रव्यों में मदनफल, जीमूत, इक्ष्वाकु, धामार्गव, वत्सक और कृत-वेधन का वर्णन किया गया है। विरेचनार्थ श्यामा त्रिवृत्, चतुरंगुल, तिल्वक सुधा,सप्तला-शङ्खिनी, और दन्ती द्रवन्ती का निर्देश है। वामक एवं विरेचक औषधों के पाञ्चभौतिक संघटन के आधार पर उनमें विशिष्ट गुणोत्पत्ति तथा तदनुसार कार्मुकत्व का विवेचन करते हुए देश, कालादि के अनुसार ६०० विरेचक योगों का निर्माण किया गया है। वमनार्थ मदनफल के कषाय, चूर्ण, लेह आदि के रूप में १३३ योग, जीमूतक के ३९, इक्ष्वाकु के ४५, धामा-

र्गव के ६०, वत्सक के १८ और कृतवेधन के ६० कल्प बताये गये हैं। इसी तरह विरेचक कल्पों में भी केवल श्यामा त्रिवित् के ११० योग बताये गये हैं। वैद्य को निर्देश दिया गया है कि वह इनकी हजार, लाख या असंख्य तक कल्पनायें दोषादि के अनुसार बना सकता है। अन्त में बारहवें अध्याय का उपसंहार करने से पूर्व मानपरिभाषा बताई गई है।

सिद्धिस्थान में भी बारह अध्याय हैं। प्रथम कल्पनासिद्धि अध्याय में स्नेह काल, उसका फल, संसर्जनक्रम, सम्यग् वान्तविरिक्त के लक्षण, अयोगातियोग के लक्षण, अनुवासन और निरूह का क्रम, ऋतु के अनुसार अनुवासन का विकल्प, दोषानुसार अनुवासन की संख्या, बस्ति के गुण, बस्तिसाध्य विकारों का परिगणन, बस्ति के अयोगातियोग का लक्षण और इस काल में परिहार करने योग्य बातों का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में पञ्चकर्म से संबद्ध उठाये गये बारह प्रश्नों और उनके उत्तर के रूप में उपर्युक्त विषयों का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय पञ्चकर्मीया सिद्धि का है। इसमें वमन-विरेचन-बस्ति के योग्य और अयोग्य लोगों के लक्षण बताये गये हैं। शिरोविरेचन पर भी प्रकाश डाला गया है। 'बस्ति-सूत्रीयासिद्धि' में बस्तियन्त्र का स्वरूप बताया गया है। किस प्रकार बस्ति दे, किस किस व्याधि में कितनी मात्रा में देना, वयोनुसार मात्रा का निर्धारण तथा बस्तिकर्म से संबद्ध सम्पूर्ण विधान का विवेचन है। 'स्नेहव्यापत् सिद्धि' नामक चतुर्थ अध्याय में रोगानुसार स्नेहबस्ति के विविध योगों और उनसे उत्पन्न होने वाली व्यापत्तियों की चिकित्सा का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में बस्ति नेत्र का प्रमाण और उसके विषम प्रणयन से उत्पन्न व्याधियों तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है। छठा अध्याय वमन-विरेचन-व्यापत् सिद्धि' का है। कैसी ऋतु में संशोधन करावे, शोधन से पूर्व स्नेहन करने से लाभ और न कराने से हानि, मात्रावत् औषध का स्वरूप, पेयादिक्रम का विधान, वेगनिग्रहजन्य रोग और उनकी चिकित्सा का इसमें विवेचन है। जिस प्रकार छठे अध्याय में वमन विरेचन व्यापत् का वर्णन है उसी प्रकार सप्तम अध्याय में 'बस्तिव्यापत्' और उसकी चिकित्सा का उल्लेख है। आठवें अध्याय में बस्तिद्रव्य की मात्रा और उसमें कौन कौन द्रव्य कितने प्रस्थ डाला जाय इसका वर्णन है। प्रसङ्गोपात्त रूप में अतिसार के भेद और चिकित्सा का भी इस अध्याय में वर्णन है।

नववें अध्याय में हृदय, शिर, और बस्ति विकारों की चिकित्सा का वर्णन है। अपतन्त्रक, मूत्रकृच्छ्र, वाताष्ठीला आदि मूत्रसंस्थान के १३ विकारों, उनमें उत्तर बस्ति प्रयोग, शिर के विकार, सूर्यावर्तआदि में शिरोविरेचन, नस्यकर्म

आदि का प्रयोग बताया गया है। दसवें अध्याय में मुख्य-मुख्य बस्तियोगों का विवेचन है। ग्यारहवें अध्याय में बस्तिद्रव्यों में मदनफल की प्रधानता का दिग्दर्शन है। बारहवें अध्याय में संसर्जनक्रम की विशेषता, उसका क्रम, स्वस्थ न हो पाने तक परिहार्य बातों का उल्लेख, किस-किस रोग में कौन कौन सी बस्ति देनी चाहिये, एवं रसायन और स्नेह बस्तियों का वर्णन है। अन्त में तन्त्रयुक्तियाँ बताई गई हैं।

सम्यक्शास्त्राभ्यास का फल और इस तन्त्र का अनुशीलन करने का फल बताते हुए आचार्य दृढ़बल ने कहा है कि जिसको इस संहिता का सम्यक् ज्ञान हो, वह अवश्यमेव चिकित्साकुशल होता है। इस तन्त्र में जो विषय है उसी का संक्षेप विस्तारपूर्वक अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादन किया गया है और जो विषय यहां नहीं वर्णित है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।

वास्तव में इस ग्रन्थ की जितनी भी व्याख्या की जाय उतना ही अल्प होता है तथापि कतिपय पृष्ठों में इसके सारोद्धरण का प्रयत्न किया गया है। विस्तार से यदि जानना हो तो मूल ग्रन्थ का ही आलोडन करना पड़ेगा।

भेलसंहिता

इसकी रचना महर्षि भेल ने की है जो अग्निवेश के सहाध्यायी और महर्षि पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य थे। इनका उल्लेख कहीं कहीं भेड नाम से भी किया गया है। खोतान में प्राप्त 'बावर मैनुसक्रिप्ट' के एक ग्रन्थ 'नावनीतकम्' में भेल के नाम का भी उल्लेख मिलता है। बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय में महर्षि अत्रि की परम्परा में कृष्णात्रेय का उल्लेख मिलता है, इनका उल्लेख भेल ने भी स्वकीय गुरु के रूप में किया है अत एव सिद्ध होता है कि भेल का काल विक्रम से २५०० वर्ष पूर्व होगा। किन्तु इनके माता-पिता और निवासस्थान आदि के बारे में कुछ भी अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि ग्रन्थ में इस प्रकार का कोई उल्लेख हो नहीं मिलता।

अग्निवेश तन्त्र के समान इस संहिता का न तो किसी ने प्रतिसंस्कार ही किया और न तो इसके उद्धरण ही व्यापक रूप में अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं, इससे इस बात की पुष्टि होती है कि इसका प्रचार उतने व्यापक रूप में न था जितना कि अग्निवेश तन्त्र का रहा होगा। काश्यपसंहिता में बस्ति (सि. १ अ.) प्रकरण में जो भेल का वचन उद्धृत किया गया है उस मत के विपरीत ही उल्लेख भेलसंहिता में उपलब्ध होता है, अत एव इस विसंवाद को देखकर यह शंका होती है कि क्या कोई अन्य ग्रन्थ था जिसका उद्धरण

काश्यप ने भेल के नाम से दिया ? अथवा इस संहिता के त्रुटित होने के कारणपरस्पर भिन्न दोनों मतों का आचार्य ने स्वयं समाधान किया होगा किन्तु वह आज दृष्टिगोचर नहीं हो पा रहा है।

रचना की दृष्टि से चरकसंहिता और भेलसंहिता दोनों में पर्याप्त समानता है। स्थानों के नाम और अध्यायों की संख्या दोनों में प्रायः समान ही है। यद्यपि उपलब्ध ग्रन्थ में कल्प के ९ और सिद्धि के ८ ही अध्याय मिलते हैं तथापि उनके १२-१२ होने का अनुमान इसलिए होता है कि दोनों सहाध्यायियों ने एक ही गुरु के उपदेश का उपनिबन्धन किया तो प्रवचनानुसार कम से कम गणित की दृष्टि से एकरूपता अवश्य रहनी चाहिये। यद्यपि अध्याय नाम और उनके क्रम में विभेद है तथापि कहीं कहीं समश्लोकी रचना भी मिलती है। इससे भी अध्यायसंख्या को समान करने के लिये बल मिलता है। इतना सब होते हुए भी सहाध्यायी होने के कारण कहीं कहीं दोनों आचार्यों के मतों में बिल्कुल विरोध भी देखने को आता है और कहीं-कहीं तो भेल का प्रतिपादन अधिक उत्कृष्ट प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ—

(१) त्रिफलारसायन के प्रकरण में अग्निवेश (चरक)ने भोजनोत्तर घृत-मधु से ४ आमलक (चूर्ण) खाने का विधान बताया है तो भेल कहते हैं कि भोजन से पूर्व ही आमलक का सेवन करना चाहिये।

(२) पालकाप्यसंहिता के समान ही भेलसंहिता में भी विभिन्न प्राणियों में प्राप्त होने वाले ज्वर के अलग-अलग नाम दिये गये हैं। अग्निवेश (उपलब्ध चरक) संहिता में ऐसा नहीं मिलता।

(३) पाँच प्रकारके पित्तों में से प्रथम आलोचक पित्त का भेल ने गुरुपदेश के रूप में दो विभाग करके उल्लेख किया, एक चक्षुर्वैशेषिक और दूसरा बुद्धिवैशेषिक यह वर्णन किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध ही नहीं होता। इसी प्रकार जठराग्नि का वर्णन और उसका परिमाण कथन इस ग्रन्थकार की अपनी विशेषता है अथवा इन्होंने गुरूपदेश को इसी रूप में ग्रहण किया यह ठीक नहीं कहा जा सकता।

संहिता का स्वरूप—यद्यपि वाग्भट ने भेल का उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया है और उसे चरक तथा सुश्रुतसंहिता के समान आदर प्रदान किया है किन्तु संप्रति उपलब्ध संहिता वैसी नहीं प्रतीत होती। इससे इस बात का अनुमान होता है कि अष्टाङ्गसंग्रह के निर्माण काल में यह परिपूर्ण सर्वाङ्गावयव रही होगी। काल के थपेड़े ने इसे जर्जर कर दिया। अब तक यह दो प्रकाशन का अनुभव कर चुकी है। इनमें से हमारे सहकर्मी स्वर्गीय श्री

गिरिजादयालु शुक्ल जी द्वारा सम्पादित संस्करण पूर्वापेक्षया अधिक स्पष्ट है। इसमें सूत्रस्थान के प्रारम्भ तीन अध्यायों का और अन्तिम दो अध्याओं का नामोनिशान ही नहीं मिलता। पाँच अध्यायों के नाम अनुपलब्ध हैं किन्तु वर्णन को देखने से यह प्रतीत होता है कि उनमें कुष्ठचिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है जो चरक के आरग्वधीय (च. सू. ३) अध्याय के समान प्रतीत होता है। इसमें विविध चूर्णों, प्रदेहों, वमन और सिरामोक्ष का विधान बताया गया है। खदिर को मुख्यरूप से कुष्ठघ्न बताया गया है।

भेल का पाँचवाँ अध्याय 'अत्यशितीय' नामक है। इसमें युक्तियुक्त आहार के गुण और अतिभोजन से उत्पन्न दोषों का वर्णन है। लाघव-गौरव को मात्रा और द्रव्य के आश्रित बताया गया है। स्वभावतः लघु द्रव्य भी अधिक मात्रा में खाने से गुरु प्रभावकर होते हैं। इससे मिलता-जुलता वर्णन चरकसंहिता में 'मात्राशितीय' (सू. ५) अध्याय में है। भेल ने इसी अध्याय में सद्वृत्तानुष्ठान का भी उल्लेख किया है जो चरक के 'इन्द्रियोपक्रमणीय' (सू. ८) अध्याय के समान है। इसी स्थल पर भेल ने कफज रोगों में वमन, पित्तज में विरेचन, वातज में निरूह और रक्तज में सिरामोक्ष का निर्देश किया है।

छठा अध्याय 'न वेगान् धारणीय' है जो चरक का सातवां अध्याय है। भेल ने इसमें शौच, दन्तधावन, अभ्यंग और धूम्रपान का भी वर्णन किया है जो चरक के मात्राशितीय में ही गतार्थ हो जाता है। सातवाँ अध्याय भेल का 'इन्द्रियोपक्रमणीय' है जो चरक का नामसाम्य से आठवाँ अध्याय होता है किन्तु दोनों के वर्णनों में बड़ा भेद है। भेल ने इसमें स्त्रीसमागम का विविध दृष्टिकोणों से वर्णन किया है।

आठवाँ अध्याय 'मात्राशीतीय' है जो नाम की दृष्टि से चरक का पाचवाँ अध्याय है किन्तु विषयवर्णन की दृष्टि से यह छठे और आठवें अध्याय से भी अनुरूपता रखता है। अतः सायं भोजन, भोजनोत्तर धूम्रपान, शुष्क और पिष्टमय द्रव्यों का अल्पमात्रा में अभ्यवहरण, विषमासन, अत्यध्वगमन का परिवर्जन, निवात-सेवन, वर्षा ऋतु में क्वथित जलपान का विधान बताया गया है। भोजन से पूर्व आमलक, भोजनोत्तर हरीतकी और भोजन के पच जाने पर विभीतक के सेवन का गुण बताया गया है।

नवाँ अध्याय 'चतुष्पादभिषग्जितीय' है जो चरक के खुड्डाक और महाचतुष्पाद (सू० ९;१०) अध्यायों के समान है। इसमें औषध के भूतानुप्रवेश कृत गुण-धर्मों का विवेचन, उनकी प्रशस्तगुणयोगिता परिचायक लक्षण,

परिचारक, रोगी और वैद्य के गुणों का वर्णन किया गया है। दशवाँ अध्याय 'आमप्रदोषीय' नामक है, जिसके समान चरक की त्रिविधकुक्षीयविमान (२ रा) और ग्रहणीदोषचिकित्सित (१५वां) अध्याय है। इसमें अग्निदुष्टि के निदान, लक्षण, उपद्रव और चिकित्सा का वर्णन किया गया है। ग्यारवें अध्याय का नाम 'समाशनपरिधानीय' है। इसमें आहार के चार प्रकार, द्विविध परिपाक, रस से रक्तादि की उत्पत्ति, रसदुष्टि के कारण विसूचिका, अलसक, विलम्बिका, अन्येद्युष्कादि विषमज्वर, रक्तपित्त, रक्तार्श तथा रक्त-मांसादि दुष्टिजन्य रोगों का विवरण दिया गया है। चरक में ये प्रसङ्ग चिकित्सास्थान १५ और सूत्रस्थान २८ अध्यायों में वर्णित हैं।

बारहवाँ अध्याय 'आत्रेयखण्डकाप्यीय' नामक है जिसके तुल्य चरक का आत्रेयभद्रकाप्यीय (सूत्र २६) अध्याय है। इसमें मधुरादि रसों का विवेचन है। संयोगविरुद्ध द्रव्यों का परिगणन और उनके सेवन से उत्पन्न विकारों का विवेचन किया गया है। तेरहवाँ अध्याय 'जनपदविभक्तीय' नामक है, इसमें देशविशेष के लोगों के आहार-विहार और उससे उत्पन्न होने वाले रोगों के वर्णन के साथ साथ ज्वर का विशेष वर्णन है। चरक में इस प्रकार का वर्णन नहीं मिलता। चौदहवाँ अध्याय 'चिकित्साप्राभृतीय' है, इसमें स्नेहन-स्वदेन-वमन-विरेचन-संसर्जन आदि का क्रम तथा ऋतु के अनुकूल अनुपान का संक्षिप्त वर्णन है। चरक में यह विषय विस्तृत रूप से सूत्रस्थान १३, १४ और १६वें अध्यायों में बताया गया है। पन्द्रहवाँ अध्याय 'तिस्रैषणीय' है। चरक में इस नाम का उन्नीसवाँ अध्याय है। प्राणैषणा और धनैषणा दोनों में समान है। चरक की परलोकैषणा को भेल ने धर्मैषणा बताया है। आहार के परिणाम से बल और मल दोनों की उत्पत्ति होती है। मल यदि वातादि से दुष्ट हो जाये अथवा वह वातादि को दुष्ट करे तो रोगोत्पत्ति होती है, ऐसा भेल का मत है।

सोलहवां अध्याय 'वातकलाकलीय' जो चरक में बारहवां अध्याय है। इसमें वात के भेद और उसके कार्यों का उल्लेख है। सत्रहवाँ अध्याय दश-प्राणायतनीय है। चरक में इस नाम का उन्तीसवाँ अध्याय है किन्तु दोनों में विषयप्रतिपादन अन्य ही प्रकार का है। इसमें चतुर्विध अन्न का वात, पित्त, कफ, मल, मूत्र, स्वेद, ऊष्मा, स्तन्य, शुक्र और रक्त के रूप में परिणमित होकर प्राणायतन होना बताया गया है। इस संहिता में प्राप्त होने वाले अध्यायों की संख्या, मूलिनी-फलिनी क्षीरिणी औषधों की संख्या, ज्ञ और अज्ञ वैद्य के लक्षण बताये गये हैं। अट्ठारहवाँ अध्याय 'अन्नपानरक्षीय' है। इसमें विष-संसृष्ट अन्नपान के लक्षण, इसी प्रकार विष-जुष्ट वस्त्राभरण-आसन-शयन-

उपानह् लक्षण, विषपीत-विषदग्ध आदि के लक्षण बताये गये हैं। यह प्रकरण चरक में चिकित्सास्थान तेईसवें अध्याय में है। उन्नीसवाँ अध्याय 'विधिशोणितीय' है, चरक में इसका नाम चौबीसवें अध्याय में है किन्तु दोनों के वर्णन भिन्न भिन्न हैं। इस संहिता में मद्य को विदाही होने से रक्तप्रदूषक बताया गया है। मद्य के गुण-दोषों का विवेचन भी मिलता है। बीसवाँ अध्याय भेल में 'ऊर्ध्वदशमूलीय' है इसमें अर्थेदश महामूलीय (च.सू. ३०) के समान ही हृदय और धमनियों का वर्णन है। यह अध्याय अंशतः, इक्कीसवाँ पूरा और बाइसवें के प्रारम्भ का कुछ भाग अनुपलब्ध है।

तेईसवाँ स्वेदाध्याय, चौबीसवाँ गाढपुरीषाध्याय, पच्चीसवाँ ऋतुविभागीयाध्याय, छब्बीसवाँ अष्टोदरीयाध्याय, सत्ताईसवाँ अध्याय अन्नपानविधीय, और अट्ठाईसवाँ भोजनविधीय नाम वाला है। इस अध्याय का अन्तिम भाग और शेष २ अध्याय अनुपलब्ध हैं। स्वेदाध्याय प्रायः चरक (सू. १४ अध्याय) के समान ही है। गाढपुरीष के कारण स्रोतोवरोध होकर विभिन्न व्याधियों की उत्पत्ति का वर्णन और उसकी चिकित्सा का उल्लेख है। संशोधन के अयोग्य रोगियों का भी वर्णन है। पच्चीसवें अध्याय में स्वस्थ को औषधदान का निषेध, वातादि की विशेष चिकित्सा, विरेचनार्ह रोगी, कालानुसार अन्नौषध के गुण और अकाल के दुर्गुण आदि का उल्लेख है। अष्टोदरीयाध्याय में रोगों का वर्गीकरण है। सत्ताइसवें अध्याय में अन्नपान का गुण बताया गया है। अट्ठाइसवें अध्याय में भी द्रव्यगुण का ही विषय है।

निदानस्थान में प्रथम ज्वरनिदानाध्याय अनुपलब्ध है। द्वितीय क्षयनिदानाध्याय में साहसज, सन्धारणज, अतिमैथुनज और विषमाशनज क्षयों का ही वर्णन है। चौथा कासनिदानाध्याय और पाँचवाँ कुष्ठनिदानाध्याय भी खण्डित रूप में उपलब्ध होता है। छठा प्रमेहनिदान का अन्तिम अंश और सातवां उन्मादनिदान का प्रारम्भिक अंश अनुपलब्ध है। आठवाँ अपस्मार निदान ही परिपूर्ण है। आठवें अध्याय के अन्त में निदानस्थान की सूची दी गई है।

विमानस्थान का प्रथम अध्याय रसविमान है। इसमें रसो और दोषों के गुण, उनका साम्य-वैषम्य तथा दोषशामक द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् यह अध्याय, द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण रूप से और तृतीय अध्याय का प्रारम्भिक अंश खण्डित हो गया है। तृतीय अध्याय के उपलब्ध अंश में मन्दाग्नि, अत्यग्नि, विषमाग्नि (त्रिविध अग्नि) के लक्षण, चिकित्सा, त्रिविध भेषज, त्रिविध पाक, त्रिविध बल तथा वातादि की चिकित्सा का उल्लेख किया गया है। चौथा अध्याय रोगप्रकृतिविनिश्चयाध्याय है जो परिपूर्ण है।

इसमें आतुरपरीक्षाविधि, प्रकृतियों के निर्माण की विधि और उनके लक्षण का वर्णन किया गया है। पाँचवां अध्याय 'व्याधितरूपीय' है। इसमें गुरु, लघु व्याधि का विवेचन और आस्थापन के दो योगों का वर्णन है। उसके बाद यह अध्याय एवं छठा तथा सातवाँ अध्याय अनुपलब्ध हैं। आठवाँ ऋतु विमानाध्याय है। इसमें ऋतु के अनुसार धातुओं की क्षय-वृद्धि और ऋतुचर्या तथा तदनुसार दोषप्रकोप का वर्णन मिलता है। इसके बाद का प्रकरण अपूर्ण है। इसी के साथ साथ शारीरस्थान का प्रथम अध्याय और द्वितीय का प्रारम्भिक अंश लुप्त हो गया है।

शारीरस्थान द्वितीय अध्याय के अवशिष्ट अंश में अवस्था के क्रम से शुक्रादि के क्षय, बंध्यात्वचिकित्सा तथा इन्द्रियों के स्वस्वविषयों में प्रवृत्ति का वर्णन है। तृतीयाध्याय 'असमानगोत्रीय' (चरक का अतुल्यगोत्रीय शा. २ अ.) है। इसमें गर्भधारण और दोषों के कारण अधारण, स्त्री-पुं-नपुंसक-यमल-गर्भोत्पत्ति, विकृत गर्भोत्पत्ति और सात्विक-राजसतामस मनवाले सन्तान की उत्पत्ति का कारण बताया गया है। चौथा अध्याय 'पुरुष नियम' (चरक में पुरुष विचय) नामक है, जिसमें जाठराग्नि विवेचन, पित्त-के आलोचकादि भेद और उनके स्वरूप का विवेचन, जाठराग्नि परिमाण; अपस्मार रोग, सिराओं, गर्भोत्पत्ति आदि का वर्णन है। पाँचवाँ 'शरीर, विचयाध्याय' है, इसमें ओज और तेज के द्वादश स्थान, चतुर्विध योनियों, गर्भविकार और स्त्री-पुंगर्भ का कारण, प्रदरोत्पत्ति, लक्षणों के अनुसार गर्भ के स्त्री पुंनपुंसकत्व का परिज्ञान करना, षट्कायविवेक आदि वर्णित है। छठा अध्याय 'खुड्डिकागर्भावक्रान्ति' है जो चरक के इसी अध्याय के समान है। इसमें गर्भ को मातृज-पितृज-आत्मज-सात्म्यज और रसज बताया गया है। भेल और चरक दोनों के सातवें-आठवें अध्याय का नाम एक ही (शरीर-संख्या और जातिसूत्रीय) है। सातवें में शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की संख्या, आठवें में ऋतुमती और गर्भिणीचर्या का वर्णन है। आठवें अध्याय और इन्द्रिय स्थान के प्रथम अध्याय का कुछ अंश खण्डित मिलता है।

इन्द्रियस्थान प्रथम अध्याय के उपलब्ध अंश में १५ दिनों से लेकर सौ वर्ष तक की आयु वालों के लक्षण जातमात्र अवस्था को देखकर तथा आगे शरीरवृद्धि को देखकर निश्चित किया गया है। द्वितीय अध्याय स्वस्त्ययना-ध्याय' है जिसमें रोगी के लक्षणों से उसके स्वस्थ होने का अनुमान किया गया है। दूसरे का अन्तिम और तीसरे का आरम्भिक भाग खण्डित है। अवशिष्ट अंश में गतायु के लक्षण बताये गये हैं। चौथा 'सद्योमरणीयाध्याय' है। इसमें ऐसे लक्षण उद्धृत हैं जिन्हे देखकर तत्काल मृत्यु होने का अन्दाज

लगता है। पाँचवाँ अध्याय 'यस्यश्यावीय' है, इसमें भी निश्चित रूप से असाध्यताख्यापक लक्षणों का वर्णन है। छठे 'पूर्वरूपीय अध्याय में कुछ ऐसे लक्षणों का वर्णन है जिसके उत्पन्न होने से ही रोगी के मर जाने का अनुमान लगाना चाहिए। सातवाँ अध्याय 'इन्द्रियाणीक' है जो चरक के (चतुर्थ) अध्याय के समान है। इसमें मरणाख्यापक सामान्य लक्षणों का वर्णन है। आठवाँ 'दूता अध्याय' है, इसमें वैद्य को बुलाने गये हुए व्यक्ति की अशुभ चेष्टाओं, अपशकुनों आदि को देखकर अरिष्ट का अनुमान किया जाता है। नवाँ अध्याय गोमयचूर्णीय' है, उसमें १ माससे १ वर्ष तक के मृत्यु-कारी अरिष्टों का वर्णन है। दसवाँ 'छायाध्याय' है, इसमें बिकृत छाया वर्णन तथा विभिन्न रोगों के अरिष्ट जानने का वर्णन है। ग्यारहवें 'पुष्पीयाध्याय' में मरणसूचक स्वप्नों का और बारहवें 'अवाक् शीर्षीयाध्याय' में अरिष्टसूचक अन्य विशिष्ट लक्षणों का वर्णन है।

चिकित्सास्थान में प्रथम 'एकादशसर्पिष्काध्याय' है, इसमें समास व्यास से ज्वरचिकित्सा का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में विषम ज्वर चिकित्सा का वर्णन है। इसमें स्नेहनार्थ विविध घृतों का उल्लेख मिलता है। तीसरे 'रक्तपित्तचिकित्साध्याय' में उसके लक्षण और साध्यासाध्यता का वर्णन है। चौथा 'यक्ष्मचिकित्सिताध्याय' है। इसमें मोदक और तैल का विशेष वर्णन है। पाँचवाँ 'गुल्मचिकित्सिताध्याय' है जिसमें दशाङ्ग-दाधिक-षट्पल-क्षार घृतों का चिकित्सार्थ उल्लेख है। छठा अध्याय 'कुष्ठचिकित्सित' है। इसका अन्तिम भाग और सातवें 'प्रमेहचिकित्सित' का प्रारम्भिक भाग खण्डित है। कुष्ठ के निदान, लक्षण, भेद और कतिपय योगों के वर्णन में ही अध्याय समाप्त हो जाता है। प्रमेह के निदान और उनकी पृथक्-पृथक् चिकित्सा का वर्णन मिलता है। आठवां उन्मादचिकित्सित, नवां अपस्मार दसवां अतिसार, ग्यारहवां विसूची, बारहवां अर्दित, तेरहवां ग्रहणीदोषचिकित्सित, चौदहवां मूत्रकृच्छ्र, पन्द्रहवां उदर, सोलहवां ऊरुस्तम्भ, सत्रहवां विसर्प, अठारहवां अर्श, उन्नीसवां शोथ, बीसवां उदावर्त, इक्कीसवां हृद्रोग, बाइसवां कास, तेईसवां शिरोरोग, चौबीसवाँ अजीर्ण, पच्चीसवाँ निद्रा-अतिनिद्रा-निद्रानाश चिकित्सित, छब्बीसवां वात-व्याधि, सत्ताईसवां प्लीह-हलीमक, अट्ठाइसवां अपतन्त्रक, उन्तीसवां व्रण चिकित्सित और तीसवाँ अध्याय पानात्यय चिकित्सित है।

कल्पस्थान में मदन, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज, चतुरंगुल, दन्तीफल

शङ्खिनी और श्यामात्रिवृत् कल्पाध्याय (कुल ६ अध्याय) मिलते हैं। इसी प्रकार सिद्धिस्थान में वमनविरेचन शिरोविरेचनसिद्धि नामक प्रथम द्वितीय अध्याय के बाद तीसरा अध्याय खण्डित है। चौथा दशव्यापदीयवमन विरेचनसिद्धि, पाँचवां वस्तिमात्रीयसिद्धि, छठा उपकल्प सिद्धि सातवां फलमात्रासिद्धि, और आठवां दशव्यापटिका आस्थापनानुवासन सिद्धि नामक अध्याय है। दोनों ही कल्प और सिद्धि स्थानों में बारह-बारह अध्याय होने चाहिये किन्तु दुर्दैव से ये सभी खण्डित हैं।

हारीत संहिता—

अग्निवेश के सहाध्यायियों में महर्षि हारीत का भी नाम आता है। इनके नाम से एक संहिता खेमराज श्री कृष्णदास जी ने श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस बंबई से संवत् १९८४ में प्रकाशित कराया है। इस पर वैद्य रविदत्त शास्त्री का हिन्दी में अनुवाद है और श्री कालीप्रसाद शास्त्री ने उसका संशोधन किया है। ऐसा इस पुस्तक के देखने से प्रतीत होता है।

उपलब्ध हारीत संहिता में ६ स्थान हैं—प्रथम स्थान अन्नपान, द्वितीय अरिष्ट, तृतीय चिकित्सा चतुर्थ स्थान को सूत्रस्थान, पञ्चम को कल्पस्थान और षष्ठ को शारीर स्थान की संज्ञा दी गयी है। अन्त में एक परिशिष्टाध्याय है। इसमें चरक, सुश्रुत के साथ वाग्भट को भी संहिताकार बताया गया है। कुछ अन्य संहिताओं के भी नाम बताये गये हैं। अतएव इन सब उपक्रमोपसंहार को देखने से लगता है कि यह संहिता किसी अन्य हारीत नामा ऋषि के द्वारा बनाई गई है। क्योंकि चक्रपाणि के टीका में हारीत नाम से जो वाक्य उपलब्ध होते हैं उनका इस संहिता में कोई उल्लेख नहीं मिलता। रचना भी चरक या भेल के समान नहीं है। प्रत्युत भाषा की दृष्टि से दोषपूर्ण है।

हारीत संहिता के प्रथम स्थान, प्रथम ध्याय (श्लो० १४-१६) में उल्लेख मिलता है कि महर्षि आत्रेय ने पांच संहिताओं का प्रवचन किया। प्रथम संहिता में २४ हजार, दूसरी में १२ हजार, तीसरी में ६ हजार, चौथी में ३ हजार और पांचवीं में १५ सौ श्लोक हैं। उपलब्ध चरकसंहिता १२ हजार श्लोकमयी है ऐसा दृढ़बल ने अन्त में बताया है। प्रस्तुत हारीत संहिता में कुल १०३ अध्याय और ३ हजार के लगभग श्लोक हैं ऐसा प्रतीत होता है। प्रथम (अन्नपान) स्थान में २३ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'वैद्यगुण दोष शास्त्र पठन विधि' नामक है। द्वितीय अध्याय का नाम 'वैद्यक सर्वस्व है, इसमें

संहिता के ६ स्थानों का नाम, अष्टाङ्ग आयुर्वेद का नाम, यन्त्र-शस्त्र क्षार-औषध -पथ्य-स्वेदन और मर्दन भेद से आठ प्रकार की चिकित्सा और छिन्न-भिन्न-भग्न-क्षत-पिच्चित-दग्ध की चिकित्सा की उपाङ्ग चिकित्सा बताया गया है। अगदतन्त्र की परिभाषा भी इसमें दूसरे ग्रन्थों से कुछ भिन्न ही बताई गई है। तृतीय अध्याय का नाम 'वैद्य शिक्षा विधान' है। इसमें रोग का भली प्रकार से ज्ञान कर के ही चिकित्सा प्रारम्भ करने का निर्देश किया गया है। चौथा अध्याय ऋतुचर्या नामक है, इसमें त्रिविध देश और षड्ऋतुओं का वर्णन है। पांचवां अध्याय 'दोषप्रकोप संज्ञक है। इसमें वयोविभाग प्रकृति विज्ञान, विभिन्न दिशाओं से बहने वाले वायु के गुण-दोष, विभिन्न प्रकार के उपकरणों से उत्पादित कृत्रिम वायु के गुण सविष वायु का काल और उसके दोष वात-पित्त-कफ के प्रकोपक निदान आदि का उल्लेख है। छठवाँ षड्रस वर्णनाध्याय है, इसमें रसों और दोषों का सम्बन्ध तथा मधुरादि रसों के गुणधर्म का उल्लेख है। सातवां अध्याय 'जलवर्ग' नामक है इसमें जल के विभिन्न भेद-प्रभेद और उनके गुणदोष का विवेचन है। आठवाँ अध्याय 'क्षीरवर्ग' नामक है। इसमें विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध दुग्ध के गुण दोष, तथा विभिन्न दुग्धों से बने दधि का ऋतुओं के अनुसार गुण वर्णन, तक्र, नवनीत घृत आदि का विवेचन है। नवाँ अध्याय 'मूत्र वर्ग' नामक है जिसमें सभी मूत्रों के गुण का कथन है। दसवाँ अध्याय इक्षुवर्ग, ग्यारहवाँ काञ्जिक वर्ग, बारहवाँ मण्ड वर्ग, तेरहवां यूष वर्ग, चौदहवाँ तैलवसा वर्ग, पन्द्रहवाँ धान्य वर्ग, सोलहवाँ शाक वर्ग, सत्तरहवाँ फल वर्ग, अठारहवाँ मधुवर्ग, उन्नीसवाँ मद्य वर्ग, बीसवाँ चतुष्पद मांसवर्ग, इक्कीसवाँ स्थलचर मांस वर्ग, बाइसवाँ जलचर मांस वर्ग और तेइसवें का अन्नापन वर्ग नाम है।

द्वितीय स्थान का प्रथम अध्याय 'पाप दोष प्रतीकार' नामक है। इसमें विभिन्न पापकृत कर्मों से उत्पन्न रोगों और उनके प्रतीकारों का वर्णन है। 'स्वप्नाध्याय' दूसरा है, इसमें वर्ज्यस्वप्न, कालानुसार स्वप्नफल, स्वप्न में शुभाशुभ द्रव्य और शुभाशुभ स्वप्नों का वर्णन है। तीसरा अध्याय 'स्वास्थ्यारिष्ट' संज्ञक है, इसमें दर्शन—श्रवण-स्पर्श और रसाश्रित विपरीत ज्ञान के द्वारा स्वस्थ व्यक्ति में अरिष्ट का वर्णन है। चौथा 'व्याध्यरिष्टाध्याय' है जिसमें ज्वरादि विभिन्न व्याधियों के अरिष्ट लक्षणों का वर्णन है। पाँचवें पञ्चेन्द्रिय विकाराध्याय में स्वस्थ मनुष्य के शील, वर्णविपर्यय आदि के आधार अरिष्ट का होना बताया गया है। नक्षत्र-

ज्ञान' नामक छठवें अध्याय में विभिन्न नक्षत्रों, वारों एवं योगों में बीमार पड़ने से स्वास्थ्य लाभ होने या मृत्यु होने का वर्णन किया गया है। सातवाँ अध्याय होमविधि नामक है जिसमें शान्तिकर्म करने का विधान बताया गया है। आठवें अध्याय में दूत की परीक्षा और नवें अध्याय में शकुन का वर्णन है। इस प्रकार ९ अध्यायों में यह दूसरा स्थान समाप्त होता है।

तीसरे चिकित्सा स्थान में कुल ५८ अध्याय हैं। प्रथम 'भेषजपरिज्ञान विधि' अध्याय है। इसमें ज्वरादि विविध रोगों का निदान, दोषों का पाचन काल एवं विधि, क्वाथ के सम्बन्ध में विविध विवेचन तथा लंघन का वर्णन है। दूसरे अध्याय में ज्वरनिदान चिकित्सा, तीसरे में अतिसार विवेचन, चौथे में गुल्म, पांचवें में कृमि रोग, छठे में अग्नि के विविध भेदों का निदान चिकित्सा, सातवें में शूल, आठवें में पाण्डुरोग, नवें में क्षय, दसवें में रक्त पित्त, ग्यारहवें में अर्श, बारहवें में कास, तेरहवें में तृष्णा-तालु शोष, चौदहवें में मूर्छा, पन्द्रहवें में निद्रा, सोलहवें में मदात्यय, सतरहवें में दाह रोग, अठारहवें में अपस्मार, उन्नीसवें में उन्माद, वीसवें अध्याय में वातव्याधि की निदान चिकित्सा आदि का वर्णन है। वातव्याधि चिकित्सा में प्राणापानादि प्रत्येक की दुष्टि से सोलह-सोलह प्रकार के रोग होने का निर्देश किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में आमवात, बाइसवें में गृध्रसी, तेइसवें में वातरक्त, चौबीसवें में अम्लपित्त, पच्चीसवें में शोफ, छब्बीसवें में गुल्म, सत्ताइसवें में जलोदर, अट्ठाइसवें में प्रमेह, उन्तीसवें में मूत्रकृच्छ्र, तीसवें में मूत्ररोध, इकतीसवें में अश्मरी, बत्तीसवें में मूत्र वृद्धि, तेंतीसवें में विसर्प, चौंतीसवें में (मसूरिका) उपसर्ग चिकित्सा, पैंतीसवें में व्रण, छत्तीसवें में श्लीपद, सैंतीसवें में अर्बुद, अँड़तीसवें में लूता-गण्डमाला, उन्तालीसवें में कुष्ठ के निदान, लक्षण, चिकित्सा आदि का वर्णन किया गया है।

चालीसवें अध्याय से ऊर्ध्वजत्रुगत (शालाक्यतन्त्रीय) रोगों का वर्णन प्रारम्भ होता है। इसमें शिरोरोग, ईकतालीसवें में भ्रू-रोग, बयालीसवें में नासा रोग, तैंतालीसवें में इन्द्रलुप्त, चौवालीसवें में कर्णरोग, पैंतालीसवें में नेत्ररोग; छियालिसवें में मुखरोग की चिकित्सा लिखी गई है। मुख रोगों में ही ओष्ठ, दन्त, जिह्वा, गाल के रोगों का समावेश किया गया है। सैंतालीसवाँ अध्याय वाजीकरण का है, जिसमें पुरुषों के लिये शुक्रवर्धक योग बताये गये हैं। अँड़तालीसवें अध्याय से स्त्रीरोगों का विवेचन

प्रारम्भ होता है। इसमें विविध प्रकार के वन्ध्यात्व और उनकी चिकित्सा, उनचासवें में गर्भावस्था का प्रत्येक मास का उपचार, पचासवें अध्याय में मासक्रमानुसार चलित गर्भ (सम्भावित गर्भपात) चिकित्सा, इक्यावनवें अध्याय में हृल्लास, छर्दि आदि गर्भिणी के आठ उपद्रवों की चिकित्सा, बावनवें अध्याय में मूढ़ गर्भ चिकित्सा, तिरपनवें अध्याय में सूतिकारोग और उनकी चिकित्सा, चौवनवें अध्याय में बालरोग की चिकित्सा का उल्लेख है। पचपनवें अध्याय में भूतविद्या, छप्पनवें में विषतन्त्र, सत्तावनवें में भग्न चिकित्सा (शल्यतन्त्रीय व्याधियाँ) और अट्ठावनवें में अग्निदग्ध की चिकित्सा का वर्णन है। यहाँ पर तृतीय स्थान समाप्त हो जाता है।

चौथे स्थान का नाम सूत्र स्थान है, इसमें कुल ६ अध्याय हैं। पहला अध्याय तुलामान विधि, दूसरा तैलपाक विधि, तीसरा निरुहबस्तिकर्म विधि, चौथा स्वेदन विधि, पांचवाँ रक्तावसेचन विधि और छठवाँ जलौकावचार विधि से सम्बद्ध है।

पाँचवें कल्पस्थान में पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में हरीतकी कल्प, दूसरे में त्रिफलाकल्प, तीसरे में रोगानुसार हरीतकी का प्रयोग (हरीतकी कल्प) चौथे में रसोनकल्प और पाँचवें में गुग्गुलुकल्प का वर्णन है। छठवाँ शारीर स्थान केवल एक अध्याय का है। इसमें शरीर की उत्पत्ति, गर्भ का प्रथम दिन से लेकर प्रसव काल तक का वर्णन, मनोदशा-वर्ण आदि की उत्पत्ति का कारण, नपुंसकादि की उत्पत्ति, निन्द्रा-क्षुधा-तृष्णा आदि की उत्पत्ति का वर्णन है। अन्त में एक परिशिष्टध्याय भी है। यहाँ पर यह संहिता समाप्त होती है।

रचना-काल एवं स्थान विवेचन—जैसा कि पहले बताया गया है इस ग्रन्थ की रचना चरक सुश्रुत के दीर्घकाल बाद हुई। इसका प्रमाण यह है कि उन संहिताओं में वार का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु इसमें वारों के माहात्म्य (द्वि-स्था-६ अ.) पर बड़ा बल दिया गया है। साथ ही इसमें मन्त्र तन्त्रों पर भी बड़ा बल दिया गया है जो मध्ययुगीन आस्था का प्रतिपादक है। स्थान के विषय में भी ऐसा अनुमान किया जाता है कि केवल एक स्थान पर इसकी उपदेश और रचना हुई। केवल हिमालय का ही इसमें उल्लेख है। उपदेश के अनन्तर हारीत गङ्गा के किनारे चले गये, इस प्रकार के उल्लेख से भी हिमालय के पार्श्व में एक स्थान पर कहीं इसकी

रचना की गई ऐसा अनुमान होता है। कहीं कहीं पर चरकसंहिता के वचनों को अविकल रूप से विस्तृत किया गया है (उदाहृणार्थ-कुवैद्यलक्षण) इससे भी सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ चरक संहिता के बाद बना।

आत्रेय प्रस्थान के अन्य आचार्य—अग्निवेश के सहाध्यायियों में तीन और आचार्यों जतूकर्ण, पराशर और क्षारपाणि का उल्लेख मिलता है। किन्तु इनके नाम से संबद्ध किसी प्रकाशित ग्रन्थ के दर्शन अब तक न हो सके हैं। यदि हस्तलिखित रूप में किसी संग्रहालय में हो तो कहा नहीं जा सकता। अन्यथा इनके नष्ट होने का ही अनुमान होता है, क्योंकि यवनों के आक्रमण और ध्वंश ने बड़े-बड़े पुस्तकालयों को भस्मसात् कर दिया। श्री चक्रपाणि दत्त ने इन तीनों ही आचार्यों के वचनों का उद्धरण अपनी टीका में स्थान स्थान पर दिया है। इससे ऐसी पुष्टि हौती है कि उनके समय तक ये ग्रन्थ अविकल रूप में उपलब्ध अवश्य थे। इसका समर्थक चक्रपाणि का वचन (जतूकर्णादौ प्रतिसंस्कर्तृश्रुतिगन्धोऽपि नास्ति) स्वयमेव है।

इनके अतिरिक्त चक्रपाणि ने कुछ और कायचिकित्सा के तन्त्रकारों के नाम बताये हैं जिनमें महर्षि अगस्त्य और खरनाद प्रमुख हैं। शौनक, विश्वामित्र, दारुबाहु, दारुक, चक्षुष्येण आदि भी इसी सम्प्रदाय के आचार्य रहे। एक अन्य परवर्ती आत्रेय नामक आचार्य ने भी कायचिकित्सातन्त्र की रचना की थी, किन्तु ये सभी पुस्तकें कालकवलित हो गई हैं। एकमात्र चरक-संहिता ही इस सम्प्रदाय का प्राणधारक बनी हुई है।

चक्रपाणि टीका में कुछ अन्य पूर्ववर्ती चरक टीकाकारों के वचन उद्धृत, है, उदाहरणार्थ-अषाढ़ वर्मा, भासदत्त, स्वमिदास, ब्रह्मदेव, क्षोरस्वामिदत्त, भीमदत्त, ईश्वरसेन, अङ्गिरि, सैन्धव आदि। मधुकोषकार ने भी कुछ चरक टीकाकारों के नाम गिनाये हैं। इन सब का स्मरण करके महान् क्लेश होता है और साथ ही साथ धैर्य भी होता है कि जब इतने थपेड़ों को झेलकर यह आयुर्विद्या आज तक जीवित है तो आगे भी इसी सञ्जीवनी शक्ति के प्रभाव से उन्नति के शिखर पर अवश्यमेव आरूढ़ होगी।

वर्तमान चरकसंहिता के निर्माणसे पूर्व भारत में धान्वन्तर सम्प्रदाय के नाम से शल्यशास्त्रवेत्ताओं की एक विशिष्ट पद्धति प्रचलित थी। इसका निर्देश हमको गुल्म चिकित्सा में उक्त वाक्य से मिलता है। दोनों ही प्रणाली में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई थी किन्तु चरक और सुश्रुत की उपादेयता के सामने वे अनुपा-देयवत् प्रतीत होने लगे। कालान्तर में धीरे धीरे लुप्त होते गये।

शल्यतन्त्र

इस विषय में एकमात्र सुश्रुतसंहिता उपलब्ध होती है। इसके वर्णन के अनुसार काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि ने औपधेनव आदि शिष्यों को इस तन्त्र का उपदेश दिया। डल्हण के टीका के अनुसार इन शिष्योंकी संख्या में मतभेद है कोई सात मानते हैं कोई आठ और कोई आचार्य इसको बारह तक मानते हैं। इसी प्रकार उपदेशक के रूप में भी काशीपति दिवोदास, और धन्वन्तरि शब्दों को लेकर मतमतान्तर उपस्थित किये जाते हैं। इसका समाधान आवश्यक समझकर पहले इसी पर प्रकाश डाला जाता है।

सुश्रुत में आचार्य परम्परा के उल्लेख करते समय स्पष्ट रूप से बताया गया है कि इन्द्र से धन्वन्तरि ने शल्य शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। वहां पर अन्य कोई विशेषण इस नाम के साथ नहीं लगाया गया है। यह भी कहा गया है कि "मैं ही आदिदेव धन्वन्तरि हूँ जिसने देवताओं के जरा और रुजा का हरण किया है। शल्यतन्त्र का साङ्गोपाङ्ग उपदेश करने के लिये मैं पृथ्वी पर दूसरी बार अवतीर्ण हुआ हूँ।" इस वाक्य से यह ध्वनित होता है कि इस समय जो गुरु उपदेश दे रहे हैं वे धन्वन्तरि के अवतार हैं, स्वयं धन्वन्तरि नहीं हैं। इसी (वेदोत्पत्ति) अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है कि काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के पास सुश्रुत आदि शल्यतन्त्र सीखने की इच्छा से आये और अध्याय के अन्त में कहा गया है कि काशिराज द्वारा प्रकाशित इस शास्त्र को जो पढ़ेगा उसकी संसार में पूजा होगी और मरने पर स्वर्ग मिलेगा। इस उपक्रमोपसंहार को देखकर यही तत्त्व निश्चित होता है कि इस शल्यतन्त्र के उपदेशक राजर्षि दिवोदास हैं जो काशी के राजा थे, वे अपने को धन्वन्तरि का अवतार बताते थे। सुश्रुतोक्त अन्य उद्धरण भी इसी की पुष्टि करते हैं।

धन्वन्तरि के अवतार के विषय में अन्वेषण करने पर प्रतीत होता है कि वेदों में इस नामसे कोई भी व्यक्तिशल्यतन्त्रज्ञ नहीं उल्लिखित मिलता। वेदों में अश्विनीकुमार ही शल्यतन्त्रज्ञ बताये जाते हैं। पुराणों में अवश्यमेव धन्वन्तरि का वर्णन मिलता है। सुश्रुत में आचार्यपरम्परोल्लेख के समय बताया गया है कि अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को उपदेश दिया और इन्द्र से धन्वन्तरि ने उपदेश लिया। अत एव इससे भी धन्वन्तरि का पौराणिक होना ही सिद्ध होता है। महाभारत, विष्णुपुराण, अग्नि पुराण और श्रीमद्-भागवत पुराण आदि में यह उल्लेख मिलता है कि सतयुग के अन्त में दानवों

और दैत्यों ने जब सिन्धु का मन्थन किया तो उससे भगवान् धन्वन्तरि जो विष्णु के अंश और आयुर्वेदज्ञ हैं, अमृतपूर्ण कलश लेकर [1]प्रकट हुए और उस अमृत का पान करने से देवता गण अजरामर हो गये। इस कथा से सुश्रुतोक्त आदिदेव धन्वन्तरि के प्रतिज्ञा की सङ्गति भी बैठती है।

हरिवंश, वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण आदि में उल्लेख मिलता है कि इन्हीं धन्वन्तरि भगवान् को काशी राज्य के संस्थापक काश के वंशज धन्व ने उपासना की और उनसे वरदान मांगा कि हे भगवान्! आप हमारे घर पुत्र के रूप में अवतीर्ण हों। उन्होंने उनको उपासना से सन्तुष्ट होकर मनोरथ को पूरा किया। सम्भवतः यही दिवोदास हुए और धन्व के पुत्र तथा धन्वन्तरि अवतार होने के कारण इनको भी धन्वन्तरि[2] कहा गया। डल्हण के अनुसार धन्वन्तरि शब्द योगज है जो शल्यविद् के लिये रूढ़ माना जाता था। इससे भी काशीराज धन्वन्तरि दिवोदास ही इस प्रस्थान के आचार्य सिद्ध होते हैं।

काल विनिश्चय—पुराणों की आख्यायिकाओं के अनुसार धन्वन्तरि भगवान् की उत्पत्ति सतयुग में हुई। उन्होंने इन्द्र से शल्यशास्त्र देवासुर संग्राम के पश्चात् सीखा होगा। इसके बाद दिवोदास के रूप में अवतीर्ण होकर उन्होंने सुश्रुत आदि को शल्यतन्त्र का उपदेश किया। अतएव यही समय सुश्रुत की रचना का काल माना जायेगा।

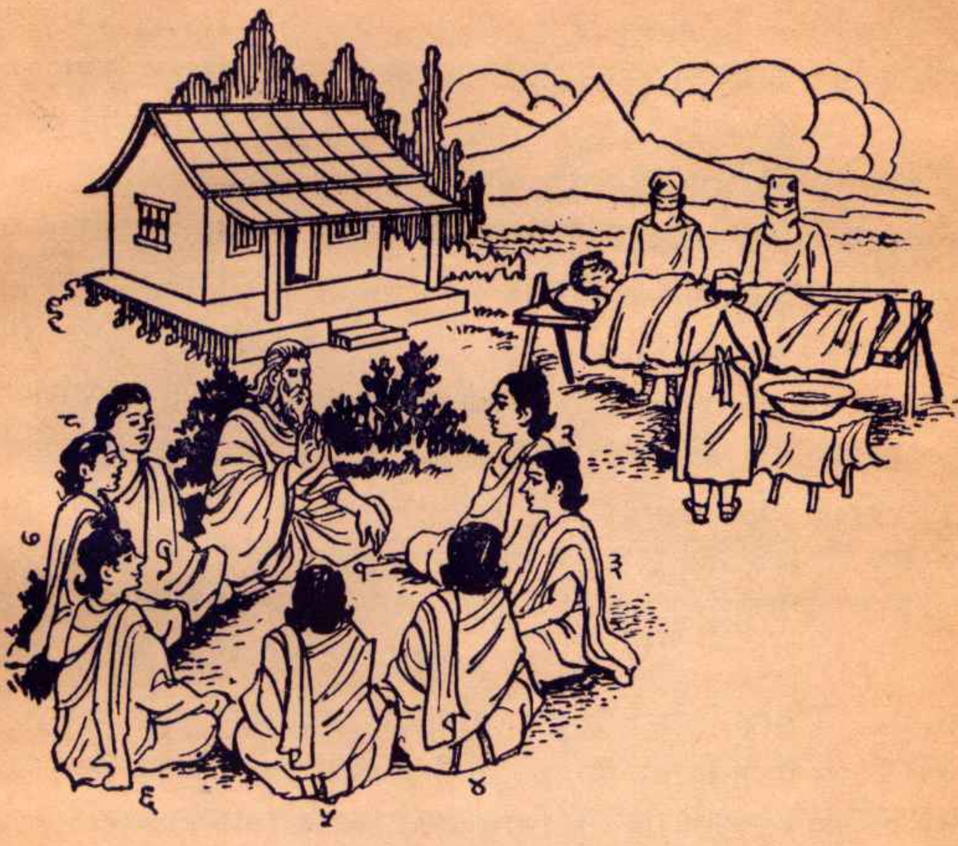
ब्राह्मण ग्रन्थों और प्राचीन उपनिषदों में काशी शब्द ही उपलब्ध होता है, वाराणसी नहीं। पाणिनि ने काशी को देशवाचक और वाराणसी को नगर वाचक माना है। बौद्ध ग्रन्थों में वाराणसी शब्द का ही बहुलता से

---

१. अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः।
उदतिष्ठन् महाराज पुरुषः परमाद्भुतः॥
दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः॥
अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः।
स वै भगवतः साक्षाद् विष्णोरंशांशसम्भवः॥
धन्वन्तरिरितिख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक्। भा० ८ स्कं० ८ अ। ३१-३५

२. काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमः पिता।
धन्वन्तरिर्दैर्घतम आयुर्वेद प्रवर्तकः॥
यज्ञभुग् वासुदेवांशः स्मृतिमात्रार्तिनाशनः। भा० ९ स्कं० १८ अ। ४-५

शल्यकर्मोपदेश एवं प्रत्यक्ष कर्माभ्यास



१. काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि   २. सुश्रुत   ३. औपधेनव
४. औरभ्र   ५. वैतरण   ६. पौष्कलावत
७. करवीयं   ८. गोपुररक्षित

[आ० पृ० ७२–७३

प्रयोग किया गया है। पुराणों में काशी और वाराणसो दोनों ही शब्द प्रचलित हैं। दिवोदास शब्द भी वार्तिक, महाभाष्य, कौसोतकि ब्राह्मण और उपनिषद्, ऋक् सर्वानुक्रम सूत्र और काठक संहिता के ब्राह्मण भाग में मिलता है।

वेबर महाशय के मतानुसार कौसीतकि उपनिषद् और बृहदारण्यक ये दोनों ग्रन्थ समकालीन हैं। यही मत श्री विन्टर निट्ज का भी है। यह काल ईसवी सन् से २५०० पूर्व निश्चित होता है। पाणिनि का काल ईसा से ४०० वर्ष पूर्व, बुद्ध का ५०० वर्ष पूर्व और महावीर स्वामी का ७०० वर्ष पूर्व स्थिर होता है। इससे भी सुश्रुत संहिता के काल के ईसा से २५०० पूर्व होने की ही पुष्टि होती है।

सुश्रुत—ये विश्वामित्र के पुत्र थे ऐसा सुश्रुतसंहिता के लेख से ही प्रतीत होता है। एक विश्वामित्र त्रेता युग में हुए जिन्होंने श्री रामचन्द्र जी को धनुर्विद्या आदि की शिक्षा दी। क्या सुश्रुत इन्ही महर्षि के पुत्र थे ? ऐसा लगता है कि इनसे अन्य कोई विश्वामित्र हुए होगें जिनके ये पुत्र हुए, क्योंकि त्रेता में कृष्ण का अवतार नहीं हुआ था और सुश्रुत संहिता में राम के साथ कृष्ण का भी नामोल्लेख मिलता है।

दूसरी बात इनके गुरु दिवोदास जब उपनिषत् काल में हुए तो गुरु-शिष्य को एक ही समय होना चाहिये। अतएव वह युक्ति भी सुश्रुत का कृष्ण जन्म के पश्चात् होना ही प्रमाणित करती है। जो विद्वान् सौश्रुताः पार्थिवाश्चेति सौश्रुतपार्थिवाः इत्यादि शब्द को लेकर सुश्रुत का पाणिनि सम कालीन होना स्वीकार करते हैं वे भूलते हैं कि स्वयं सुश्रुत संहिता का वचन है कि वैद्य को राजा की रक्षा करनी चाहिये और अपनी रक्षा के लिये राजा लोग भी स्वयं इस शास्त्र का अध्यन करते थे। इसीलिये इन शब्दों का प्रचलन हुआ। युद्ध, आकस्मिक अभिघातज भग्न तथा दंष्ट्रा विषादि से रक्षा करने में ये चिकित्सक अधिक सफल हुआ करेते थे। यही कारण है कि महाभारत आदि में राजाओं, राजकुमारों और शल्यविदों का तादात्म्य है। राजा लोग इस तन्त्र का अध्ययन करने लगे अतएव 'सौश्रुतपार्थिवाः' का प्रचलन हो गया।

'शालिहोत्र' नामक आयुर्वेदीय गन्थ में भी एक सुश्रुत का नाम आता है किन्तु वे इससे भिन्न व्यक्ति हैं और शालिहोत्र के पुत्र हैं ऐसा उसी संहिता से प्रतीत होता है। शालिहोत्रीय आचार्य परिच्छेद में आयुर्वेद प्रवर्तक जिन

ऋषियों का उल्लेख किया गया है उसमें आत्रेय और उनके शिष्य अग्नि-वेश-जूतूकर्ण-पराशर-हारीत आदि का तो उल्लेख है किन्तु दिवोदास धन्वन्तरि और उक्त शिष्यों का उल्लेख है ही नहीं। तो फिर 'सुश्रुत' शब्द साम्य मात्र से शल्यविद् का ग्रहण करना किसी भी प्रकार औचित्य-परक नहीं होगा।

सुश्रुत संहिता में कुष्ठ रोग का वर्णन है। कुष्ठ का ज्ञान भारत से चीन देश में गया अतएव उसके पूर्व सुश्रुत संहिता का निर्माण हो गया होगा। श्री गिरीन्द्र नाथ मुखोपाध्याय के मत से इसका अनुवाद 'हेस्लर' ने लैटिन भाषा में किया अतएव इस ग्रन्थ का निर्माण ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व अवश्य हो गया होगा। यह सीमा न्यूनातिन्यून प्राचीनता की प्रतीति होती है।

कुछ टीकाकारों और कतिपय अर्वाचीन निबन्धकारों ने वृद्ध सुश्रुत के नाम से कुछ वचनों को उद्धृत किया है। 'वृद्ध' शब्द से लोग यह समझने लगे कि ये आचार्य सुश्रुतसंहिताकार से प्राचीन होंगे किन्तु रचना शैथिल्य को देखकर पूर्वोक्त कथन समञ्जस नहीं प्रतीत होता।

स्थान-विनिश्चय—यद्यपि भावप्रकाशकार ने लिखा है कि विश्वामित्र ऋषि ने अपने पुत्र सुश्रुत को वाराणसी जाकर, राजर्षि दिवोदास के पास आयुर्वेद पढ़ने को प्रेरित किया और उसके साथ सौ और मुनिकुमार विद्याध्यनार्थ गये किन्तु यह कथा सुश्रुतसंहिता के आभ्यन्तर प्रमाणों के अनुरूप नहीं सिद्ध हो पाती है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने इस सौ की संख्या का तो १२ बताकर स्पष्ट रूप से खण्डन कर दिया है।

सुश्रुत संहिता के ऋतुचर्याध्याय में उत्तरायण से प्रारम्भ करके शिशिर से लेकर हेमन्त तक ६ ऋतुएँ बताई गई हैं। इसके पश्चात् दोषों के सञ्चय-प्रकोप-प्रशम का ध्यान रखकर प्रावृडादि के क्रम से एक दूसरा प्रकार दक्षिणायन का प्राधान्य रखते हुए बताया गया है। इस दूसरी प्रक्रिया के अनुसार ही ऋतुविभाग का समर्थन आत्रेय-भेल-काश्यप आदि ने भी किया है। प्रथम प्रक्रिया के अनुसार ४ मास शीत के और २ मास वर्षा के बनते हैं। द्वितीय प्रक्रिया में ४ मास वर्षा के और २ मास शीत के होते हैं। इस प्रकार इन दो पद्धतियों को प्रदर्शित करने के पश्चात् 'इह तु' अर्थात् इस स्थानविशेष का यह ऋतुक्रम है, ऐसा प्रदर्शित किया गया है। सुश्रुत की टीका में इस वचन को ओर स्फुटित किया गया है कि गंगा के दक्षिण

में वृष्टि अधिक होती है और गङ्गा के उत्तर में शीत अधिक पड़ता है। यहाँ पर 'गङ्गा' पद वाराणसेय गङ्गा का नहीं अपितु 'गंगाद्वार' का परिचायक मालूम पड़ता है और 'इह तु' शब्द गंगाद्वार के दक्षिणी प्रदेश अर्थात् गंगा-यमुना के अन्तरालीन मैदानी भाग का निर्देशक है।

महाभाष्यकार ने शाकपार्थिवादि गण के उदाहरण में 'कुतपवासाः सौश्रुतः कुतपसौश्रुतः' अर्थात् सुश्रुत विद्या पढ़ने वाले ऋषिगण कम्बल का वस्त्र पहनते हैं, ऐसा बताया गया है। कम्बल का वस्त्र वहीं पहना जा सकता है जहाँ शीत अतिमात्र होगा और शीत हिमालय के गङ्गाद्वार से उत्तर वाले प्रदेश में ही अधिक होता है। दक्षिणी प्रदेश जिसमें वाराणसी भी आता है उसमें तो गर्मी ही अधिक पड़ती है। शीत तो मुश्किल से २-४ मास पड़ता है। इसीसे सुश्रुत संहिता में लिखा है कि "अथ खलु भगवन्तममरगण-परिवृत्तम् आश्रमस्थम्" अर्थात् जब काशिराज आश्रम में निवास कर रहे थे उस समय सुश्रुत उनके पास आयुर्वेदाध्ययनार्थ गये। इसका तात्पर्य यही होता है कि काशिराज जब अपनी वृद्धावस्था में गङ्गाद्वार के उत्तरी प्रदेश काश्मीर, हृषीकेश आदि में से किसी स्थान में निवास कर रहे थे तो उन्होंने सुश्रुत को शल्यशास्त्र का उपदेश दिया।

सुश्रुत-काल में शल्यशास्त्र की महत्ता—जैसा कि पहले बताया गया है युद्ध आदि अभिघातों से मनुष्य के शरीर के क्षत-विक्षत हो जाने पर शल्यतन्त्र के माध्यम से चिकित्सा करने में काफी सरलता होती है। इसी काल से राजाओं ने इस विषय के ज्ञाताओं को बड़ा प्रश्रय दिया। काशी के अनेक राजाओं और राजकुमारों ने इसका अध्ययन किया जिनमें वायोविद वामक और युवराज ब्रह्मदत्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ब्रह्मदत्त तो शल्यशास्त्र का अध्ययन करने के लिये तक्षशिला भी गये।

ऐसा प्रतीत होता है कि तक्षशिला उन दिनों शल्यतन्त्र की शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था जिसमें सुदूर देशों से अध्येता आकर शल्यतन्त्र का अध्ययन करते थे। मगध से जीवक भी आयुर्वेदाध्ययनार्थ तक्षशिला गये। उन्होंने काशी के किसी सेठ के पुत्र का किसी उदरगत व्याधि का शस्त्रकर्म किया यह भी जातक ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है। उस समय आयुर्वेद का प्रचार न केवल भारत अपितु गान्धार और उससे भी उत्तर पश्चिम में बाह्लीक तक था। इसके पश्चात् अशोक के समय में देश-देशान्तर में बड़े-बड़े चिकित्सालय खोले गये, उस समय मगध और वाराणसी भी आयुर्वेद विद्या के केन्द्र रूप में प्रख्यात हो गये।

सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्करण—डल्हण के लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि नागार्जुन इस संहिता के प्रतिसंस्कर्ता थे किन्तु मूलग्रन्थ से कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता। चरक के समान नागार्जुन ने भी कहीं उल्लेख नहीं किया कि उन्होंने इस ग्रन्थ का प्रतिसंस्कार किया है। यद्यपि 'उपाय हृदय' नामक ग्रन्थ में नागार्जुन ने सुश्रुत का नामोल्लेख तो किया है किन्तु इस ग्रन्थ में कायचिकित्सा के ही विषयों का वर्णन है, शल्यतन्त्र का कोई उल्लेख भी नहीं मिलता। एक सबसे दृढ़ प्रमाण इस बात का है कि सभी सुश्रुत संहिता में कहीं भी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की छाया भी नहीं मिलती प्रत्युत वैदिक मन्त्रों का प्रयोग, सांख्यदर्शन आदि अध्यात्म विषयों का ही ग्रहण किया गया है। इसलिये नागार्जुन द्वारा प्रतिसंस्कार किये जाने का कोई बलवत् प्रमाण न मिलने से डल्हण के कथन को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि उत्तरतन्त्र को बाद में जाकर नागार्जुन ने लगाया है। और इससे सम्बद्ध अंश को विषय सूचक श्लोकों में रखकर उपक्रमोपसंहार को इस प्रकार रक्खा है कि किसी को भान न होने पावे यह भी कल्पना मात्र ही प्रतीत होती है। प्रथमतः तो संस्कर्ता अपने को छिपाता ही नहीं है। दूसरे यदि वह छिपावे भी तो ऐसा मान लेने पर महर्षि दिवोदास की प्रतिज्ञा अपूर्ण रह जाती है। जो उन्होने कहा है कि शल्यतन्त्र को १२० अध्यायों और ५ स्थानों में प्रधान बनाकर अन्य तन्त्रों यथा काय-चिकित्सा, कौमारभृत्य आदि का भी संक्षेप में उत्तर तन्त्र में उपदेश करेगें। उत्तर तन्त्र के प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में भी कहा गया है कि यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः अर्थात् धन्वन्तरि भगवान् ने ऐसा कहा। अतएव किसी प्रतिसंस्कर्ता की कल्पना उचित नहीं। हाँ ऐसा स्वीकार किया जा सकता है कि इस तन्त्र में जितना शालक्य विषयों पर विवेचन मिलता है, उससे कहीं अधिक विस्तृत विवेचन विदेहाधिप कीर्तित शालाक्य तन्त्र में है। इसी प्रकार कौमारभृत्य के विषयों का पार्वतक, जीवक, बन्धक आदि के ग्रन्थों में और कायचिकित्सा का चरक में सुश्रुत की अपेक्षा अधिक विस्तृत विवेचन हो सकता है। केवल इतने से संस्कर्ता की कल्पना नहीं की जानी चाहिए।

अब एक और विवेचनीय बात रह जाती है तन्त्रयुक्त्यध्याय के सम्बन्ध में। प्रायः सभी तंत्रों में रस-दोष का सम्बन्ध अभिन्न बताया गया है। उत्तर तन्त्र में ६३ वाँ अध्याय रसभेद विकल्पाध्याय है और ६६ वाँ है दोषभेद

विकल्पाध्याय। बीच में ६४ वाँ स्वस्थवृत्ताध्याय और ६५ वाँ तन्त्रयुक्त्यध्याय आ जाता है अत एव इसको कोई-कोई आलोचक प्रतिसंस्कर्ता का कार्य मान कर उसके अस्तित्व की कल्पना करने लगते हैं। तन्त्रयुक्त्यध्याय सुश्रुत से ही मिलता-जुलता कौटिलीय अर्थशास्त्र में है। दोनों के विवेचन प्रायः समान है। सौश्रुतीय तन्त्रयुक्ति में वैद्यकीय विषयों के अतिरिक्त विषयों का भी वर्णन है। राज गुरु नेपाल ने इसका उत्तम रीति से विवेचन किया है। अत एव उस पर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। चतुर्थ अध्याय में मूल के श्लोक ही इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि उत्तर तन्त्र या पश्चिम तन्त्र में अन्तिम चार तो तन्त्रभूषण हैं।

सम्भवतः कौटिलीय अर्थशास्त्र के किसी प्रतिलिपिक विद्वान् को यह अध्याय जँचा हो और उसने सबसे अन्त मे इसको सुश्रुत से लेकर लगा दिया हो अथवा ध्वन्यालोककार के मतानुसार शब्दसाम्य और अर्थसाम्य को देखकर एक दूसरे से आदान प्रदान हुआ कहना उचित नहीं है। दो विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से एक से शब्दों में एक विषय की यदि रचना की तो उसको स्वतन्त्र रचना मानना ही उचित है।

सुश्रुत के टीकाकार

(१) डल्हण—इनकी बनाई गई टीका का नाम निबन्ध-संग्रह है। यह टीका आद्योपान्त अविकल रूप में उपलब्ध होती है और कई स्थलों से छपी भी है। सम्पादन और छपाई की शुद्धता की दृष्टि से स्वर्गीय आचार्य श्री यादव जी द्वारा सम्पादित निर्णयसागर से प्रकाशित तृतीय संस्करण उत्तमोत्तम है।

टीका प्रारम्भ करने से पहले ही डल्हण ने प्रयोजन बताते हुए अपना परिचय इस प्रकार दिया है—समस्त जनपदों में उत्तम श्रीमादानक देश में नगरीश्रेष्ठ मथुरा के पास अङ्कोला नामक वैद्यस्थान है। इस जगह पर पूर्णचन्द्र के समान कान्ति और यश से दिङ्मण्डल को उद्दीप्त करने वाले, समस्त राजाओं से पूजित और वैद्यगणों में अश्विनीकुमारों के तुल्य सौरवंशी ब्राह्मण हुए। इनके वंश में गोविन्द नाम के एक चिकित्सकशिरोमणि हुए। उनके पुत्र भिषक्शिरोमुकुटमणि जयपाल हुए। उनके पुत्र समस्त शास्त्रार्थ तत्त्वज्ञ भरतपाल हुए। इनके पुत्र श्री डल्हण हुए श्री सहपाल नृपति से डल्हण की मैत्री थी।" ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान मथुरा के आस-पास के भूभाग के श्री सहपाल राजा थे और डल्हण उनके राजवैद्य रहे।

टीका करने का हेतु बताते हुए उन्होंने लिखा है कि "यद्यपि सुश्रुत संहिता पर जेज्जटादि की टीका है किन्तु ये टीकायें कुशाग्र बुद्धि वालों के समझने योग्य ही हैं। अत एव सामान्य बुद्धि वालों पर अनुग्रह करके सुश्रुत की व्याख्या का यह प्रयास मैं कर रहा हूँ।

इस टीका की आधारभूत टीकाओं का नाम गिनाते हुये उन्होंने लिखा है कि श्री जेज्जट की टीका, श्री गयदास और भास्कर की पञ्जिका, श्री माधव ब्रह्मदेव आदि की टिप्पणी के अनुसार मैंने निबन्धसंग्रह किया। इस प्रसंग में इन्होने श्री चक्रपाणि कृत 'भानुमती' व्याख्या का उद्धरण नहीं दिया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों समसामयिक रहे होंगे अथवा चक्रपाणि का काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और डल्हण का काल इसी शताब्दी का पूर्वार्ध रहा हो। यों इतिहसकारों के मत में डल्हण का काल ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है।

(२) जेज्जट—ये इस संहिता के प्राचीनतम टीकाकार हैं, ऐसा स्वर्गीय कविराज श्री गणनाथ सेन जी का मत है। यह टीका इस समय प्रकाशित रूप में उपलब्ध नहीं होती है। परन्तु भिषक् तीसट के पुत्र चन्द्रट के समय में यह टीका उपलब्ध होती थी। उन्होंने इसी टीका से मिलाकर काल-परम्परा के अशुद्ध हो गये सुश्रुत के पाठों को शुद्ध किया था। तीसट के सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि ये वाग्भट के पुत्र थे अथवा तो शिष्य थे। अतएव ऐसा अनुमान होता है कि जेज्जट का काल इस परम्परा के अनुसार कम से कम चौथी शताब्दी के अन्त अथवा पाँचवीं शती का प्रारम्भ होना चाहिये।

स्वर्गीय कविराज जी ने इससे ऐसा भी अनुमान लगाया है कि जेज्जट और तीसट सुश्रुत के प्रतिसंस्कर्ता भी हुए। यह उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ! यह कहा जा सकता है कि सुश्रुतसंहिता का जो पाठ इस समय उपलब्ध है उसकी अपेक्षा जेज्जट के समय में अधिक विशुद्ध पाठ उपलब्ध रहा होगा। इतने समय के पश्चात् लिपिक कृत प्रमाद, सम्पादक की अनवधानता और मुद्रण के दोष से भी इस प्रकार का अपपाठ हो सकता है।

(३) *गयदास*—डल्हण के मतानुसार ये सुश्रुतसंहिता के प्रामाणिक टीकाकार हैं। इसीलिये उसी पाठ को उन्होंने स्वीकार किया है जो श्री गयदासाचार्य द्वारा सम्मत थे। इनके द्वारा असम्मत पाठ का डल्हण ने 'तन्नेच्छति गयी' कहकर अस्वीकार किया है। ये जेज्जट से अर्वाचीन और डल्हण से प्राचीन हैं क्योंकि पञ्जिका में अनेक स्थलों पर इन्होंने जेज्जट

के मत का खण्डन किया है। इन सब सम्भावनाओं के आधार पर गयदास का समय पाँचवीं शताब्दी माना जा सकता है।

(४) चक्रपाणि—इनकी टीका का नाम भानुमती है। यह केवल सूत्र-स्थान पर ही उपलब्ध है। भाषा बहुत उच्चकोटि की है। इसका प्रकाशन श्री स्वामी लक्ष्मीराम निधि द्वारा सन् १९३९ में किया गया है।

(५) कविराज हाराणचन्द्र चक्रवर्ती—इनका *सुश्रुतार्थसंदीपक भाष्य* कलकत्ता से शकाब्द १८२७ में प्रकाशित हुआ।

सुश्रुत संहिता का संक्षिप्त पर्यालोचन—इस संहिता में कुल १८६ अध्याय हैं। इनको तन्त्रकार ने ही दो भागों में बांटा है। एकसौ बीस अध्यायों का प्रथम विभाग और अवशिष्ट छाछठ अध्यायों का दूसरा उत्तरतन्त्रात्मक विभाग। प्रथम विभाग को पाँच स्थानों में बांटा गया है। —सूत्रस्थान के ४६ अध्याय, निदान स्थान में १६ अध्याय, शारीर में १०, चिकित्सा स्थान में ४० और कल्प स्थान में आठ अध्याय हैं। इस सम्पूर्ण संहिता में ११२० रोगों और ५७३ द्रव्यों का वर्णन किया गया है।

सूत्रस्थान के छियालिस अध्यायों में से प्रथम अध्याय 'वेदोत्पत्ति' नामक है। अयुर्वेद के आठ अङ्गों और उनका परिचय दिया गया है। इन सभी में शल्यतन्त्र को आशु क्रियाकारी एवं शस्त्रादि के प्रयोग से प्रधान बताया गया है। इसी प्रसङ्ग में आयुर्वेद की परम्परा, व्याधि के भेद, उनकी उत्पत्ति का कारण, और चिकित्सार्थ प्रयुक्त किये जाने वाले द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरा अध्याय 'शिष्योपनीय' है, इसमें अयुर्वेदाध्ययन के अधिकारी और पढ़ाने की विधि का वर्णन है। तीसरा अध्याय 'अध्ययन-सम्प्रदायनीय' है। जिसमें सम्पूर्ण संहिता की अनुक्रमणिका दी हुई है। चौथा अध्याय 'प्रभाषणीय' है। इसमे बताया गया है कि वैद्यों को बहुश्रुत होना चाहिए और अध्येता को आयुर्वेदज्ञ से ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। पाचवां अध्याय अग्रोपहरणीय' है, इसमें पूर्व कर्म-प्रधान कर्म और पश्चात् कर्म के समय प्रतिपाद्य क्रियाओं का वर्णन किया गया है। शस्त्रकर्मज वेदना-शान्त्यर्थ यष्टीचूर्ण से मिश्रित कोष्ण घृत का सेचन करने का विधान बताया गया है जिसके आधार पर आजकल यष्टी से वेदनाहर द्रव्य के प्राप्ति का प्रयास किया जा रहा है। छठवाँ 'ऋतुचर्याध्याय' है, इसमें ऋतुओं का लक्षण, उनका विभाग एवं व्यापन्न तथा अव्यापन्न ऋतु के लक्षण बताये गये हैं। सातवें यन्त्रविधि अध्याय में १०१ यन्त्रों का वर्णन किया गया है। इनके निर्माण और प्रयोग विधि के साथ साथ उपयन्त्रों की भी व्याख्या की गई है।

आठवां अध्याय 'शस्त्रावचारणीय, है, इसमें बीस शस्त्रों, उनकी प्रयोग और निर्माण विधि आदि का वर्णन है। नवां अध्याय 'योग्या सूत्रीय' है, इसमें शस्त्रकर्माभ्यास कराने का वर्णन है। दसवां अध्याय 'विशिखानुप्रवेशनीय' है, इसमें वैद्य को कैसे रहना चाहिए, किस प्रकार रोगी की परीक्षा करनी चाहिये और साध्यासाध्य रोगी विभाग बताया गया है।

बारहवें अध्याय का नाम क्षारपाकविधि है। इसमें क्षार के गुण, उनके तैयार करने और प्रयोग (क्षार कर्म) करने की विधि का निर्देश है। बारहवां 'अग्निकर्म विधि' अध्याय है। इसमें अग्निकर्म की विशिष्टता, दहनोपकरण, दहन कर्मविधि और पश्चात् कर्म (चिकित्सा) का वर्णन है। तेरहवां अध्याय 'जलौकावचारणीय' है, इसमें रक्तस्रावण की विधि तद्योग्य व्याधि और व्याधित का विवेचन किया गया है। चौदहवां 'शोषितवर्णनीय' अध्याय है। इसमें रक्त की उत्पत्ति, धातुओं का पोषण, रक्तस्रावण की विधि और उसका व्याध्यनुसार निर्देश किया गया है।

पन्द्रहवां अध्याय 'दोष-धातु मलक्षय-वृद्धि विज्ञानीय' है। इसमें वातादि दोषों, रसादि धातुओं और पुरीषादि मलों के प्राकृत कर्म और उनके क्षय-वृद्धि केलक्षणों का वर्णन है। स्थौल्य और कार्श्य के निदान और चिकित्सा के साथ ही साथ स्वस्थ व्यक्ति का भी लक्षण बताया गया है। यह विषय कायचिकित्सा से अधिक सम्बद्ध है।

सोलहवां अध्याय 'कर्ण व्यध-बन्धविधि' नामक है। इसमें कर्णवेध कराने का निमित्त, वेधन विधि, एवं पन्द्रह प्रकार के कर्णबन्ध की आकृतियों का वर्णन है। कर्णपाली वर्धक योगों का भी निर्देश है। इसी स्थल पर कटी हुई नाक की सन्धान विधि का वर्णन है। जिसका अवलम्बन करके आधुनिक युग में **Rhinoplasty** का तथा अन्य प्लास्टिक सर्जरी का प्रयोग किया जाता है। सतरहवाँ 'आमपक्वैषणीयाध्याय' है। इसमें शोफ के लक्षणों वाली ग्रन्थि, विद्रधि, आदि की उत्पत्ति, लक्षण, चिकित्सा आदि का वर्णन है। शोफ के आम-पक्व ज्ञान का महत्व और अवस्थानुसार व्रण के सप्तविध उपचारों का वर्णन है। आजकल (नव्यचिकित्सा में) भी ये ही कर्म किये जाते हैं। अठारहवां अध्याय 'व्रणालेपनबन्ध विधि' नामक है। इसमें लेप के भेद, लेप करनेकी विधि, व्रणबन्ध के लिये उपयोग में आने वाले द्रव्य, चौदह प्रकार के बन्ध और विभिन्न स्थलों पर उनके उपयोग की व्याख्या की गई है। ऋत्वनुसार व्रणवन्ध को बांधने खोलने पर भी प्रकाश डाला गया है। उन्नीसवां अध्याय 'व्रणितोपासनीय' नामक है। इसमें शस्त्रकर्म किये गये आतुर के लिये आगार प्रवेशानन्तर पथ्य एवं चिकित्सा का वर्णन है।

बीसवाँ अध्याय 'हिताहितीय' नामक है। इसमें बताया गया है कि कुछ द्रव्य स्वभाव से ही हितकर होते हैं और कुछ संयोग से, इसी प्रकार अहितकर भी स्वभावतः या संयोगतः होते हैं। इसी प्रकार कर्मविरुद्ध, मानविरुद्ध, रस-वीर्य-विपाकादि से विरुद्ध द्रव्यों का लक्षण एवं उदाहरण दिया गया है। इक्कीसवें 'व्रण प्रणप्रश्नाध्याय' में वात-पित्त-श्लेष्म और रक्त, इन चारों को दोष बताया गया है। दोषों की निरुक्ति, भेद, स्थान, कर्म आदि का विश्लेषण करने के साथ दोषों के सञ्चय-प्रकोप-प्रसर-स्थानसंश्रय व्यक्ति और भेद (शल्य-तन्त्र से सम्बद्ध) अवस्थाओं पर भी विशद प्रकाश डाला गया है।

बाइसवाँ अध्याय 'व्रणस्राव विज्ञानीय' नामक है। इसमें व्रणों की उत्पत्ति का स्थान, उनके साध्य और असाध्यतारव्यापक लक्षण, व्रणस्रावों का लक्षण, वेदना और वर्ण का वर्णन किया गया है। तेईसवें 'कृत्याकृत्य' अध्याय में आतुर के आश्रित लक्षणों के अनुसार व्रण की साध्यासाध्यता का विवेचन किया गया है। 'व्याधि समुद्देशीय' नामक चौबीसवें अध्याय में व्याधियों के दो भेद—शस्त्रसाध्य और स्नेहादि कर्मसाध्य, पुनः उत्पत्ति के अनुसार आदि बल-जन्मबल-दोषबल-संघातबल-कालबल-दैवबल एवं स्वभावबलप्रवृत्त सात प्रकार की व्याधियों का वर्गीकरण, उनके लक्षण, दोषदूषित धातुओं के अनुसार रसज-रक्तजादि व्यपदेश, उनके लक्षण तथा सभी रोगों का वातादि-मूलकत्व प्रतिपादित किया गया है।

पच्चीसवें अध्याय में आठ प्रकार के शस्त्रकर्म योग्य व्याधियों की परि-गणना, और उन कर्मों के अयोग्य व्याधियों के कथन के साथ ही साथ इनके अतियोग जन्य लक्षणों का भी वर्णन किया गया है। छब्बीसवाँ 'प्रनष्टशल्य-विज्ञानीय' अध्याय है। इसमें शल्य की निरुक्ति, उसके भेद, उनकी पाँच प्रकार की गति, लक्षणों के अनुसार शल्य की अवस्थिति का पता लगाना आदि बताया गया है। सत्ताइसवें 'शल्यापनयनीय' अध्याय में शल्य निकालने के पन्द्रह उपायों, सभी उपायों का दो प्रक्रिया में समावेश, शल्य निकालते समय उत्पन्न होनेवाले उपद्रवों का प्रतिमार्जन बताया गया है।

अट्ठाईसवें 'विपरीताविपरीत व्रणविज्ञानीयाध्याय' में अरिष्टों का वर्णन है। इसमें गन्ध, वर्ण, शब्द और आकृति से सम्बद्ध अरिष्टों का विवेचन किया गया है। उन्नीसवें 'विपरीताविपरीत स्वप्ननिदर्शनीयाध्याय' में इनकी सम्भाषा-वेष-चेष्टा आदि तथा शकुन स्वप्नदर्शन आदि से साध्यासाध्यता का परिज्ञान करना बताया गया है। तीसवें 'पञ्चेन्द्रियार्थ विप्रतिपत्ति' अध्याय के शब्द-स्पर्श-गन्ध आदि के ग्रहण में विकार उत्पन्न होने से अरिष्ट होने का वर्णन किया गया है। इकतीसवें 'छाया विप्रतिपत्ति' अध्याय में प्रभा-कान्ति, शील अथवा

अवयवों के कार्यवैगुण्य के अनुसार अरिष्ट ज्ञान करना बताया गया है। बत्तीसवें 'स्वभाव विप्रतिपत्ति' अध्याय में शरीर के वर्णों के विपर्यय तथा स्वेद-शूल आदि लक्षणों की उत्पत्ति को अरिष्टख्यापक बताया गया है।

तैंतीसवें अध्याय में विभिन्न व्याधियों के असाध्यताख्यापक लक्षणों का संग्रह किया गया है। इस प्रकार अट्ठाईस से लेकर तैंतीसवें अध्याय तक उसी प्रकार के विषय का विवेचन किया गया है जिस प्रकार का चरकसंहिता का इन्द्रियस्थान है।

चौंतीसवाँ अध्याय 'युक्तसेनीय' नामक है, इसमें विष संदूषित किये जाने योग्य वस्तुओं का तथा साध्यतापादनार्थ वैद्य-उपचारक आदि के गुणों का वर्णन किया गया है। पैंतीसवाँ अध्याय 'आतुरोपक्रमणीय' है, जिसमें दीर्घायु, मध्यमायु और जघन्यायु के ख्यापक विविध लक्षणों, विभिन्न सारों के लक्षण, व्याधि के साध्यासाध्यादि एवं सोपद्रवादि लक्षण, अग्नि के भेद, वय-देह-बल-सात्म्य-देश आदि के भेदों और लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है। छत्तीसवें 'भूमिप्रविभागीय' अध्याय में किस प्रकार की जमीन में उगनेवाली औषध में कौन-सा भौतिक गुण उत्कृष्ट या अपकृष्ट होगा, इस प्रकार वर्णन किया गया है। उनके गुणों के अनुसार चिकित्सा कार्य में प्रयोग करने के लिए वामक विरेचक द्रव्यों का संग्रह, ऋतु के अनुसार औषधियों के विभिन्न अवयवों का संग्रह, नवीन एवं पुराण औषध द्रव्यों के आवश्यकतानुसार ग्रहण करने का विधान बताया गया है। सैंतीसवें 'मिश्रक' अध्याय में वातादि दोषज शोथों के लिए प्रलेप, पाचन-दारण-प्रपीडक उपनाह, शोधक कषाय और संशोधक वर्तियों, कल्कों, तैल-चूर्ण आदि के योगों, व्रणधूपन, रोपण कषाय-कल्क घृत तैल चूर्ण रसक्रिया आदि, उत्सादन (मांसवर्धन) लेप, अवसादन (मांसस्फोटक) योगों का वर्णन मिलता है।

अँड़तीसवें 'द्रव्यसंग्रहणीय' अध्याय में द्रव्यों के ३० गणों का विविध रोग शामक रूप में संग्रह किया गया है। इनका संग्रह करने, संरक्षण करने और विभिन्न प्रकार की लेप कषाय तैल आदि कल्पनायें बनाने का भी निर्देश है। उनतालीसवें 'संशोधन संशमनीय' अध्याय में द्रव्यों के गुण जिस-जिस अवयव में विशेष रूप से विद्यमान रहते हैं उस उस को अर्थात् फल-मूल-क्षीर स्वरस-निर्यास आदि के ग्रहण करने का निर्देश किया गया है। वात-पित्त-कफ संशमन वर्ग; तथा व्याधि-अग्नि-पुरुष बल को देखकर ही औषध के प्रयोग करने का विधान बताया गया है। चौंतीसवाँ अध्याय 'द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक विज्ञानीय' है। इनमें से किसकी क्यों प्रधानता है? इनके भेदोपभेद, द्रव्य की विभिन्न प्रकार से क्रियाकारिता निरूपणात्मक पिद्धान्तपक्ष, और शास्त्र में

कही हुई रीति से द्रव्यों के उपयोग करने पर बल दिया गया है। इकतालीसवें 'द्रव्य विशेष विज्ञानीय' अध्याय में महाभूतों के गुणों और कर्मों के अनुसार द्रव्य का विभाजन, समस्त द्रव्यों के अनौषधि भूत न होने का समर्थन, वमन-विरेचन-संशमन-संग्रहण करने वाले द्रव्यों के गुण का सोपपत्तिक वर्णन किया गया है। शरीर के गुणों का वृद्धिक्षय द्रव्य गुणों के आधार पर अवलम्बित है, यह प्रतिपादित करना इस अध्याय का मुख्य हेतु है।

बयालीसवाँ अध्याय 'रसविशेष विज्ञानीय' है। इसमें रस की उत्पत्ति, उसके भेद और मधुरादि की उत्पत्ति में विभिन्न भूतों का सहयोग, रसों की दोषघ्नता, रसों का गुणानुसार कार्य, रसों के अनुसार औषधियों के वर्ग का निर्माण किया गया है। तैंतालीसवें अध्याय में वमन द्रव्यों का विवेचन किया गया है। इसमें विभिन्न प्रकार की वामक कल्पनाओं, उनके पिलाने की विधि, वमन द्रव्यों का रोगानुसार प्रयोग संक्षेप में बताया गया है। चौवालीसवाँ 'विरेचन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय' अध्याय है। इसमें विरेचक द्रव्यों का अवयवानुसारवर्णन, उनके पान की विधि और विविध योगों एवं कल्पनाओं का वर्णन है।

पैंतालीसवाँ 'द्रवद्रव्यविधि' अध्याय है। इसमें भूमि के अनुसार जल का रस और गुण, वर्षा के जल के भेद और ऋत्वनुसार उनके पीने का निर्देश, दुष्ट जल के लक्षण और उनके पीने से उत्पन्न होने वाले रोग, जल की शोधन विधि, विभिन्न देश की नदियों के जल का गुण आदि जल वर्ग में बताया गया है। इसके अतिरिक्त क्षीरवर्ग, दधि-तक्र घृत वर्ग भी हैं जिनमें उनके उद्भव मूल गाय भैंस आदि के अनुसार गुणों का और तदनुसार प्रयोग का निर्देश किया गया है। इसके अलावा तैल-मधु-इक्षु-मद्य-मूत्र आदि द्रव द्रव्य वर्ग भी हैं। इनकी भी उत्पत्ति के अनुसार गुणों का वर्णन किया गया है।

छियालीसवाँ 'अन्नपानविधि' अध्याय है। इसमें आहार द्रव्यों के गुणों का वर्णन है। चावल, क्षुद्र धान्य, मांस, फल, शाक, पुष्प, लवण, कृतान्न, भक्ष्य द्रव्यों और उनके साथ पीने वाले द्रव्यों के गुणों के साथ भोजन की विधि, भोजनोत्तर किये जाने योग्य और सेवन योग्य बातों आदि के विवेचन के साथ सूत्रस्थान समाप्त होता है।

निदानस्थान का प्रथम अध्याय वातव्याधि निदान, दूसरा अर्श निदान, तीसरा अश्मरी निदान, चौथा भगन्दर, पाँचवाँ कुष्ठ, छठवाँ प्रमेह, सातवाँ उदर, आठवाँ मूढ़ गर्भ, नवाँ विद्रधि, दसवाँ विसर्प-नाड़ी-स्तनरोग, ग्यारहवाँ ग्रन्थि-अपची-अर्बुद-गलगण्ड, बारहवाँ उपदंश-श्लीपद, तेरहवाँ क्षुद्ररोग, चौदहवाँ शूक दोष, पन्द्रहवाँ भग्न और सोलहवाँ मुख रोग निदान से सम्बद्ध है।

वातव्याधि निदान के प्रारम्भ में से सुश्रुत ने वायु के प्रकृतिभूत स्थान और कर्म और प्रकोपक निदानों के सेवन से प्रकुपित होने पर उत्पन्न होने वाले रोगों के विषय में प्रश्न किया। आचार्य ने वायु के भेद, उनके प्राकृतिक स्थान और कर्म तथा प्रकोपक निदानों के वर्णन करने के पश्चात् प्रकुपित वायु के आमाशय, पक्वाशयादि अवयवों में अवस्थित होने पर जिन-जिन लक्षणों की उत्पत्ति होती है उसका भी विवेचन किया है। इन्द्रियों, धातुओं, स्रोतसों आदि के वात दुष्ट होने पर भी उत्पन्न लक्षणों का विवेचन किया गया है। वातरक्त, आक्षेपक, पक्षाघात, अपतन्त्रक, मन्यास्तम्भ, अर्दित, गृध्रसी, विश्वाची, क्रोष्टुक शिर, खञ्ज-पङ्गु-वात, वातकण्टक, पाददाह, अंसशोष-अवबाहुक, बाधिर्य, कर्णशूल, तूनीप्रतितूनी, आध्मान प्रत्याध्मान, अष्ठीला आदि रोगों का भी इस अध्याय में वर्णन है।

वातज-पित्तज-कफज-रक्तज और सन्निपातज अर्श, वातज-पित्तज-कफज और शुक्रज अश्मरी, वातज (शतपोनक)-पित्तज (उष्ट्रगीव)-कफज (परिस्रावि) सन्निपातज (शम्बूकावर्त) और आगन्तुज (उन्मार्गी) भगन्दर, सात महाकुष्ठ और ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ, २० प्रकार के प्रमेह, दश प्रकार की प्रमेह-पिडकाओं, आठ प्रकार के उदर रोग, चार प्रकार के मूढ़ गर्भ, ६ प्रकार की विद्रधि; वातज-पित्तज-कफज-सन्निपातज और क्षतज विसर्प, वातज-पित्तज-कफज-द्वन्द्वज-सन्निपातज और शल्यज नाड़ी, वातज-पित्तज-कफज-सन्निपातज और अभिघातज स्तनरोग, वातज-पित्तज-कफज-मेदोज-सिराजग्रन्थि, वातज-पितज-कफज-रक्तज-मांसज और मेदज अर्बुद-अध्यर्बुद द्विरर्बुद आदि, वातज-कफज-मेदोज गलगण्ड, वात-पित्त-श्लेष्म-रक्त-मेद-मूत्र जअन्त्रवृद्धि, वातज-पित्तज-कफज-सन्निपातज और रक्तज उपदंश, वात-पित्त-कफज श्लीपद; ४४ क्षुद्र रोग यथा अजगल्लिका, यवप्रख्या, अंधालजी, विवृता, कच्छपिका, वल्मीक, इन्द्रविद्धा, पनसिका, पाषाण-गर्दभ, जालगर्दभ, कक्षा, विस्फोटक, अग्निरोहिणी, चिप्प, कुनख, अनुशयी, विदारिका, शर्करार्बुद, पामा, विचर्चिका, रकसा, पाद-दारिका, कदर, अलस, इन्द्रलुप्त, दारुणक, अरूंषिका, पलित्त, मसूरिका, यौवन पिडका, पद्मिनी कण्टक, जतुमणि, मशक, चर्मकील, तिलकालक न्यच्छ, व्यङ्ग, परिवर्तिका, अवपाटिका, निरुद्ध प्रकश, सन्निरुद्ध गुद, अहिपूतन, वृषणकच्छू एवं गुदभ्रंश, १८ शूकदोषज व्याधियाँ यथा—सर्षपिका, अष्ठीलिका, ग्रथित, कुम्भीका, अलजी, मृदित, संमूढ पिडका, अवमन्थ, पुष्करिका, स्पर्श हानि, उत्तमा, शतपोनक, त्वक्पाक, शोणितार्बुद, मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि, तिलकालक; ६ प्रकार के सन्धिमुक्त-भग्न-उत्पिष्ट, विश्लिष्ट, विवर्तित अवक्षिप्त, अतिक्षिप्त, तिर्यकक्षिप्त और १२ प्रकार के काण्डभग्न यथा—कर्कटक, अश्वकर्ण चूर्णित

पिच्चित, अस्थिच्छलित, काण्डभग्न, मज्जानुगत, अतिपातित, वक्र, छिन्न, पाटित और स्फुटित, ओष्ठ-दन्तमूल-दन्त-जिह्वा-तालु-कण्ठ और सम्पूर्ण मुख, इस प्रकार मुख के ७ आयतनों में कुल मिलाकर ६५ रोगों का वर्णन है। इसमें से ओष्ठ में आठ रोग यथा—वातज-पित्तज-कफज-सन्निपातज-रक्तज-मांसदुष्टिज, मेदोदुष्टिज,और क्षतज; पन्द्रह दन्तमूलगत रोग यथा शीताद, दन्त पुप्पुटक, दन्तवेष्टक, शौषिर, महाशौषिर, परिदर, उपकुश, दन्तवैदर्भ, वर्धन, अधिमांस और दन्तनाड़ी; आठ दातों के रोग यथा दालक-क्रिमिदन्तक, दन्तहर्ष, भञ्जनक, दन्तशर्करा, कपालिका, श्यावदन्तक और हनुमोक्ष; पाँच जिह्वा के रोग यथा वातज कण्टक, पित्तज कण्टक, कफज कण्टक, अलास और उपजिह्विका; नव तालगत रोग यथा गलशुण्डिका, तुण्डिकेरी अध्रुष, कच्छप, अर्बुद, मांससङ्घात, तालु पुप्पुट, तालुशोष-तालुपाक; सतरह कण्ठ रोग यथा पाँच रोहिणीवातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज और रक्तज; कण्ठशालूक, अधिजिह्वा, बलय, बलास, एकवृन्द, वृन्द, शतघ्नी, गिलायु, गलविद्रधि, गलौघा, स्वरघ्न, मांस तान और विदारी; वातज, कफज, पित्तज (एवं रक्तज) इस प्रकार तीन सर्वसर जो सम्पूर्ण मुख में दाह, पाक आदि उत्पन्न करते हैं। इन रोगों के निदान, लक्षण आदि का प्रतिपादन १६ अध्याओं में किया गया है।

तीसरे शारीर स्थान में कुल १० अध्याय हैं। प्रथम अध्याय सर्वभूत चिन्ता शारीर है। इसमें सृष्टि के २४ कारण, द्रव्यों की उत्पत्ति, उनके गुण, पुरुष की उत्पत्ति, मन के दोषानुसार भेद, पञ्चमहाभूतों के अनुसार शरीर का गुण बताया गया है। इनमें से अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राओं इन आठ को प्रकृति और पञ्चमहाभूत तथा एकादशेन्द्रिय इन सोलह को विकार कहते हैं।

द्वितीय अध्याय 'शुक्र शोणित शुद्धि' शारीर है। इसमें शुक्र और आर्तव के दोष तथा उनकी चिकित्सा, अदुष्ट शुक्रार्तव के लक्षण, असृग्दर का लक्षण और चिकित्सा; ऋतुकाल का आहार विहार, गर्भाधानविधि, गर्भोत्पत्ति के कारण, गर्भ की रूपोत्पत्ति और नेत्रविकृति, यमलोत्पत्ति, आसेक्य-सौगन्धिक-कुम्भीक-ईर्ष्यक और षण्ढ की उत्पत्ति के कारण, नारीषण्ढ की उत्पत्ति, अनस्थि, कलल एवं सर्पादि आकृतियों वाले गर्भ का उत्पन्न होना, कुब्ज-कुणि-पंगु-मूक-मिन्मिन आदि की उत्पत्ति, गर्भ के मूत्र-पुरीष, रोदन, निश्वासोच्छ्वास, तथा अङ्गों की उत्पत्ति और पूर्वजातिस्मर नरों की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है।

तीसरे 'गर्भावक्रान्ति शारीर' नामक अध्याय में शुक्र के योनि में प्रवेश से लेकर उसकी रचना में भाग लेने वाले विभिन्न भावों का वर्णन किया गया है। शुक्रार्तव संयोग के साथ ही साथ जब जीव उसमें प्रविष्ट होता है तभी

गर्भाधान होता है। शुक्र की अधिकता से पुरुष, आर्तव की अधिकता से स्त्री और दोनों के साम्य से नपुंसक की उत्पत्ति होती है। ऋतुमती के लक्षण, सद्योगृहीत गर्भा के लक्षण, प्रथम मास से लेकर आ प्रसव गर्भ की वृद्धि का विवेचन, दौर्हृदानुसार गर्भ से प्रसूत होनेवाले अपत्य के लक्षण का सूचन, गर्भ-के पोषण की विधि, अङ्गप्रत्यङ्गों की उत्पत्ति का क्रम, एवं पितृज-मातृज-रसज-आत्मज-सत्वज-सात्म्यज भावों का वर्णन मिलता है।

चौथे 'गर्भ व्याकरण शरीर' में ७ त्वचा और ७ कलाओं की उत्पत्ति, गर्भकाल में स्तनपुष्टी, यकृत-प्लीह-फुफ्फुस उण्डुकादि की उत्पत्ति, निद्रा और उसके भेद, अतिनिद्रा और अनिद्रा की चिकित्सा, क्लम-ग्लानि आदि के लक्षण, ७ प्रकार के प्रकृतियों की उत्पत्ति और उनके लक्षण, एकीय मत से भौतिक प्रकृति का प्रतिपादन, सत्त्वादि गुणों के भेद से मानस प्रकृति और तदनुरूप शरीरों का वर्णन किया गया है। पाँचवाँ 'शरीर संख्या व्याकरण' शारीर है। अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन और उनकी संख्या का निर्देश किया गया है, उदाहरणार्थ—हस्तपादादि चार शाखाओं, मध्य शरीर और शिर, इन ६ को अङ्ग तथा मस्तक, उदर, पृष्ठ, नाभि, ललाट, नासा, चिबुक, बस्ति, ग्रीवा—एक एक की संख्या वाले, कर्ण, नेत्र, भ्रू, शङ्ख, अंस, गण्ड, कक्षा, स्तन, वंक्षण, वृषण, पार्श्व, स्फिक्, जानु, कूर्पर, बाहु, ऊरु प्रभृति दो दो; अङ्गुलियों और स्रोतसों को प्रत्यङ्ग बताया गया है। संक्षेप में इस अध्याय में सात आशयों, सात धातुओं, सात सौ सिराओं, पाँच सौ पेशियों, नव सौ स्नायुओं, तीन सौ अस्थियों, दो सौ दस सन्धियों, एक सौ सात मर्म, चौबीस धमनियों, तीन दोष, तीन मल, नव स्रोतस्, सोलह कण्डराओं, सोलह जालकों, ६ कूर्चा, ४ रज्जु, सात सेवनी, चौदह सङ्घात, चौदह सीमन्त, बाइस योगवह स्रोतसों और स्थूलान्त्र एवं क्षुद्रान्त्र का वर्णन है।

छठवाँ अध्याय 'प्रत्येक मर्मनिर्देश शारीर' नामक है। इसमें पूर्वोक्त एक सौ सात मर्मों का रचनानुसार 'मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और संधि' मर्मों में विभाग किया गया है। ११ मांस मर्म, २७ स्नायु मर्म, ८ अस्थि मर्म, ४१ सिरा मर्म और २० सन्धि मर्म बताये गये हैं। इनके नाम और स्थान निर्देश के पश्चात् प्राणहरत्व की दृष्टि से इन्हें सद्यः या कालान्तर प्राणहरः, विशल्यघ्न, वैकल्यकर और रुजाकर बताया गया है। सातवाँ अध्याय 'सिरावर्ण विभक्ति शारीर' नामक है। इससे ७ सौ सिराओं के कर्म, मूल, भेदोपभेद, स्थान आदि का विवेचन किया गया है। आठवाँ अध्याय 'सिराव्यध विधि शारीर' है। इसमें सिराव्यध के योग्य और अयोग्य रोगियों का निर्देश किया गया है। सिरावेध का पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात् कर्म, वेध के योग्य ऋतु, विभिन्न रोगों के

अनुसार उन उन सिराओं के वेध करने का निर्देश एकप्रस्थ (१३½ पल) रक्तमोक्ष करने का विधान तथा दुष्ट विद्ध के लक्षण बताये गये हैं। नवाँ अध्याय 'धमनी व्याकरण शारीर' है, इसमें २४ धमनियों की नाभि (हृदय) से उत्पत्ति, उनके विभाग एवं कर्म का विवेचन किया गया है।

दसवाँ अध्याय 'गर्भिणी व्याकरण शारीर' है। इसमें प्रथम दिवस से लेकर नवम मास तक की चर्या, प्रसवकालिक उपचार, गर्भसङ्ग की चिकित्सा, नाभि-नाड़ी छेदन, जातकर्म, सूतिकोपचार, नामकरण, धात्री की परीक्षा, स्तनपान, बालकों के रोगज्ञानोपाय, विविध रोगों की चिकित्सा, ज्वर-तालुपात-गुदपाक आदि बालकों के रोगों का संक्षिप्त वर्णन, अन्नप्राशन (६ मास पर), ग्रहोपसर्ग के लक्षण, विवाह योग्य वय, गर्भाधान योग्य काल, पतिष्यमान गर्भ के लक्षण और उसकी चिकित्सा, गर्भिणी के अन्य रोगों की चिकित्सा का वर्णन करते हुए इस स्थान की समाप्ति होती है।

चौथे चिकित्सास्थान में प्रथम अध्याय 'द्विव्रणीय' चिकित्सित है। शारीर और आगन्तुक भेद से व्रण के दो प्रकार होने पर इसे द्विव्रणीय कहा गया है और उसकी चिकित्सा के लिए ६० उपाय बताये गये हैं। दूसरा अध्याय 'सद्योव्रण' चिकित्सित है। इसमें नाना प्रकार के शस्त्रों से उत्पन्न होनेवाले व्रणों की आकृति, उनके भेद और लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन मिलता है। तीसरा 'भग्न चिकित्सित' अध्याय है, इसमें भग्न की कृच्छ्रसाध्यता, पथ्य, अपथ्य, कुशा, लेप, बन्ध, और आभ्यन्तर औषधियों का विवेचन है विभिन्न प्रकार के भग्नों की चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया गया है।

चौथा अध्याय वातव्याधि चिकित्सित है। इसमें सभी वातव्याधियों की सामान्य चिकित्सा और कुछ के विशिष्ट चिकित्सा का भी वर्णन है। पाँचवाँ अध्याय 'महावात व्याधि' चिकित्सित है। इसमें वातरक्त के हेतु, सम्प्राप्ति, अनुबन्ध और चिकित्सा का विवेचन है। अपतानक, पक्षाघात, मन्यास्तम्भ, अपतन्त्रक, अर्दित, गृध्रसी आदि बड़ी-बड़ी वातव्याधियों की चिकित्सा इसी अध्याय में बताई गयी है।

छठवाँ अध्याय 'अर्शस् चिकित्सित' है, जिसमें अग्निकर्म, क्षारकर्म तथा अन्यविधियों से भी इसकी चिकित्सा का विवेचन किया गया है। सातवाँ अध्याय 'अश्मरी चिकित्सित' है। इसमें नवीन व्याधि की चिकित्सा औषध से और चिरकालीन होने पर शस्त्रकर्म करके आहरण करने का विधान बताया गया है। आठवें अध्याय में भगन्दर के अग्निकर्म, क्षारकर्म, शस्त्रप्राणिधान तथा लेपादि का निर्देश किया गया है।

नवें अध्याय में क्षुद्र कुष्ठ की चिकित्सा तथा दशवें अध्याय में महाकुष्ठ की

चिकित्सा का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में प्रमेह को सहज और अपथ्य-निमित्तज बताते हुए उसके चिकित्सा और पथ्य का विवेचन किया गया है। बारहवें अध्याय में प्रमेहपिडकाओं की चिकित्सा बताई गई है। तेरहवें अध्याय में केवल मधुमेह की ही चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया गया है। चौदहवें अध्याय में सभी प्रकार के उदररोगों की चिकित्सा सामान्य एवं विशिष्ट योगों द्वारा बताई गई है। वद्धगुद और परिस्रावि में शस्त्रकर्म का भी विधान बताया गया है और उसका विस्तृत विवेचन भी किया गया है।

पन्द्रहवाँ अध्याय मूढ़गर्भ चिकित्सित है। इसमें भी शस्त्रावचारण की विधि का वर्णन मिलता है। अवस्थानुसार औषध योगों का भी निर्देश किया गया है। सोलहवाँ अध्याय विद्रधि चिकित्सा का है, इसमें विभिन्न प्रकार की विद्रधियों के लिये उपनाह, स्वेद, रक्तमोक्ष तथा शस्त्रकर्म की विधियों का वर्णन है। सतरहवें अध्याय में विसर्प के लिये लेप, नाड़ी के लिये प्रलेप और शस्त्रकर्म, तथा स्तनरोग के लिये विविध योगों का वर्णन किया गया है। अठारहवें अध्याय में ग्रन्थ्यादि की चिकित्सा में स्नेह, प्रलेप, जलौकावचारण, शस्त्रकर्म आदि का निर्देश किया गया है। इक्कीसवें वृद्धि-उपदंश श्लीपद चिकित्साध्याय में विरेचन, शस्त्रकर्म, सिरामोक्ष आदि का आवश्यक विधान बताया गया है।

क्षुद्र रोगों की (बीसवें अध्याय में) अलग-अलग योगों द्वारा चिकित्सा बताई गई है। इक्कीसवें अध्याय में शूकदोषों की और बाइसवें अध्याय में मुखरोगों की चिकित्सा के योग बताये गये हैं। तेईसवें अध्याय में शोफ के निदान, लक्षण और चिकित्सा का वर्णन है।

चौबीसवें 'अनागतबाधाप्रतिषेध' नामक अध्याय में स्वस्थवृत्त का वर्णन है। दन्तधावन, जिह्वानिर्लेखन, गण्डूष, अञ्जन, मुखशोधन, शिरोऽभ्यङ्ग, शरीराभ्यङ्ग, व्यायाम, उत्सादन, उद्वर्तन, स्नान, माल्याम्बर-रत्नादि धारण, आदि के गुणों और उनके सेवन की विधि का वर्णन किया गया है। कुछ वर्ज्य विषयों का भी इसमें संग्रह है। पच्चीसवाँ अध्याय 'मिश्रक' चिकित्सित है, इसमें कर्णपाली के रोगों का उपचार, कर्णवेध एवं उसकी चिकित्सा का वर्णन है।

छब्बीसवें अध्याय में वाजीकरण का वर्णन है। इसके योग्य वय, योग्यता, विधि और तदनुकूल विभिन्न योगों का इस स्थल पर विवेचन किया गया है। सत्ताइस से लेकर तीस अध्याय तक रसायन चिकित्सा का वर्णन है। सत्ताइसवाँ अध्याय 'सर्वोपघातशमनीय रसायन' नामक है। इसमें शोधनानन्तर रसायनसेवन का उपदेश किया गया है। वयःस्थापन, आयुवर्धन योगों का

इसमें वर्णन है। अट्ठाइसवें 'मेधायुष्कामीय' रसायनाध्याय में ऐसे योगों का वर्णन है जिनके सेवन से स्मरणशक्ति एव आयु दोनों ही की वृद्धि होती है। उन्तीसवाँ 'स्वभाव व्याधि प्रतिषेधनीय' रसायनाध्याय है, इसमें सोम औषधि के भेदों, गुणों सेवनविधि और उससे होनेवाले लाभ का वर्णन है। तीसवाँ अध्याय 'निवृत्तसन्तापीय' रसायन है। इसमें रसायन सेवन के लिए अयोग्य पुरुषों और गुणों का विवेचन है। उसके अतिरिक्त सोम के ही समान गुण-धर्म वाली कुछ अन्य औषधों का उल्लेख है जिनके सेवन से बल-वर्ण आयुष्य आदि की वृद्धि होती है।

इकतीसवाँ अध्याय 'स्नेहोपयौगिक चिकित्सित' है। इसमें स्नेह के भेद, उनके गुण, स्नेहपाक और इस प्रक्रिया में उपयोगी पल-कुडव आदि मानों का विवेचन, स्नेहपान विधि, दोष-काल भेद से विकल्प, तथा स्निग्धास्निग्धातिस्निग्धादि भेदों का विवेचन किया गया है। बत्तीसवाँ 'स्वेदावचारणीय' है, इसमें स्वेद के भेद, उनकी कल्पना और उपयोग विधि, शोधनीय रोग, स्वेद के गुण, अतियोग की चिकित्सा आदि का वर्णन है। तैंतीसवाँ अध्याय 'वमन विरेचन साध्योपद्रव चिकित्सित' है। इसमें वमन-विरेचन कराने की विधि अयोगातियोग और सम्यग् योग के लक्षण, पश्चात् कर्म का निर्देश एवं पथ्य; वमन का फल, वमन के योग्य-अयोग्य रोगी और इसी प्रकार से विरेचन का भी विवेचन किया गया है। चौंतीसवाँ अध्याय 'वमन विरेचन व्यापत्' चिकित्सित है। इसमें व्यापत्ति के १५ प्रकार और उनका विवेचन किया गया है। पैंतीसवाँ अध्याथ 'नेत्र बस्ति प्रमाण विभाग' चिकित्सित है। इसमें बस्ति की श्रेष्ठता, उपयोग, वयोविभागानुसार बस्ति-यन्त्र का प्रमाण, बस्ति के भेद, आस्थापन और अनुवासन के अयोग्य और योग्य रोगियों का निर्देश, और उसके व्यापत्तों का वर्णन है। छत्तीसवाँ अध्याय 'नेत्र-बस्ति व्यापच्चिकित्सित' है। इसमें बस्तिनेत्र के अनुचित प्रणिधान से उत्पन्न दोषों, बस्तिनेत्र के दोषों और चिकित्सा, बस्तिदान के समय अधिक पीडन से उत्पन्न दोष, द्रव्यों के दोष, शय्यादि दोष और अयोगादि व्यापदों की चिकित्सा का वर्णन है। सैंतीसवाँ अध्याय 'अनुवासनोत्तरबस्ति' चिकित्सित नामक है। इसमें अनुवासन दान का फल और उसकी मात्रा, पूर्वकर्म, विविध तैल योगों, धातुक्षयज वातव्याधि में शोधन कराये बिना ही अनुवासन देने का विधान, रात्रि में निरूह का निषेध, ग्रीष्म ऋतु में रात्रि में बस्तिदान का विधान तथा बस्ति के अट्ठारह योगों का वर्णन है। इसके पश्चात् स्नेह बस्तिज व्यापद और चिकित्सा, शोधन एवं स्वेदन कराये बिना बस्ति देने से हानि, उत्तर बस्ति देने की विधि, इसके नेत्र का प्रमाण, स्नेह मात्रा, प्रणिधान विधि, और उत्तर बस्ति के निर्देश आदि का वर्णन है।

अँड़तीसवाँ अध्याय 'निरूह् क्रम' चिकित्सत है। इसमें अनुवासन के पश्चात् आस्थापन विधान, बस्तिदानविधि, क्रम, हीन अति और सम्यङ्-निरूह् के लक्षण, पश्चात् कर्म निर्देश, निरूह् के प्रवर्तित न होने से उत्पन्न रोग और उनकी चिकित्सा, आवस्थिक चिकित्सा, बस्ति द्रव्यों की क्रमपूर्वक योजना तथा द्वादशप्रसृत प्रमाण बनाने की विधि, वातादि दोषों में बस्ति योग, सत्त्व भेद से बस्तित्रैविध्य, उत्क्लेशन-दोषहर और संशमनीय बस्तियों का क्रम, तथा माधुतैलिक बस्तियों की विवेचना की गई है।

उनतालीसवाँ अध्याय 'आतुरोपद्रव' चिकित्सित है। इसमें स्नेहपान-वमन-विरेचन-बस्ति और रक्तमोक्ष के पश्चात् उत्पन्न हुए अग्निमान्द्य की चिकित्सा, हृतदोष प्रमाणानुसार आहारविधि, संसर्जन कर लेने के पश्चात् रसों के सेवन का क्रम, अन्य समान रोगों की अवस्था में पथ्यनिर्देश, पथ्यपालन न करने से उत्पन्न होनेवाले रोगों का वर्णन किया गया है। चालीसवाँ अध्याय 'धूम-नस्यकवलग्रह' चिकित्सित है। इसमें धूम के प्रायोगिक-स्नैहिक-वैरेचनिक-कासघ्न और वामनीय (पाँच) भेद, उनके बनाने की विधि, धूमनेत्र, धूमपान विधि, उसके उपयोग का फल, शिरोविरेचन का निर्देश, दोषानुसार उसके प्रयोग एवं मात्रा का विभाजन, पश्चात्कर्म; नस्य के अयोग्य रोगी, व्यापत्तियाँ, कवलग्रह की विधि, मात्रा और धारण काल, सम्यग् योग के लक्षण आदि का इस अध्याय में वर्णन है।

पाँचवें कल्पस्थान में ८ अध्याय हैं। इसमें प्रायः अगदतन्त्र के विषयों का समावेश है। प्रथम अध्याय 'अन्नपानरक्षाकल्प' नामक है। इसमें अगदतन्त्रवेत्ता के लक्षण, महानस बनाने की विधि, विषदूषित अन्न को जानने की विधि, उनके खा लेने पर उत्पन्न लक्षणों और चिकित्सा का वर्णन है। दूसरा अध्याय 'स्थावर विष विज्ञानीय' है। इसमें स्थावर विष के दश अधिष्ठान, उनके ५५ भेद, मूल-कन्द आदि विषों के प्रभाव से उत्पन्न लक्षण, विष के दश गुण, दूषीविष की उत्पत्ति, विषवेग के लक्षण और उसकी चिकित्सा का निर्देश है। तीसरे 'जङ्गम विष विज्ञानीय' कल्पाध्याय में विष के अधिष्ठान, उनकी विशेष जीवों में उत्पत्ति, दुष्ट जल के लक्षण और उसके प्रशोधन के उपाय, विषजुष्ट पृथ्वी, तृण, धूम आदि के लगने से उत्पन्न होनेवाले रोग और उनकी चिकित्सा, सर्पों के सर्वशरीर में विष का निवास होना और क्रुद्ध होने पर द्रंष्ट्रा से उसका निर्गम, दिग्ध विद्ध और सर्पदष्ट-विषपीत आदि के लक्षणों और असाध्यता का वर्णन है।

चौथा अध्याय 'सर्पदष्टविषविज्ञानीय' है। इसमें साँपों के अस्सी प्रकार का विवेचन, उनके लक्षण, काटने का कारण, विष के सात वेग और प्रत्येक

वेग के लक्षण और सात कलाओं के कारण ही सात वेगों की उत्पत्ति आदि का विवेचन किया गया है। पाँचवें 'सर्पदष्टविषचिकित्सित' अध्याय में दंशस्थल पर अरिष्टाबन्धन, दाह कर्म, रक्तचूषण, मन्त्रोपचार, दंशस्थल के पास की सिराओं से रक्तमोक्षण, अगदपान, वमन कराना, तैलादिपान का निषेध, विष के वेगानुसार चिकित्सा, अवस्थाविशेष में वमनविरेचन अञ्जनादि उपचार तथा विविध विषघ्न योगों का वर्णन है। छठवें 'दुन्दुभि रचनीय कल्प' में ऐसे योगों का वर्णन है जिनका दुन्दुभि, पताका और तोरण पर लेप करने का निर्देश किया गया है। इनके श्रवण, दर्शन और स्पर्शमात्र से विष का प्रशमन हो जाता है, ऐसा बताया गया है। क्षारागद, कल्याणक घृत, आदि योगों का उल्लेख है। विषार्त रोगी का यद्यपि शीत उपचार करना चाहिये, किन्तु कीटविष की शीत से अभिवृद्धि होती है अतः उसमें उष्णोपचार करने का विधान है। अविष मनुष्य के लक्षण भी इसमें बताये गये हैं।

सातवाँ मूषिककल्पाध्याय है। इसमें अट्ठारह प्रकार के मूषिकों का वर्णन और उनके शुक्र, नख, दन्तादि से उत्पन्न होनेवाले रोगों का वर्णन है। इसकी चिकित्सा दाहकर्म, प्रच्छान और अगदलेप बताई गई है। वमन, विरेचन, शिरोविरेचन तथा औषधिपान का भी उल्लेख है। मूषिक विष का वर्षाऋतु में प्रकोप होता है, अतएव उस समय दूषी-विष की चिकित्सा करनी चाहिये। शृगाल, कुत्ते, व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं से दष्ट होने पर भी इसमें चिकित्सा करने का विधान बताया गया है। आठवाँ अध्याय 'कीटक कल्प' नामक है। इसमें कीटों की उत्पत्ति, उनके भेद, उनसे उत्पन्न होनेवाले वातज-पित्तजादि वत् रोग, लक्षण, चिकित्सा आदि का इसमें वर्णन है। इस अध्याय के अन्त में चिकित्सा की उपादेयता का भी उल्लेख किया गया है। यह भी निर्देश दिया गया है कि इन १२० अध्यायों में शालाक्यतन्त्र, कौमारभृत्य और काय चिकित्सा सम्बन्धी जिन विषयों की सक्षेप में ही चर्चा की गई है अथवा जिनका निर्देश नहीं किया जा सका है, उनका उत्तरतन्त्र में विवेचन किया जायेगा।

उत्तरतन्त्र में कुल ६६ अध्याय हैं। प्रारम्भिक ३८ अध्यायों में शालाक्यतन्त्र का और उनतालीसवें अध्याय से कायचिकित्सासम्बन्धी विषयों का विवेचन है। प्रथम 'औपद्रविक' नामक अध्याय के प्रारम्भ में उत्तरतन्त्र की विषय सूची और उसकी महानता का वर्णन है। तदनन्तर नेत्रगोलक की रचना का बड़ा विशद वर्णन किया गया है। नेत्र रोगों की सामान्य सम्प्राति, पूर्वरूप और पूर्वरूपावस्था में ही चिकित्सा करने का विधान, नेत्ररोगों के निदान, उनकी संख्या तथा साध्यासाध्यता का भी इसी में वर्णन

है। दूसरे से लेकर सातवें अध्याय तक विभिन्न अधिष्ठानों में होनेवाले नेत्ररोगों के निदान, सम्प्राप्ति, संख्या, लक्षणों आदि का वर्णन है। द्वितीय अध्याय संधिगत रोगविज्ञानीय, तृतीय वर्त्मगत रोगविज्ञानीय, चतुर्थ शुक्लगत रोगविज्ञानीय, पञ्चम कृष्णगत रोगविज्ञानीय, षष्ठ सर्वगत रोगविज्ञानीय और सप्तम 'दृष्टिगत रोगविज्ञानीय' अध्याय हैं। आठवें अध्याय से लेकर उन्नीसवें अध्याय तक नेत्ररोगों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। सातवाँ अध्याय 'चिकित्सित प्रविभागविज्ञानीय' नामक है। इसमें पहले सात अध्यायों में बताये गये ७६ नेत्ररोगों में से किस में किस प्रकार की चिकित्सा करना उचित है, उनके शस्त्रकर्म और औषधचिकित्सा के लिए स्नेहन, स्वेदन, सिरामोक्ष और इसके बाद तर्पण, पुटपाक, धूम, आश्च्योतन, नस्य, स्नेह, परिषेक, शिरोबस्ति आदि क्रियाओं में प्रयुक्त विविध योगों का वर्णन है। नवें अध्याय में वाताभिष्यन्द, दशवें में पित्ताभिष्यन्द, ग्यारहवें में श्लेष्माभिष्यन्द और बारहवें में रक्ताभिष्यन्द प्रतिषेध का वर्णन है।

तेरहवें अध्याय से शस्त्रकर्माधिकार प्रारम्भ होता है। जिसमें पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात् कर्म का भी प्रत्येक शल्यकर्म के साथ विशद विवेचन किया गया है। तेरहवाँ अध्याय 'लेख्यरोगप्रतिषेध' नामक है। इसमें लेखन की विधि के साथ ही साथ सम्यग् लिखित, दुर्लिखित और अतिलिखित के लक्षणों का भी निर्देश है। चौदहवें भेद्यरोगप्रतिषेधाध्याय में पांच भेद्य रोगों विषग्रन्थि, लगण, अञ्जननामिका, क्रिमिग्रन्थि और श्लेष्मोपनाह की आमावस्था में शमन और पक्वावस्था में भेदन का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें 'छेद्यरोग' प्रतिषेधाध्याय, में ग्यारह छेद्य रोगों के शस्त्रकर्म, प्रतिसारण, शूलघ्न लेप तथा अन्य आवस्थिक चिकित्साओं यथा लेखन आदि का भी विधान बताया गया है। विविध लेखन योगों का भी इसमें वर्णन किया गया है। सोलहवें 'पक्ष्मकोपप्रतिषेध' अध्याय में प्रथम शस्त्रकर्म और उससे शमन न होने पर अग्निकर्म और क्षारकर्म करने का निर्देश है। इससे भी उपशम न होने पर औषधियों से प्रतिसारण, एवं विरेचन आश्च्योतन, धूम, नस्य, लेप, अञ्जन, स्नेह, रसक्रिया आदि का प्रयोग करना चाहिये। सतरहवाँ अध्याय 'दृष्टिगत रोग प्रतिषेध' नामक है। इसमें १२ दृष्टिरोगों की साध्यासाध्यता और चिकित्सा बताई गई है। धूमदर्शि, पित्तविदग्ध दृष्टि और श्लेष्मविदग्ध दृष्टि, ये तीन रोग साध्य हैं। इनमें नस्य, सेक, अञ्जन, आलेप, पुटपाक, सन्तर्पण आदि क्रियाओं को प्रतिपादित करने के लिये विविध योगों का उल्लेख किया गया है। ६ प्रकार के काचों को याप्य बताया गया है। प्रारम्भ में ये साध्य होते हैं और पुराने हो जाने पर असाध्य कोटि में प्रविष्ट होते हैं, यही इनकी याप्यता

का तात्पर्य है। इनमें सिरामोक्ष और विरेचन कराने का विधान है, संशोधन के पश्चात् संशमन, नस्य, पुटपाक, अञ्जन, प्रत्यञ्जन आदि के योग भी बताये गये हैं। नेत्र के लिये पथ्य और अपथ्य का भी विवेचन किया गया है। श्लैष्मिक लिङ्गनाश की अवस्था में शस्त्रकर्म करने का विधान और उसकी रीति बताई गई है। शस्त्रकर्मज व्यापत्तियों और उनकी चिकित्सा का भी दिग्दर्शन कराया गया है।

अठारहवें 'क्रियाकल्प' नामक अध्याय में तर्पण-पुटपाक-सेक-आश्च्योतन और अञ्जन की प्रक्रियायें किस प्रकार सम्पादित करनी चाहिये, इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। उन्नीसवाँ अध्याय 'नयनाभिघात प्रतिषेध' नामक है। इसमें तत्काल अभिघात लगा हो तो उसके लक्षण चिकित्सा और एक सप्ताह के पश्चात् जीर्णता उत्पन्न हो जाये, तो उस समय चिकित्सा का भी वर्णन है। पूर्वोक्त ७६ नेत्र रोगों के अतिरिक्त बालकों में ही होने वाले एक कुकूणक रोग का वर्णन इसमें किया गया है। इसकी चिकित्सा भी बताई गई है। नेत्र रोगों के निदान चिकित्सा का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि शालाक्य तन्त्र का वर्णन करोड़ों श्लोकों में भी नहीं किया जा सकता। यह तो बीजरूप में बताया गया है। बुद्धिमान वैद्य को चाहिए कि अन्य तन्त्र को देखकर अपनी बुद्धि का विकास करें।

बीसवें अध्याय में अट्ठाईस कर्ण-रोगों का और इक्कीसवें अध्याय में उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है। बाईसवें अध्याय में ३१ नासारोगों के लक्षणों का विवेचन किया गया है। प्रतिश्याय की चिकित्सा चौबीसवें अध्याय में और शेष नासारोगों की चिकित्सा का तेईसवें अध्याय में वर्णन किया गया है। पच्चीसवें अध्याय में शिरोरोग के लक्षण और छब्बीसवें में उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

सत्ताईसवें से लेकर सैंतीसवें अध्याय तक कौमारभृत्य विशेषत: बालग्रहों का वर्णन है। सत्ताईसवाँ 'नवग्रहाकृति विज्ञानीय' है, इसमें नवों ग्रहों के नाम, बालकों में प्रवेश का कारण, उनसे उत्पन्न होने वाले लक्षण और उनकी साध्यासाध्यता का वर्णन है। अट्ठाईसवें अध्याय में स्कन्दग्रह की चिकित्सा उन्तीसवें में स्कन्दापस्मार की, तीसवें में शकुनी, इकतीसवें में रोहिणी, बत्तीसवें में पूतना, तैतीसवे में अन्धपूतना, चौंतीसवें में शीतपूतना, पैंतीसवें में मुखमण्डिका और छत्तीसवें में नैगमेष प्रतिषेध (चिकित्सा) का वर्णन है। सैंतीसवें अध्याय में ग्रहों के स्वरूप का विवेचन, उनकी उत्पत्ति, किस प्रकार के बालकों को पकड़ते हैं तथा स्कन्दग्रह की उग्रता का वर्णन है।

अँड़तीसवाँ अध्याय 'योनिरोगप्रतिषेध' नामक है। इसमें योनिरोगोत्पत्ति का कारण, उनके नाम, लक्षण और चिकित्सा का वर्णन है।

उनतालीसवें अध्याय से लेकर साठवें अध्याय तक कायचिकित्सा के विषयों का वर्णन है। इसमें क्रमशः ज्वर (३९), अतिसार (४०), शोष (४१), गुल्म (४२), हृद्रोग (४३), पाण्डुरोग (४४), रक्तपित्त (४५), मूर्च्छा (४६), मदात्यय (४७), तृष्णा (४८), छर्दि (४९), हिक्का (५०), श्वास (५१), कास (५२), स्वरभेद (५३), कृमिरोग (५४), उदावर्त (५५), विसूचिका (५६), अरोचक (५७), मूत्राघात (५८) और मूत्रकृच्छ्र (५९) के निदान, सम्प्राप्ति, पूर्वरूप, रूप, उपद्रव, साध्यासाध्यता और चिकित्सा का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके बाद भूतविद्या का प्रकरण प्रारम्भ होता है।

साठवाँ अध्याय 'अमानुषोपसर्ग प्रतिषेध' नामक है। इसमें क्षत को उपसृष्ट करने वाले क्रिमियों को निशाचर संज्ञा दी गई है। इसी का परिष्कृत रूप आधुनिक बैक्टिरियोलाजी है। इन्ही के एक भेद को 'ग्रह' संज्ञा से निर्दिष्ट करके उससे सन्तप्त होने पर उन्माद के से लक्षणों की उत्पत्ति होना बताया गया है। देव-दानव-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पितर-पिशाच और भुजङ्ग इन आठ से गृहीत होने पर मनुष्य उन्मत्त होता है। इनके असाध्य लक्षण, आवेशकाल और चिकित्सा का इस अध्याय में समुचित वर्णन है। एकसठवाँ अध्याय अपस्मार प्रतिषेध और बासठवाँ उन्माद प्रतिषेध है।

तिरसठवाँ अध्याय 'रसभेद विकल्प' नामक है। इसमें रसों के एकाकी तथा संयोग विकल्प-दोनों प्रकार से होने वाले ६३ भेदों का विवेचन किया गया है। रस ही दोषों के प्रकोपक या प्रशमकारी होते हैं अतएव दोषों के भी इसी प्रकार विभाग होंगे ऐसा निर्देश भी इस विकल्प से मिलता है। छाछठवाँ अध्याय 'दोषभेद विकल्प' नामक है, जिसमें दोषों के ६२ भेद बताये गये हैं। चौसठवाँ अध्याय स्वस्थवृत्त संबंधी है। इसमें ऋतुचर्या, द्वादशासन प्रविचार (किस रोग में कैसा भोजन दें), दश औषधकाल, और भोजनकाल का विवेचन है। पैंसठवाँ अध्याय तन्त्रयुक्तियों से सम्बन्धित है। जिसमें ३२ तन्त्रयुक्तियों का विवेचन है।

नामैकशेष शल्यतन्त्रीय ग्रन्थ—सुश्रुतसंहिता के अलावा अन्य संहिताओं के नाम ही सुनने को मिलते हैं, या तो उनके एकाध उद्धरण प्राचीन टीकाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव उनकी एक सूची प्रत्यक्षशारीर के उपोद्घात से उद्धृत की जाती है :—

१. औपधेनव तन्त्र
२. औरभ्र तन्त्र
३. पौष्कलावत तन्त्र
४. वैतरण तन्त्र
५. भोज तन्त्र
६. करवीर्य तन्त्र
७. गोपुररक्षित तन्त्र
८. भालुकि तन्त्र
९. कपिल तन्त्र
१०. गौतम तन्त्र
११. वृद्ध सुश्रुत

शालाक्यतन्त्रीय संहिताओं की सूची—

१. विदेह तन्त्र[1]
२. निमि तन्त्र
३. काङ्कायन तन्त्र
४. गार्ग्य तन्त्र
५. गालव तन्त्र
६. सात्यकि तन्त्र
७. शौनक तन्त्र
८. भद्रशौनक तन्त्र
९. कराल तन्त्र
१०. चक्षुष्य तन्त्र
११. कृष्णात्रेय तन्त्र[2]।

अगदतन्त्रीय संहिता ग्रंथ—

१. काश्यपसंहिता[3]
२. आलम्बायन संहिता
३. उशनःसंहिता
४. शौनक संहिता या सनक संहिता
५. लाटयायन संहिता।

यद्यपि रसायन और वाजीकरण के विषय में चरक ने एक-एक अध्याय लिखा है और सुश्रुत में भी इसके वैशिष्ट्यादि का उल्लेख है किन्तु प्रत्यक्ष-शारीर के उपोद्घात को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में इस पर कई ग्रन्थ उपलब्ध थे। इनका यहाँ पर नामसंग्रह मात्र कर दिया जाता है। जिज्ञासु को मूलग्रंथ (उपोद्घात) देखना श्रेयस्कर होगा।

रसायनतन्त्रीय ग्रन्थ—

१. पातञ्जल तन्त्र
२. व्याडि तन्त्र
३. वशिष्ठ तन्त्र
४. माण्डव्य तन्त्र
५. नागार्जुन तन्त्र।

---

१. इसका उल्लेख चरक और सुश्रुत दोनों ही संहिताओं में मिलता है।

२. ये कायचिकित्साविद् महर्षि कृष्णात्रेय से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

३. यह ग्रन्थ वृद्धजीवकीय तन्त्र से भिन्न प्रतीत होता है। महाभारत में इन्हें अगद तन्त्रज्ञ काश्यप ऋषि कह कर वर्णन किया गया है।

वाजीकरणतन्त्रीय ग्रन्थ—

१. कुचुमार तन्त्र
२. औद्दालकि और बाभ्रव्यकृत कामशास्त्र
३. वात्स्यायन कृत कामसूत्र ।

ये संहितायें या इनके कुछ अंश जो नष्ट या विलुप्त होने से बचे थे, प्राचीन टीकाकारों श्री चक्रपाणि, डल्हण आदि के समय तक उपलब्ध थे। स्वर्गीय आचार्य यादव जी महाराज बार-बार इस बात पर जोर देते थे कि संहितायें नष्ट हो गई हैं और नष्ट संहिता के प्रमाण के रूप में वे काश्यपसंहिता को उद्धृत करते थे। यह 'कौमारभृत्य' विषयक ग्रंथ है जिसका प्रकाशन नेपाल राजगुरु पं० हेमराज शर्मा जी ने अथक परिश्रम करके कराया है। यह टूटे-फूटे रूप में प्रकाशित संहिता इस बात को सिद्ध करती है कि प्राचीन काल में अष्टाङ्ग आयुर्वेद परिपूर्णाङ्गावयव था और एक-एक अङ्ग पर अनेक-अनेक ग्रन्थ उपलब्ध थे। केवल मनुष्य ही नहीं प्रत्युत पशुचिकित्सा विययक ग्रन्थ भी मिलते थे। उदाहरणार्थ—

(१) **शालिहोत्र संहिता**—यह ग्रंथ घोड़ों की चिकित्सा से सम्बन्धित है। नकुलकृत और जयदत्त सूरिकृत ग्रन्थ बङ्गदेशीय एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित है। किन्तु उसमें जो मङ्गलाचरण के श्लोक हैं उनसे भिन्न श्लोक एक नकुलकृत शालिहोत्र संहिता में देखने को मिला जिसकी हस्तलिखित प्रति पं० हनुमत् प्रसाद जी शास्त्री (भू० पू० प्रध्यापक मौलिक सिद्धांत विभाग, स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र, जामनगर) के पास है।

(२) **पालकाप्य संहिता**—यह गजों की चिकित्साविषयक ग्रन्थ है और आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला पूना से छपा है।

(३) **गौतम संहिता**—इसके पाठ ही उद्धृत मिलते हैं। यह भी हाथियों की चिकित्सा विषयक ग्रंथ है।

इसके अतिरिक्त गाय, बैल, भेंड़, बकरी आदि चतुष्पदों और पशु पक्षियों की चिकित्सा विषयक ग्रंथ भी थे, जो आज सर्वथा लुप्त हो गये हैं।

काश्यप संहिता – इसका नाम 'वृद्धजीवकीयतन्त्र' भी है। यह अष्टाङ्ग आयुर्वेद के कौमारमृत्यअङ्ग पर प्रकाश डालती है। चरक सुश्रुत के समान ही यह तन्त्र भी बहुत प्राचीन है। इसके प्रकाशन का श्रेय नेपालराजगुरु पं० हेमराज शर्मा को है। इसकी उपलब्धि के विषय का इतिहास उन्ही के शब्दों में अधोलिखित रूप से अनूदित किया जाता है—"ताड़पत्रों पर लिखित इस पुस्तकी साइज २१½"×२½" है। प्रत्येक पृष्ठ में ६ पंक्तियाँ हैं। आरम्भ के २८ पृष्ठ नहीं है। २९ वे से प्रारम्भ होकर २६४ पृष्ठ पर यह ग्रन्थ समाप्त होता

है। बीच-बीच में भी बहुत से पृष्ठ खण्डित और विलुप्त हैं। (लगभग ७८ पृष्ठ बीच के भी नहीं मिलते) उपलब्ध पृष्ठों के भी अक्षर, शब्द, पंक्ति कहीं-कहीं नहीं मिलते। पुस्तक का लेख देखने से ऐसा अनुमान होता है कि इसका लिपि-करण अब से ७-८ सौ वर्षों पूर्व किया गया होगा।"

इस तन्त्र के उपदेशक महर्षि कश्यप हैं, ऐसा आठवें कल्पस्थान के अंतिम अध्याय 'संहिता कल्प' के उल्लेख से प्रतीत होता है। यहाँ पर रोगों की उत्पत्ति का काल सतयुग और त्रेता के बीच बताया गया है जो चरक के विवेचन से मिलता है। इसी समय महर्षि कश्यप ने पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से इस तन्त्र का निर्माण किया अत एव उनके नाम पर इस ग्रन्थ का प्रथम नाम 'काश्यप संहिता' पड़ा। महर्षि ऋचीक के पुत्र जीवक ने सर्वप्रथम इस महातंत्र का उपदेश ग्रहण किया। उसको उन्होंने संक्षिप्त करके ऋषि परिषत् के सम्मुख उपस्थित किया। इसको बालभाषित मानकर जब ऋषियों ने नहीं स्वीकारा तो पाँच वर्ष की आयु वाले उन जीवक ऋषि ने कनखल के पास गङ्गानद में डुबकी लगाई और मुहूर्त्तमात्र में वली पलितयुक्त होकर बाहर निकले। इससे मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उनका नाम 'वृद्ध जीवक' रखा, उनके तन्त्र को भी स्वीकार किया। इस समय इसका नाम 'वृद्धजीवकीयतन्त्र' पड़ा है।

कलियुग आते-आते यह तन्त्र नष्ट हो गया। इस समय 'अनायास' नामक यक्ष को ही इसका ज्ञान अवशिष्ट रह गया था जिससे वृद्धजीवक के वंश में उत्पन्न 'वात्स्य' ने प्राप्त किया। वात्स्य, ऋग्, यजु और साम इन तीनों वेदों और वेदाङ्गों के ज्ञाता थे। इन्होंने धर्मकीर्ति और सुख की इच्छा तथा प्रजा की अभिवृद्धि के दृष्टिकोण से इसका प्रतिसंस्कार किया। इसी अध्याय में इस तन्त्र की सूची भी दी गई है जिससे पता चलता है कि इसमें सूत्र-निदान-विमान-शारीर-इन्द्रिय-चिकित्सा-सिद्धि और कल्प ये आठ स्थान (चरक के ही समान) हैं। इनमें कुल १२० अध्याय हैं जिसमें से सूत्रस्थान और चिकित्सा-स्थान ३०-३० अध्याय के निदान-विमान और शारीर स्थान ८-८ अध्यायवाले एवं सिद्धि-कल्प तथा इन्द्रियस्थान १२-१२ अध्यायों वाले हैं। अन्त में खिलस्थान ८० अध्याओं का है जो चरक से इसकी विभिन्नता प्रतिपादित करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि काश्यप-संहिता और अग्निवेशतन्त्र (सुश्रुत का भी मूलग्रन्थ) एक ही समय में बने।

इसके लिए एक दूसरा प्रमाण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। चरक संहिता में महर्षि आत्रेय ने गर्भ के सर्वाङ्गनिवृत्ति की पुष्टि में महर्षि काश्यप के मत को उद्धृत किया है। यही मत काश्यपसंहिता, में भी आचार्य ने प्रदर्शित

किया है। अतएव ये दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। ये मरीचि ऋषि के पुत्र थे अतएव इनको मारीच कश्यप भी कहा जाता है। ये राजर्षि वार्योविद के गुरु थे, उनको आयुर्वेद शास्त्र का उपदेश किया था। ये दोनों गुरु शिष्य प्राचीन काल की गोष्ठियों में एक साथ भाग लेते थे, इसका निर्देश चरक संहिता के वातकला-कालीय अध्याय में मिलता है। इसी प्रकार काश्यप संहिता में धन्वन्तरि के मत का संकेत मिलने और सुश्रुत आदि के मत का संकेत न मिलने से यही सिद्ध होता है कि धन्वन्तरि और कश्यप सम-सामयिक थे और सुश्रुतादि परवर्ती हुए।

यह कालचक्र की महिमा है कि किसी शास्त्र या पदार्थ की एक समय में उन्नति जब प्रारम्भ होती है तो साङ्गोपाङ्ग होती है और जब अवनति शुरू होती है तो सबकी साथ ही साथ हीन दशा चलने लगती है। उदाहरणार्थ आज के उन्नत युग में विज्ञान, कला-कौशल, चिकित्साशास्त्र सभी एक दूसरे से कन्धे से कन्धा भिड़ाकर आगे बढ़ रहे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि कब इंजिनियरिंग का विकास हो रहा है तो कब चिकित्साशास्त्र या वनस्पतिशास्त्र अथवा रसायनशास्त्रादि का। क्षणों के हेर-फेर से आविष्कारों का तारतम्य बनता जा रहा है। यदि, ईश्वर न करे कि ऐसा हो, कहीं विनाश की परम्परा शुरू हुई और पारमाणविक युद्ध छिड़ा तो कब किसका ह्रास होगा यह भी नहीं बताया जा सकेगा। अर्थात् उन्नति और अवनति सापेक्ष्य शब्द हैं जो एक ही समय में होते हैं। इसी को प्राचीन महीर्षियों ने 'समय एव करोति बला-बलम्', "कालः सर्वस्य कारणम्" आदि सूक्तियों से व्यक्त किया है।

उपर्युक्त दृष्टान्त को ध्यान में रखते हुए यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है कि आयुर्वेदीय मूल संहिताओं की रचना सतयुग के अन्त और त्रेता के प्रारम्भ में हुई। वर्तमान रूप में उपलब्ध ग्रन्थों का संस्करण महाभारत-काल में हुआ और आगे चलकर पुनः लुप्त होने पर प्रतिसंस्कार हुए। जिस प्रकार आचार्य दृढ़बल ने अग्निवेश कृत और चरकप्रतिसंस्कृत तन्त्र का पूरण किया है। उसी प्रकार इस लेखक को भी इच्छा है कि वह उपलब्ध काश्यप संहिता को प्राचीन और अर्वाचीन चिकित्साशास्त्रीय ग्रन्थों से विषयों का शिलोञ्छवृत्ति से सञ्चय करके सम्पूरण करे। विद्वानों का साहाय्य ही इस अभिलाषा को मूर्तरूप प्रदान कर सकता है।

विमानस्थान में आयुर्वेदोत्पत्ति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि आठों अङ्गों में कौमारभृत्य ही सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है क्योंकि इसके माध्यम से बालकों

१. असमानगोत्रीय शारीर
२. खिलस्थान १३ अ.

की चिकित्सा की जाती है, और जब वे बड़े हो जाते हैं तो शल्य-शालाक्य काय चिकित्सादि का अवसर आता है। वयस्क की अपेक्षा बालक की चिकित्सा के लिये स्वाद, मात्रा, उपक्रम आदि के रूप में औषध में अन्तर करना पड़ता है, इसी कारण यह तन्त्र अपने-आप अन्य तन्त्रों से भिन्न हो जाता है। यद्यपि आयुर्वेद की उत्पत्ति सर्वप्रथम अथर्ववेद में हुई किन्तु मनुष्य के स्वास्थ्य का विचार करने के कारण यह सर्वश्रेष्ठ हो गया और पाँचवें वेद का स्थान इसने प्राप्त किया। वेदों में चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) का विचार किया गया है किन्तु धर्मादि का साधन स्वस्थ शरीर है, और स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाये रखना आयुर्वेद-साध्य है। आयुर्वेद की परम्परा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इन्द्र से कश्यप-वशिष्ठ-अत्रि-भृगु आदि ऋषियों ने उपदेश ग्रहण किया और उसे अपने-अपने पुत्रों और शिष्यों को बताया। पूर्वक्त कल्पस्थान के वर्णन से इसमें थोड़ा भेद अवश्य आता है किन्तु इसका परिमार्जन भी किया जा सकता है। अर्थात् पहला वर्णन इस संहिता की आद्युत्पत्ति का है और यह वर्णन पुनरुत्पत्ति का हो सकता है।

अब जीवक के सम्बन्ध में भो किञ्चित् विचार कर लेना चाहिये। बौद्ध ग्रन्थों में 'कुमार भच्च जीवक' नाम के एक वैद्य का निर्देश है। उनकी उत्पत्ति के विषय में महावग्गादि विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न कथाएँ आती हैं और सबसे यही सिद्ध होता है कि ये शल्यविद् और कायचिकित्सक थे। कौमारभृत्य के ज्ञाता होने का कोई निर्देश किसी भी कथा में नहीं मिलता। अतएव जो लोग 'कुमार भच्च' शब्द का तत्समरूप कौमारभृत्य करके इस जीवक से काश्यप-संहिता के संक्षेपकर्त्ता जीवक का ग्रहण करते हैं वे अर्थ का अनर्थ ही करते हैं, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति न होगी। इसी प्रकार जो लोग इनके जैन होने का अनुमान करते हैं वे भूल जाते हैं कि इस संहिता में श्रौतस्मार्त मन्त्रों के ही उल्लेख हैं, जैन या बौद्ध धर्म की कहीं कोई छाया भी नहीं दीखती है। इसका विशेष विवरण चौखम्बा प्रकाशित काश्यपसंहिता के उपोद्घात में देखें।

इस ग्रन्थ पर कोई प्राचोन संस्कृत टीका नहीं उपलब्ध होती अन्यथा इसमें दुरुपपाद स्थलों की ग्रन्थियों का भेदन हुआ होता। टीकाकारों ने कहीं-कहीं कुछ वाक्य 'कश्यप' के नाम से अवश्य उद्धृत किये हैं किन्तु वे वाक्य इस त्रुटित संहिता में विलुप्त हो गये हैं। ज्वर समुच्चय नामक प्राचीन ग्रन्थ में काश्यप संहिता के वचनों का उद्धरण मिलने से ऐसा अनुमान होता है कि उस समय तक यह संहिता शायद परिपूर्ण रूप में उपलब्ध रही हो!

पर्यालोचन—नवस्थानों और २०० अध्यायों वाले इस ग्रन्थ के सूत्रस्थान के प्रारम्भिक १८ अध्याय एकदम विलुप्त हैं, केवल 'लेहाध्याय' का कुछ अंश मिलता

है। इसमें प्रकृति की उत्पत्ति माता के गर्भकालिक आहार से होती है ऐसा बताया गया है। प्रकृति को इस संहिता में स्थूण कहा गया है और उसके ७ भेद बताये गये हैं। बालकों के लिए औषध की मात्रा उत्पन्न होते ही विडङ्ग फलमात्र और उत्कृष्ट मात्रा आमलक प्रमाण बताई गई है। लेह्य शिशुओं के लक्षण, अलेह्य के लक्षण, लेह तैयार करने की विधि, और मेधावर्धक कुछ लेह योग बताने के बाद यह अध्ययन त्रुटित हो जाता है। इसके बाद कई अध्याय नहीं मिलते और अन्त में प्रारम्भ में खण्डित उन्नीसवाँ अध्याय शुरू होता है। इसका नाम 'क्षीरोत्पत्ति' अध्याय है। इसमें दुष्ट स्तन्य के शोधन की विधि, दुग्धवृद्धिकर योगों, वज्र (foreign body) के सेवन से उत्पन्न स्तन कीलक रोग और उसकी चिकित्सा का वर्णन है। बीसवाँ अध्याय 'दन्तजन्मिक' नामक है। इसमें दाँतों के स्वरूप, उत्पत्ति आदि का वर्णन है। इक्कीसवाँ 'चूड़ाकरणीय' अध्याय अधिकांश त्रुटित है, कर्णवेध से सम्बन्धित विषयों का इसमें वर्णन था। बाईसवाँ 'स्नेहाध्याय' है, जो सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है। इसमें स्नेह की योनि, उनके गुण, सेवन-काल; अनुपान, प्रविचारणायें, मात्रा, रोगानुसार निर्देश, स्निग्धातिस्निग्ध अस्निग्ध के लक्षणों आदि का विवेचन है। कोष्ठ परीक्षा, स्नेह के जीर्णाजीर्ण के लक्षण, अवपीडक के गुण आदि का भी वर्णन किया गया है।

तेईसवाँ 'स्वेदाध्याय' है। इसमें वातप्रकोप में स्निग्ध और कफ प्रकोप की अवस्था में रूक्ष स्वेद का विधान किया गया है। अस्वेद्य अवयवों और उनकी रक्षा का निर्देश करते हुए सम्यक् स्विन्न के लक्षण, मन्द स्विन्न के लक्षण, अति स्विन्न के लक्षण और उसकी चिकित्सा, स्वेदन के लिये अयोग्य रोगी तथा अस्वेद्य रोगावस्थायें, आठ प्रकार के स्वेद और उनका अवस्थानुसार निर्देश करने के साथ-ही-साथ यह अध्याय खण्डित हो जाता है। चौबीसवें अध्याय का आरम्भ भी खण्डित है। यह उपकल्पनीयाध्यय है जिसमें संशोधन का प्रकरण है। सम्यक् शुद्ध के लक्षण, संसर्जन क्रम, अपथ्य करने से उत्पन्न होनेवाले उपद्रव, अन्न के जीर्ण और न जीर्ण होने के लक्षण, अजीर्ण के चार भेदों, लक्षण और चिकित्सा का इसमें वर्णन है। पच्चीसवाँ 'वेदनाध्याय' है, इसमें बच्चों के विभिन्न इङ्गितों से शिरःशूल, कर्णशूल आदि ३० रोगों के अनुमान लगाने की विधि, लक्षण समुच्चय सहित बताई गई है।

छब्बीसवाँ अध्याय चिकित्सा सम्पादीय नामक है, इसमें भिषक्, भेषज, आतुर और परिचारक के लक्षण, और पादचतुष्क में भिषक् की प्रधानता का वर्णन है। सत्ताईसवाँ 'रोगाध्याय' है, इसमें रोगों के विविध विकल्पानुसार भेद, अधिष्ठान, दोषों का रोगहेतुत्व, चिकित्सा का प्रयोजन, निज और

आगन्तुक रूप रोग प्रकृति, दोषों के स्थान-कर्म, ओज का लक्षण; ८० वातज, ४० पित्तज और २० कफज रोगों का संग्रह और उनकी सामान्य चिकित्सा, महारोगों का विवेचन, उपद्रव, रक्तज रोग और उनकी चिकित्सा का विवेचन है। अट्ठाईसवाँ 'लक्षणाध्याय' है। इसमें बालकों के लक्षण-विज्ञान जिनको देखकर आयु, भाग्य आदि का निर्णय किया जा सके, सत्त्व के भेद और लक्षण, त्वक्सार और रक्तसार का वर्णन करते-करते यह अध्याय खण्डित हो जाता है।

सूत्रस्थान का 'आगे का अंश, निदान स्थान सम्पूर्ण रूप से और बिमान का अधिकांश भाग अनुपलब्ध है। विमान में केवल शिष्योपक्रमणीय विमान मिलता है। इसमें शिष्य बनाने की विधि शिष्य के गुण, गुरु के गुण, शिष्यानुशासन, अध्ययनविधि, समावर्तन संस्कार, संभाषा, आयुर्वेदोत्पत्ति आदि का वर्णन है। चौथा 'शारीरस्थान' भी आधे से अधिक खण्डित है। उपलब्ध अंश में काल का विभाग, सृष्टि की उत्पत्ति और पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन है। इसके पश्चात् का 'असमान गोत्रीय शारीर' भी आरम्भ में खण्डित है, उपलब्ध अं ं गर्भोत्पत्ति, उसका मासानुमासिक विकास आदि का वर्णन है। 'गर्भावक्रान्ति शारीराध्याय' में कर्मानुसार विविध योनि की प्राप्ति, विभिन्न महाभूतों के अंश से विभिन्न अवयवों की उत्पत्ति, वायु अ.र काल के द्वारा शरीर के अङ्ग.त्यङ्गों का विभाग और हृदयादि स्रोतों की उत्पत्ति के वर्णन के साथ ही यह अध्याय भी खण्डित हो जाता है। शरीर विचय शारीराध्याय में अस्थियों का विवरण, दशप्राणयतन, दो-दो की संख्यावाले अङ्गों का वर्णन, स्रोतों, सिराओं, धमनियों, लोमकूप और धातुओं के अञ्जलिप्रमाण का वर्णन है। अन्तिम 'जातिसूत्रीयशारीराध्याय' में स्वभाव से अङ्गोत्पत्ति, रजस्वला चर्या, मनोवाञ्छित सन्तानोत्पत्ति के लिये पुत्रेष्टि का विधान एवं धर्मोपदेश, गर्भिणी के आवास का वर्णन, उपस्थित प्रसवा के लक्षण और प्रसवकालिक उपचार, प्रसव में विलम्ब हो तो उपचार का निर्देश करते-करते यह स्थान ही समाप्त हो जाता है।

पाँचवें इन्द्रिय स्थान में भी केवल 'औषध-भेषजीय' इन्द्रिय ही उपलब्ध है। इसमें औषध और भेषज की परिभाषा, क्षीणायु का लक्षण और आसन्न मृत्यु के लक्षणों का निर्देश है। ग्रहाक्रान्त शिशु के लक्षण, ज्वर के मारक लक्षण, स्वप्नों के भेद और उनके शुभाशुभ फल का भी इसमें विचार किया गया है। छठे चिकित्सास्थान में 'ज्वर चिकित्साध्याय' प्रारम्भ होते ही ७ श्लोकों के बाद खंडित हो जाता है। 'गर्भिणी चिकित्साध्याय' खंडित रूप में प्रारम्भ होता है, उपलब्ध अंश में परिकर्तिका प्रवाहिका, शोथ, कामला,

हृच्छूल, त्वग्वात, हिक्का-श्वासहर योगों और गर्भिणी के विहार का वर्णन मिलता है। 'दुष्प्रजाता चिकित्साध्याय' में कष्ट प्रसूति की चिकित्सा, कष्ट प्रसूति के निदान, उपद्रव और उनकी चिकित्सा का वर्णन है। 'बालग्रह चिकित्साध्याय' में रेवती की उत्पत्ति, स्वरूप, चिकित्सा और पूतना-अन्धपूतना आदि की उत्पत्ति-चिकित्सादि का वर्णन है। ये सभी अध्याय न्यूनाधिक खण्डित हैं। 'प्लीह हलीमक चिकित्साध्याय' का अन्तिम अंश ही मिलता है जिसमें हलीमक के कुछ लक्षण और चिकित्सा उपलब्ध होती है, प्लीहाधिकार त्रुटित है। 'उदावर्त चिकित्साध्याय' का प्रारम्भिक अंश उपलब्ध है, इसमें उदावर्त के निदान, पूर्वरूप और चिकित्सा का कुछ अंश मात्र मिलता है।

इसके बाद कुछ अध्याय ही खण्डित हैं और 'राजयक्ष्मा चिकित्साध्याय' का आखिरी अंश मिलता है जिसमें शोष में पिप्पलीश्रृत छागीक्षीर, १२ वर्ष के पुराने रोग में पिप्पली के विविध प्रयोग, नागवला, मण्डूकपर्णी, अभयारिष्ट एवं लशुन के विविध कल्पों का वर्णन है। 'गुल्मचिकित्सिताध्याय' में पाँचों गुल्मों के निदान-चिकित्सा का तो वर्णन है किन्तु वातगुल्म के पथ्य का वर्णन करते-करते अध्याय त्रुटित हो जाता है। 'कुष्ठ चिकित्सिताध्याय' का आदि-अन्त दोनों ही त्रुटित है। उपलब्ध अंश में पूर्वरूप और रूप का कुछ वर्णन मिलता है। 'मूत्रकृच्छ- चिकित्सिताध्याय' का भी आरम्भ खण्डित है। इसमें मूत्रकृच्छ्र की उत्पत्ति, वातजादि के लक्षण, प्रमेह तथा मूत्रकृच्छ्र का सापेक्ष निदान, चिकित्सा, अश्मरी और शर्करा की उत्पत्ति का वर्णन है। 'द्विव्रणीय चिकित्सिताध्याय' में व्रण के दो भेद, उनके लक्षण, उपक्रम, बन्धन-शोधन-रोपण आदि के योगों का विवेचन है। साथ ही साथ विविध पिडकाओं के भी लक्षण-चिकित्सा का उल्लेख है। 'प्रतिश्याय-उरोघात और शोथ चिकित्सिताध्याय' बीच-बीच में खण्डित हैं। 'क्रिमिचिकित्साध्याय' का उपसंहार ही मिलता है। 'मदात्यय चिकित्सिताध्याय' न्यूनाधिक रूप में परिपूर्ण है। 'फक्क और धात्री चिकित्सिताध्याय' बीच में त्रुटित है।

इसके बाद सातवाँ सिद्धिस्थान प्रारम्भ होता है। इसके आठों अध्याय उपक्रमोपसंहार भाग में पूर्ण किन्तु अन्तरा-अन्तरा त्रुटित रूप में मिलते हैं। प्रथम 'राजपुत्रीयण सिद्धि' में शिशुओं को बस्ति कर्म कैसे दें इस विषय में आत्रेय पुनर्वसु, भेल, पाराशर्य, गार्ग्य, माठर आदि आचार्यों के मतमतान्तर त्रुटित-त्रुटित रूप में मिलते हैं। इसमें आस्थापन और अनुवासन का वर्णन है। दूसरा 'त्रिलक्षणा' सिद्धि नामक अध्याय है, इसमें वमन-विरेचन-वस्त्यादि के अयोगातियोग, सम्यक् योग के लक्षण बताये गये हैं। तीसरा 'वमन विरेचनीया सिद्धि' नामक अध्याय है, जिसमें वमन कराने की विधि का उल्लेख है। इसमें

विभिन्न आचार्यों यथा कौत्स, पाराशर्य, वृद्ध काश्यप, वैदेह जनक, वार्योविद, वात्स्य, कश्यप आदि के नामों का भी उल्लेख है किन्तु अध्याय के स्थान-स्थान पर त्रुटित होने से प्रसंग-संगति नहीं लगने पाती।

चौथा अध्याय 'नस्त:कर्मीया सिद्धि' नामक है। इसमें तैलपाक के विविध योग बताये गये हैं। पाँचवाँ अध्याय 'क्रिया सिद्धि' नामक है। इसमें वर्ज्य आहार-विहार और उनके सेवन से उत्पन्न होने वाले रोगों, वस्तिनेत्र के दोषों आदि का वर्णन है। छठे 'वस्तिकर्मीयासिद्धि' नामक अध्याय में वस्ति के अयोगातियोग से उत्पन्न होनेवाले रोगों और चिकित्सा का वर्णन है। सातवें 'पञ्चकर्मीयासिद्धि' नामक अध्याय में वमन-विरेचन-नस्य-बस्ति आदि के योग्य-अयोग्य रोगियों का विवरण दिया गया है। आठवें 'मङ्गला' नामक अध्याय में मङ्गलाचरण की प्रशस्ति और कुछ स्नेह योगों का वर्णन है। शेष अध्याय अनुपलब्ध हैं।

इस संहिता में कल्पस्थान आठवें स्थान पर वर्णित है (चरक में यह सातवाँ है)। प्रथम धूप कल्पाध्याय है जिसमें ४० धूपों का विविध प्रकार के रोगों के निरासार्थ वर्णन किया गया है। इसके उपचारण से शिशुओं की मृत्यु नहीं होती, ऐसा बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रक्रिया से विविध रोगोत्पादक जन्तुओं का नाश किया जाता है। दूसरा 'लशुन कल्पाध्याय' है, इसमें रसोन की उत्पत्ति, उसके भेद, प्रयोग, पथ्यापथ्य उपद्रव तथा विविध रोगहरत्व एवं वय:स्थापन, प्रजास्थापन, वातशमन आदि गुणों का वर्णन है। हरे लशुन की मात्रा ४, ६ एवं ८ पल और शुष्क की ५०, ६० और १०० दाने बताई गई है। तीसरा कटु तैल कल्पाध्याय है। इसको प्लीहनाशक बताया गया है। स्नेहन कराने के पश्चात् ४, ६ या १२ पल की मात्रा के सेवन कराने का विधान है। अग्निबलानुसार मात्रा को कम भी किया जा सकता है। इस अध्याय में अन्य प्लीहहरयोगों तथा पथ्य का विवेचन किया गया है। चौथा 'षट्कल्पाध्याय' है, इसमें बालकों के विविध नेत्र रोगों और उनकी चिकित्सा का वर्णन है। पाँचवाँ 'शतपुष्पा-शतावरी कल्पाध्याय' है, इनके गुण और विविध योगों का स्त्रियों के रोगों में प्रयोग बताया गया है। छठा 'रेवती कल्पाध्याय' है इसमें प्राणियों की उत्पत्ति, बनस्पतियों की उत्पत्ति, क्षुधा की उत्पत्ति और रोगों की उत्पत्ति का वर्णन है। रोग में प्रमुख रूप से जात हारिणी और रेवती का वर्णन है। जातहारिणी उसे कहा गया है जिस रोग के कारण स्त्रियाँ यौवन प्राप्ति से पूर्व रुग्ण हो जाती हैं। उनको गर्भाधान नहीं होता अथवा बच्चा उत्पन्न होकर मर जाता है या विविध प्रकार की प्रसवकालिक व्यापत्तियाँ होती हैं। मनुष्यों के साथ ही साथ पशु-पक्षियों में भी

स्त्रीलिङ्गियों में यह रोग उत्पन्न होता है। प्रसवकालिक उपद्रवों की उत्पत्ति में रेवती का हाल बताया गया है। अन्त में गर्भ के स्थिरीकरण के प्रयोग भी बताये गये हैं।

सातवाँ 'भोजन कल्पाध्याय' है। इसमें वृद्ध जीवक ने महर्षि कश्यप से भोजन के विविध प्रकरणों से सम्बद्ध उन्नीस प्रश्न किये और उसके उत्तरस्वरूप इस अध्याय का प्रणयन हुआ। इसमें क्षुधित-पिपासित के लक्षण, क्षुधा की अवस्था में जल पीने से प्यास की अवस्था में भोजन करने से हानि, किनको शीत अन्न-पान हितकर है और किनको उष्ण, देश-विदेशानुसार अन्नपान का वर्णन, मण्ड, यवागू, यूष, रस के सेवन का निर्देश, दुग्ध के गुण और उसका प्रयोग, एवं इक्षु के गुण-धर्म प्रयोगादि का विवेचन किया गया है। आठवाँ 'विशेष कल्पाध्याय' है। इसमें सन्निपात ज्वर के निदान १३ भेद, लक्षण और चिकित्सा का वर्णन किया गया है। नवाँ 'संहिता कल्पाध्याय' है, जिसमें इस ग्रन्थ की विषय-सूची उपलब्ध होती है। कल्पस्थान का भी इतना ही भाग उपलब्ध है।

अन्तिम 'खिलस्थान' नवाँ स्थान है। इसमें भी केवल पच्चीस अध्याय ही उपलब्ध होते हैं, शेष कालकवलित हो गये हैं। पहला अध्याय 'विषम ज्वर निर्देशीय' है। इसमें सम ज्वर और विषम ज्वर की परिभाषा, विषम ज्वर के हेतु, सम्प्राप्ति, लक्षण, विभिन्न दिनों पर वेग आने का कारण, प्रसंगात् अन्य ज्वरों की उत्पत्ति और चिकित्सा का वर्णन है। दूसरा अध्याय 'विशेष निर्देशीय है, इसमें आवस्थिकी चिकित्सा वमन, शिरोविरेचन, विरेचन, लंघन-स्वेदन आदि का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त आम-निराम अवस्थाओं के लक्षण, बहिर्गत ज्वर लक्षण, शमन-शोधन द्रव्य तथा निर्दिष्ट योगों में अपनी बुद्धि के अनुसार कमी-बेशी न करने का भी निर्देश दिया गया है। तीसरा अध्याय 'भैषज्योपक्रमणाय' नामक है। इसमें व्याधि के भेद, चिकित्सा के भेद, औषधि-भेषज कषाय आदि शब्दों की निरुक्ति गुणवद् द्रव्य के लक्षण, उत्तम औषधि के लक्षण और चूर्णादि ७ कल्पना भेद, उनकी निर्माण-विधि, दस औषध काल और किस रोगावस्था में किस समय औषध दी जाये इसका निर्देश, वयो-विभाग और तदनुसार औषध मात्रा का निर्धारण, योगज्ञ वैद्य के महत्त्व आदि का वर्णन किया गया है। 'यूष निर्देशीय' नामक चौथे अध्याय में आहार की प्रधानता और विविध रूप में इसका विभाग, यूष के गुण, भेद और बनाने की विधि, २५ प्रकार, दोष-भेद से इन्हीं के ७५ प्रकार हो जाना, दीपन-पाचन, कृत-अकृत आदि उपभेदों का निरूपण, मण्ड-पेया-विलेपी यवागू के साधन का विवेचन है। पाँचवें 'भोज्योपक्रमणीयाध्याय' में अभ्यवहार के समय प्रतिपालनीय

संग्रह युग



१. वाग्भटाचार्य   २. इन्दु   ३. जेज्जट

[आ० पृ० १०४-१०५

२४ नियम और उनके लाभ तथा विभिन्न प्रकार से सात्म्य हो जाने वाले द्रव्यों के प्रभाव का विवेचन किया गया है।

छठा अध्याय 'रसदोष विभागीय' है। इसमें ज्वरादि व्याधि के दोषों के विकल्प से ६२ भेद होने बताये गये हैं। रसों के विकल्प से ६३ भेद बताये गये हैं। इस प्रकार सोच-विचार कर रसों से दोषों की चिकित्सा करने का विधान बनाया गया है। दोषों के ६२ भेदों को दस स्थानों के अनुसार पुनः विभक्त करके ३१८ भेद किये गये हैं। इनके पुनः तर-तम, हीन मध्याधिक विकल्प से १३९८ भेद होते हैं। सबको मिलाकर देखा जाय तो एक-एक व्याधि के ४१६० भेद होते हैं। इसमें योग, विभाग, गति एवं कर्म के अनुसार सन्निपातों के ९ हजार भेद होते हैं। इसी प्रकार से रसों का भेद ३०७३ होता हैं।

सातवाँ अध्याय 'संशुद्धि विशेषणीय' नामक है। इसमें ऋतुओं का विभाग तदनुसार दोष-प्रकोप और प्रकुपित दोषानुसार संशोधन का विधान बताया गया है। यह क्रम स्वास्थ्यरक्षा के लिए उपयोगी होता है। शोधन से पहले स्नेहन-स्वेदन और पश्चात् संसर्जन विधि बताई गई है। वमन और विरेचन के वेग और निकले हुए द्रव्य के प्रमाणानुसार ही शुद्धि की योग्यता का निर्णय किया गया है। आठवाँ अध्याय 'बस्ति विशेषणीय' है। इसमें बस्ति का वातहरत्व कर्म-काल और योग संज्ञाओं का विवेचन, उनमें स्नेहबस्ति और निरुह बस्ति की संख्या, बस्तियों में दोषानुसार तैल की मात्रा, चतुर्भद्र-कल्प कर्मकाल और योगसंज्ञक संख्याओं का रोगानुसार निर्देश, निरूह बस्ति की योजना, व्याधिबल-आतुरबल आदि विचारणीय बातों का संग्रह, निरूह उपकल्पन के गुण-दोष का विवेचन, अनुवासन के गुण-स्नेह बस्ति के योगों का उल्लेख स्नेह बस्ति के प्रकार मात्रा आदि का इसमें वर्णन है।

नवें अध्याय में रक्त गुल्म के निदान-सम्प्राप्ति-लक्षण और चिकित्सा आदि का वर्णन किया गया है। इसके सम्बन्ध में शिष्य ने कुछ प्रश्न किये और गुरु ने उनका उत्तर दिया। उदाहरणार्थ कोष्ठ में मलमूत्र कृमि-पक्वामाशय-कफ-वात और गर्भ के आशयों का वर्णन है। रजःप्रवृत्ति, रक्त से गर्भादि का पोषण सन्तानोत्पत्ति के बाद क्षीरोत्पत्ति और इन्हीं के विकार से गुल्मोत्पत्ति का भी उल्लेख है। रक्तगुल्म की अवस्था में दोहद, स्तन्य, पाण्डुत्व और उदरवृद्धि के कारणों का सम्यक् विचार किया गया है। 'दसवाँ अन्तर्वर्त्नी चिकित्साध्याय' है। इसमें गर्भिणो के ज्वर, शिरोरोग, अतिसार, परिकर्तिका, पार्श्वग्रह, मुखपाक, आक्षेपक, अपतानक, छर्दि, कामला, हृच्छूल, कास, श्वास, ऊर्ध्ववात, हिक्का, मूत्रग्रह, गुल्म, वातव्याधि, ग्रंथि-पिडका-शोथ, क्षाराग्नि-

शस्त्रकर्म, विषचिकित्सा, पाण्डु, अत्यग्नि, मूर्च्छा आदि रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। ज्वर चिकित्सा का बहुत विस्तार से वर्णन है। कुछ ऐसे लक्षणों और स्वप्न आदि का वर्णन है जिनकी उत्पत्ति होने पर गर्भपात की सम्भावना रहती है।

ग्यारहवाँ अध्याय 'सूतिकोपक्रमणीय' नामक है। इसमें प्रसवकालीन व्यापत्तियों और दुष्प्रजाता के ६४ रोगों का उल्लेख है। सूतिकोपचार के साथ-साथ स्तन्योत्थादि षड्विध ज्वर के निदान-लक्षण-चिकित्सा आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन है। बारहवाँ 'जातकर्मोत्तराध्याय' है। इसमें प्रथम माह में सूर्य और चन्द्रदर्शन, चौथे मास में घर से बाहर ले जाने (गृहान्निष्क्रमण) और छठे मास में अन्नप्राशन तथा उपवेशन की विधियों का वर्णन किया गया है। तेरहवाँ 'कुक्कुण चिकित्साध्याय' है. कुक्कुण एक प्रकार का नेत्र रोग (Trachoma) है, इसके उत्पत्ति का कारण माता का अपथ्यकृत दुष्टस्तन्य पान बताया गया है, इसके लक्षण और चिकित्सा का इसमें विशदीकरण किया गया है। चौदहवाँ अध्याय 'विसर्प चिकित्सा' है। इसमें बच्चों में विसर्प उत्पन्न होने के हेतु लक्षण और चिकित्सा का वर्णन है। विसर्प के ही समान मसूरिका, विस्फोट, कक्षा, पामा आदि की चिकित्सा करने का भी निर्देश दिया गया है। पन्द्रहवाँ 'चर्मदल चिकित्सिताध्याय' है, इसमें चर्मदल (चमड़े के फटने) की क्षीरप और क्षीरान्नाद में ही धायी के अपथ्य सेवन से उत्पत्ति होने का कारण और चिकित्सा में धायी की ही शोधन चिकित्सा तथा बालक के लिए बाह्योपचार का विधान बताया गया है। बच्चों की चिकित्सा का प्रकरण यहीं समाप्त हो जाता है। इसके बाद ऐसे रोगों का प्रकरण प्रारम्भ होता है जो बच्चों में नहीं अपितु माता में उत्पन्न होते हैं। ये अध्याय बहुत त्रुटित हैं।

सोलहवाँ अध्याय ' अम्लपित्त चिकित्सित' है जिसमें अम्लपित्त के निदान लक्षण, सम्प्राप्ति, चिकित्सा आदि का वर्णन है। सतरहवाँ अध्याय शोथ चिकित्सित है। अठारहवाँ अध्याय शूल चिकित्सित है। उन्नीसवाँ अध्याय 'अष्टविधज्वर चिकित्सोत्तर' नामक है। इस अध्याय का अन्तिमभाग, बीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण तथा इक्कीसवें का आदि भाग खण्डित है। इसका नाम 'मधु-विशेषणीयाध्याय है। बाईसवाँ अध्याय 'क्षीर गुण विशेषीय' है। इसमें आठ प्रकार के द्रव्यों के गुणधर्म का विवेचन है। इसका अन्त और तेईसवें 'पानीय गुण विशेषीय' का आरम्भ भाग त्रुटित है। चौबीसवाँ अध्याय 'मांस गुण विशेषीय' है, इसमें विविध प्रकार के मांस, उनके गुण और साधन-विधि बताई गई है। पच्चीसवाँ 'देश सात्म्याध्याय' है। इसमें देश विभाग और उसके निवासियों की सात्म्यता का वर्णन है। १४ श्लोक के बाद यह भी त्रुटित है।

इस प्रकार भेल के ही समान यह संहिता भी अपूर्ण है किन्तु उपलब्ध अंश इसके गौरव को चिरस्थायी बनाने के लिए पर्याप्त है।

कौमार भृत्य के अन्य ग्रन्थ—

१. जीवक, बन्धक सौर पार्वतक के तन्त्र—इनका उल्लेख डल्हण ने अपनी 'निबन्ध संग्रह' व्याख्या में किया है।

२. कुमारतन्त्र—इस नाम से श्री चक्रपाणिदत्त ने सुश्रुत की भानुमती टीका (सू० १६ अ०) में एक ग्रन्थ का निर्देश किया है।

३. 'पार्वती परमेश्वर' संवादरूप एक अन्य काश्यप संहिता में बाल रोग का वर्णन है।

४. रावणकृत बालतन्त्र।

काश्यप संहिता—यह ग्रन्थ अगदतन्त्र का प्रतिपादक है, अतएव वृद्ध जीवकीय तन्त्र से भिन्न है। इसमें स्थावर जंगम विषचिकित्सा विशेषतः सर्प विष चिकित्सा का वर्णन है। ग्रन्थ का प्रकाशन मेलकोटे के श्री यतिराज सम्पत् कुमार मुनि के प्रयत्नों से सन् १९३३ में हुआ है। इसमें कुल ग्यारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में मन्त्र के प्रभाव तथा पाठ आदि का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में यन्त्र निर्माण, ध्यान तथा आराधना एवं धारण करने की विधियों का उल्लेख है। तृतीय अध्याय में मन्त्रों का विनियोग बताया गया है।

चौथे अध्याय में विष के भेद, सर्पों के लक्षण, उनके दंश का कारण दंश चिह्न तथा विषवेग आदि का वर्णन है। इसमें दूत, शकुन आदि का भी विवेचन किया गया है। पाँचवें अध्याय में विष सहार (निर्विष करने) के मन्त्र, यंत्र प्रयोग विधि आदि का वर्णन है। छठवें अध्याय में सर्पों के स्त्री पुं भेद, उनकी क्रीड़ा विधि, औषध का आहरण, यन्त्रों के निर्माण आदिका वर्णन है। सातवें अध्याय में मन्त्रों का सिद्ध करना और आठवें अध्याय में दर्वीकर की चिकित्सा के लिए प्रयुक्त नस्य, अञ्जन, लेप, पान, भक्ष्य गुटिका आदि के निर्माणार्थ औषधियों का उल्लेख किया गया है।

नवें अध्याय में मण्डलि सर्प की चिकित्सा विधि, दसवें में राजलि विष चिकित्सा, ग्यारहवें में आरबु-विष चिकित्सा, बारहवें ये लूतादि तथा अन्य जंगली पशु पक्षी कीट पतंग आदि से दष्ट होने की चिकित्सा, और तेरहवे अध्याय में यन्त्रों के अभिषेक और उनके धारण विधि का वर्णन है।

इस ग्रन्थ के अन्त में एक नारायणीय तृतीय पटल भी संलग्न है। इसमें मन्त्रों द्वारा सर्पो के मुखबन्धन, गति स्तम्भ, दृष्टिबन्ध, आदि की क्रियायें बताई गई हैं। इसी प्रकार विष के भी स्तम्भनार्थ उपाय बताये गये हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अगदतन्त्र जो अष्टाङ्ग आयुर्वेद का एक

अङ्ग था, लुप्त हो गया है। उसका प्रचार अब केवल देश के कुछ ऐसे कोने में रह गया है जहाँ पर विष चिकित्सा के अन्य भौतिक साधन अनुपलब्ध हैं, अथवा तो जीविका सम्पादनार्थं कुछ गारुडियों ने इसे अपना लिया है। तथापि उस लुप्त प्राय सम्प्रदाय की वैज्ञानिकता को सिद्ध करने के लिए यह संहिता पर्याप्त है। केवल इस एक पुस्तक के सहारे अन्वेषण किया जाय तो भी एक महान् क्षेत्र में प्रवेश करके अनेक उपलब्धियाँ हासिल की जा सकती हैं।

संग्रहकाल

इस युग का प्रादुर्भाव वाग्भट के ग्रन्थों से होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये अपने समय के अप्रतिम विद्वान वैद्य थे, किन्तु जनसाधारण में उस समय तक चरक सुश्रुत को समझने की प्रतिभा लुप्त होती जा रही थी। अतएव इन्होंने दोनों ग्रन्थों के सार भाग को लेकर अष्टाङ्गसङ्ग्रह की रचना की। फिर इसको भी सुखग्राह्य, ललित और सुबोध बनाने के दृष्टिकोण से अष्टाङ्गहृदय का निर्माण[1] किया। इसका परिचय दोनों ग्रन्थों के पर्यालोचन से पाठक को स्वयं हो जायेगा।

आचार्य वाग्भट का जन्म यद्यपि सिन्धु देश में हुआ था किन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि इनके पूर्वज दक्षिण भारत से आजीविकार्थ वहाँ गये हों और इनका जन्म वहाँ हुआ हो। इसके लिये नामकरण[2] प्रमाणरूप है। इनके पिता का नाम सिंह गुप्त और पितामह का नाम वाग्भट था। पितामह का नाम पौत्र का हो, ऐसी परम्परा महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों या मद्रास के ब्राह्मणों में तो मिलती है किन्तु सिन्धुदेश में ऐसी परम्परा हो, इसका परिज्ञान कम-से-कम मुझे नहीं है। ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने के कारण ये वैदिक धर्मानुयायी थे यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है और जो लोग इन्हें बौद्ध कहते हैं उनका खण्डन भी हो जाता है।

ये आचार्य ईसवी सन् की चतुर्थ शताब्दी में हुए। इसका प्रमाण इनके पलाण्डु-गुणोल्लेख से मिलता है। पलाण्डु भक्षण से शकाङ्गनाओं की कान्ति की वृद्धि का उल्लेख इस बात को ध्वनित करता है कि इनके समय में शक राजा कच्छ सौराष्ट्रादि से प्रभावहीन हो चले थे। यह समय चतुर्थ-शताब्दी का था अतएव तत्कालभवत्व आचार्य वाग्भट का सिद्ध होता है।

---

१. अष्टाङ्ग वैद्यक महोदधिमन्थनेन योऽष्टाङ्गसङ्ग्रहमहामृतराशिराप्तः। तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ॥अ० हृ० उ० ४०।८०

२. भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य। सुतोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुपुलब्धजन्मा ॥ अ० सं० उ० ५० अ।१३२

सन् ३९५ ई० में चन्द्रगुप्त द्वितीय (साहसाङ्क) ने शकों को पराजित कर भारत से निकाला था।

दूसरा प्रमाण यह है कि इन्दु और जेज्जट इनके शिष्य थे। इन्दु और जेज्जट दोनो ने ही भट्टार हरिचन्द्र को वाग्भट का पूर्ववर्ती बताया है। भट्टार हरिचन्द्र साहसाङ्क नृपति (शकारि) के दरबार में थे जो काल ३७५ से ४१३ ई० पूर्व है। इससे भी प्रकट होता है कि वाग्भट का समय चतुर्थ शताब्दी का अन्तिम भाग और पञ्चम शताब्दी के आरम्भ के बीच का समय ही हो सकता है। जिस समय इत्सिङ्ग (एक चीनी परिव्राजक) भारतवर्ष में आये उस समय सर्वत्र इनके ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था। यह प्रचार होने के लिये, उस काल में जब कि गमनागमन के साधनों की बड़ी कृच्छता थी, कुछ समय अवश्य चाहिये। इससे भी उपर्युक्त काल ही वाग्भट का प्रमाणित होता है।

वाग्भट के ही वचनों[1] से ऐसा प्रमाणित होता है कि उनके जीवन काल में इसग्रन्थ को जितना आदर प्राप्त होना चाहिये था उतना न हो सका। इसीलिये इन्होंने खिन्न होकर आर्ष ग्रन्थों की टीका-टिप्पणी की थी। हाँ आगे चलकर माधवकर (सप्तमी शताब्दी) आदिने इस ग्रन्थ से अपने संग्रह ग्रन्थों में पर्याप्त उद्धरण उपस्थित किये। अतएव यह प्रतिज्ञा पुष्ट होती है कि जिस संग्रह काल का वाग्भट ने प्रारम्भ किया उसका अनुकरण अन्य ग्रन्थकारों ने किया और यह परम्परा किसी-न-किसी रूप में सन् १९५४ तक चलती रही।

वाग्भट की गुरु-शिष्य परम्परा—इन्होंने अपने पिता-पितामह से ही आयुर्वेद आदिशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया ऐसा अष्टाङ्ग संग्रह के उल्लेख से ही स्पष्ट होता है। जब इनको प्रत्यक्ष कर्माभ्यास और शास्त्रपरम्परा का ज्ञान हो गया तो मन में सम्भवतः ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई होगी कि क्यों न एक नवीन पद्धति के अनुसार विषय बद्ध क्रम से ग्रन्थ की रचना की जाये। इसी कमी को पूरा करने के लिए इन्होंने अष्टाङ्ग संग्रह की रचना की और स्वयं अपने मुख से उसको इन्दु-जेज्जट प्रभृति शिष्यों को पढ़ाया। चरक सुश्रुत आदि ग्रन्थों में जो विषय अनेक स्थानों पर विकीर्ण हैं उनका सङ्ग्रह एक स्थल पर अष्टाङ्ग संग्रह में किया गया है। यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। बाद में इसको

१. अ० सं० उ० ५० अ० और और अ० हृ० उ० ४० अ० के समाप्ति सूचक कई श्लोक, विशेषतः

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥

संक्षिप्त करके 'हृदयमिव हृदयमेतत्' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए अष्टाङ्ग
हृदय की रचना की।

कुछ विद्वान "समधिगम्य गुरोः अवलोकितात्"[1] शब्द से बोधिसत्त्व
अवलोकितेश्वर को इनका गुरु बताते हैं किन्तु यह युक्ति ठीक नहीं प्रतीत
होती। यहाँ पर परे श्लोक से यही सिद्ध होता है कि पिता ही इनके गुरु थे
जो "पितुः गुरोः प्रतिभां समधिगम्य" अर्थात् गुरुरूप पिता को ही मुझे प्रतिभा
मिली, शब्द द्योतित करता है। और "पितुः गुरुतरात् पितामहात् च अवलोकि-
तात् दर्शितात् प्रतिभां प्रत्यक्षकर्माभ्यासमपि समधिगम्य, चकारात् आयाति"
अर्थात् पितामह जो उस काल में जीवित थे और पिता से गुरुतर (वृद्ध) थे
उनकी प्रत्यक्षकर्माभ्यासात्मिका प्रतिभा को प्राप्त कर एवं अनेक भैषज्यशास्त्रों
चरक सुश्रुत भेलादि का पर्यालोचन करके तब मैंने इस अष्टाङ्ग-सङ्ग्रह का
निर्माण किया ऐसाही अर्थ करना उचित भी है।

इन्दु के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये या तो ब्रह्मचारी थे अथवा
निःसन्तान होने के कारण वानप्रस्थी हो गये थे। इसी लिये तो लम्बी मूछ दाढ़ी,
श्यामवर्णशरीर, गुल्फ तक लम्बा स्वच्छ कञ्चुक जिसके भीतर से कण्ठस्थ
यज्ञोपवीत थोड़ा-थोड़ा झलक रहा है, और आरक्तोपान्त वाली नेत्रशोभा का
ध्यान करने के लिये वर्णन किया गया है। क्या यह वेश[2] किसी बौद्ध भिक्षुका
या उसके शिष्यका हो सकता है : वाग्भट ने स्वयं अपने पुत्र का कहीं उल्लेख
नहीं किया है और न इनके शिष्यों ने ही कहीं पर लिखा है कि इनके कोई पुत्र
था। इसलिये तीसट के पिता वाग्भट कोई अन्यव्यक्ति होंगे ऐसा अनुमान करना
ही उचित प्रतीत होता है। भिषगाचार्य हरिशास्त्री पराडकर ने वाग्भट
नामधारी आठ आचार्यों का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों के कर्ता के रूप में किया
है। इसी में रसरत्नसमुच्चयकार भी हैं, जिनके विषय में यथावसर (रसतन्त्र
का अभ्युदय नामक प्रकरण में) विचार किया जायेगा।

इन वाग्भटाचार्य के शिष्यमण्डल में इन्दु और जेज्झट ये दो अधिक प्रसिद्ध
हुए। दोनों ही गुरुतुल्य अप्रतिम विद्वान थे। अष्टाङ्ग संग्रह पर इन्दु की
'शशिलेखा' नामक संस्कृत टीका आज भी उपलब्ध है जो त्रिचूर और पूना से

---

१. समधिगम्य गुरोरवलोकिताद् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया।
सुबहुभेषजशास्त्रविलोचनात् सुविहितोऽङ्गविभाग विनिर्णयः॥ अ०सं०उ० ५०अ०

२. लम्बश्मश्रुकलापमम्बुजनिभच्छायाद्युतिं वैद्यकानन्तेवासिन इन्दु जेज्जटमुखान-
ध्यापयन्तं सदा। आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चितदरालक्ष्योपवीतोज्वलत्
कण्ठस्थागरुसारमञ्चितदृशा ध्याये दृढं वाग्भटम्॥

अलग-अलग रूप में प्रकाशित हुई है। श्री हरिशास्त्री पराड़कर के मतानुसार इन्दु ने 'शशिलेखा' नामक एक टीका 'अष्टाङ्ग हृदय' पर भी बनाई थी, किन्तु वह अप्रकाशित है। जेज्जट की वनाई हुई चरक टीका तो टूटेफूटे रूप में चिकित्सास्थान पर प्रकाशित हो चुकी है किन्तु शास्त्री जी के मतानुसार इन्हों ने (श्री जेज्जट ने) चरक, सुश्रुत, अष्टाट-संग्रह और अष्टाङ्ग हृदय, चारो ही ग्रन्थों की व्याख्या की है।

अष्टाङ्ग हृदय के ऊपर की गई ३४ टीकाओं का और उनमें से २३ टीकाकारों के नामों का संग्रह श्री शास्त्री जी ने निर्णय सागर से सन् १९३९ में प्रकाशित अष्टाङ्ग हृदय में वाग्भट विभव के रूप में किया है। उनका यह श्रम साध्य प्रयास प्रशंसनीय है। इससे यही प्रतीत होता है कि उत्तर भारत की अपेक्षा विन्ध्य के दक्षिण में इस ग्रन्थ का प्रचार और प्रसार, अध्ययन-अध्यापन के रूप में अधिक था। इसीलिये दक्षिण की सभी भाषाओं में इसपर कोई-न-कोई टीका अवश्य उपलब्ध होती है। आज भी दक्षिण भारतीय वैद्य ससुदाय में इस ग्रन्थ का पठन-पाठन प्रचलित है और सभी जगह इसको प्रमाण के रूप में उपन्यस्त किया जाता है। सम्प्रति आचार्य अरुणदत्त की 'सर्वाङ्गसुन्दरा' और श्री हेमाद्रि की 'आयुर्वेदरसायनटीका' ही सर्वाधिक प्रचलित है। इसके उत्तर तन्त्र पर श्री शिवदास सेन की भी टीका प्रकाशित हो चुकी है।

अरुणदत्त—इनके पिता का नाम श्री मृगाङ्कदत्त था, ऐसा टीका के आरम्भ और प्रत्येक अध्याय के समाप्ति सूचक वाक्य से स्पष्ट होता है। टीका का नाम 'सर्वाङ्गसुन्दरा' है, यह भी अध्याय परिसमाप्ति सूचक वाक्य से पता चलता है। यह टीका इस ग्रन्थ पर आद्योपान्त रूप से उपलब्ध होती है और यथा नाम तथा गुणवती है। इस टीक के प्रत्येक शब्द से टीकाकार की विद्वत्ता झलकती है। पदों के अर्थ, पदार्थ विवेचन, शङ्का और उनके उत्तर के रूप में प्रतिपक्ष का खण्डन और स्वपक्ष का मण्डन, व्याकरण की प्रक्रियाओं का समावेश तथा छन्द के लक्षणों के कथन के ऐसा प्रतीत होता है कि ये न केवल आयुर्वेद, अपितु संस्कृत साहित्य और व्याकरण के भी अगाध विद्वान थे। अनेक स्थलों पर तो पाठकों के सुख स्मरणार्थ स्वकीय रचित पद्यों में विषय का उपनिबन्धन कर दिया है।

इन सबके होते हुए भी इन्होंने कहीं इस बात का कोई सङ्केत नहीं दिया जिससे अनुमान किया जासके कि ये किस देश या काल में उत्पन्न हुए। विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इस पर सोचा है और सन् १२२० ई० के के आस-पास का काल निश्चित किया किया है। किन्तु एक बात निर्विवाद

रूप से सत्य सिद्ध होती है कि वे 'हृदय' के दूसरे टीकाकार हेमाद्रि[1] से पूर्वतन थे। हेमाद्रि का काल बिल्कुल निश्चित (१२६० ई० से १३०५ ई० तक) है अतएव अरुणदत्त ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग और बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में हुए होंगे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

निवास-स्थान के बारे में निश्चत रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु 'दत्त' की उपाधि को देखकर इनके बङ्गीय होने का अनुमान लगाया जा सकता है। धर्म से ये वैष्णव रहे होंगे क्योंकि अपने मङ्गला चरण[2] के श्लोक में इन्होंने विष्णु की ही स्तुति की है।

हेमाद्रि :—ये बड़े उद्भट विद्वान थे और देवगिरि के महाराज श्री महादेव के और उनके उत्तराधिकारी महाराजाधिराज श्री रामदेव के श्रीकरणाधिप (कोषाध्यक्ष) प्रधानामात्य थे। इन दोनोंराजाओं का शासन काल सन् १२६० ई० से १३०९ ई० पर्यन्त रहा है। यदि सेवा में आने के समय इनकी वय ३० वर्ष की मानी जाय तो सन् १२३० से लेकर १३१० के आस-पास इनका जीवन काल रहा होगा। इन्होंने अनेक ग्रन्थों (लगभग २० तक) की रचना की है जिनमें चतुर्वर्ग चिन्तामणि एक प्रमुख ग्रन्थ है इसका उल्लेख इन्होंने हृदय की 'आयुर्वेद रसायन' टीका के प्रारम्भ में ही किया है। चतुर्वर्ग चिन्तामणि में इन्होंने अपने वंश का भी वर्णन किया है जिसके अनुसार इनके प्रपितामह श्री वामन, पितामह वसुदेव और पिता श्रीमान् कामदेव थे। ये शुक्ल युजुर्वेदी वत्सगोत्रोत्पन्न महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। यद्यपि वे वैदिक धर्मानुयायी थे किन्तु जैनमन्दिर बनवाने के लिये भी बहुत सा धन दान किया था।

चतुर्वर्ग चिन्तामणि ग्रन्थ के उपोद्घात में पं० भरतचन्द शिरोमणि ने लिखा है कि हेमाद्रिका जन्म सम्भवतः १११५ शक संवत्सर में हुआ था। यद्यपि हेमाद्रि की प्रशस्ति सूचक अनेक श्लोक मिलते हैं किन्तु इनकी विद्वत्ता की झलक आयुर्वेद रसायन टीका ही दे देती है। यह टीका यद्यपि इन्होंने

१. दीप्त्या यस्येन्द्रनीलोपलशकलरजो नीलयानीलिताभाँ लक्ष्मीमुत्तप्त भास्वत् कनकरुचिमपि स्पर्शरोमाञ्चिताङ्गीम्। कालीत्याशङ्कमानः स्फुरदधरपुटश्चक्रपाणिः किलाभूद्भर्ता लोकस्यशश्वत् समवतु भवतां भूतये पद्मनाभः॥

२. मैरेयो धान्यासवः इति चन्द्रनन्दनः, खर्जूरासवः इत्यरुणदत्तः इन्दुश्च। मैरेयोधातकी पुष्प गुड़ धात्र्यक्षसंहितः इति माधवकारः। "आसवस्थ सुरायाश्च द्वयोरप्येक भाजने, सन्धानं तद् विजातीयान्मैंरेयमुभयात्कम्" इति जेज्जटोब्रह्मदेवश्च। पैष्टीगुडासवमधुभिः पैष्टीमध्वासव गुडैर्वा त्रियोनिः मैरेयः इति डल्हणः। सर्वमेतत् प्रमाणं, सर्वेषमाप्तत्वात् शङ्क्यमानस्यापि विरोधस्य परिहरणीयत्वाच्च (इति आयुर्वेद रसायन टीकाया हेमाद्रिः, सू० ७।४०)

सम्पूर्ण संहिता पर बनाई होगी तथापि वह अधूरी ही उपलब्ध होती है। सूत्र-कल्प और सिद्धि स्थान पर यह टीका सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध होती है किन्तु निदान-चिकित्सा स्थान में केवल मद-मूर्च्छा संन्यास तक की निदान चिकित्सा पर ही उपलब्ध है। शारीर और उत्तरतन्त्र पर अभी तक नहीं मिलपाई है। पं० हरिशास्त्री पराड़कर जी ने उत्तरतन्त्र पर मिलने का सङ्केत किया है।

अरुणदत्त और हेमाद्रि दोनों ही टीकाकारों ने अष्टाङ्गहृदय की टीका करते समय अष्टाङ्ग संग्रह के उद्धरण स्थान-स्थान पर दिये हैं किन्तु इन उद्धृत भागों में कुछ-कुछ श्लोक ऐसे भी हैं जो इस समय के आष्टाङ्ग संग्रह की मुद्रित पुस्तकों में नहीं मिलते। इससे यह अनुमान होता है कि आयुर्वेद का ह्रास-काल १२ वीं शताब्दी से भी अधिक इस समय है। अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों का हेमाद्रि ने स्थान-स्थान पर खण्डन मण्डन[1] भी किया है।

हेमाद्रि के टीका की दूसरी विशेषता (श्री पं० हरिशास्त्री पराड़कर जी के शब्दों में) यह है कि इन्होंने अष्टाङ्ग हृदय के अध्यायों पर आनुपूर्वी टीका नहीं लिखी है अपितु इनको विषय के क्रम से सजाकर तब उन पर टीका की है। उदाहरण के लिए सूत्र स्थान के प्रारम्भिक १५ अध्यायों पर आनुपूर्वी टीका करने के पश्चात् कल्पसिद्धि स्थान के छठवें अध्याय की व्याख्या उठाई और इसे पूरा करने के पश्चात् सूत्रस्थान के सोलहवें, सतरहवें और अट्ठारहवें अध्याय पर टीका की, तत् पश्चात् कल्पसिद्धि स्थान के तीसरे अध्याय की व्याख्या की। इसके बाद इसी स्थान के प्रथम और द्वितीय अध्याय की व्याख्या समाप्त करने के बाद सूत्रस्थान के उन्नीसवें अध्याय की व्याख्या प्रारम्भ की। इसके बाद कल्पसिद्धि स्थान के पाँचवें अध्याय की व्याख्या समाप्त करके अवशिष्ट सूत्र स्थान की व्याख्या परिपूर्ण की। ऐसी ही पद्धति निदान-चिकित्सा और उत्तर स्थानों में भी अपनाई होगी क्योंकि मद-मूर्च्छा संन्यास तक ही निदान और चिकित्सा स्थान में व्याख्या मिलती है। अवशिष्ट अंश पर न निदान स्थान की व्याख्या है और न चिकित्सा स्थान की। सम्भावना ऐसी है कि व्याख्याकार ने व्याख्या तो की किन्तु वह कालवशात् लुप्त हो गई। एक स्थान पर प्रतीक रूप में श्री शास्त्री जी को उत्तर तन्त्र की व्याख्या मिली भी है। ऐसा करने का कारण है कि शास्त्र का विषयानुक्रम से विवेचन किया जाय; यही शास्त्री जी के इस तर्क से मैं अक्षरशः सहमत हूँ क्योंकि वाग्भटाचार्य का ग्रन्थ बनाने का यही उद्देश्य था कि आयुर्वेदीय संहिताओं में जो विषय दूर-दूर विखरे हुए हैं उनको एक स्थान पर ही सुख बोधार्थ सङ्कलित कर दिया जाय। यदि

१. द्रष्टव्य टि० १ पृ० ११२

संग्रहकार से ग्रन्थ निबन्धन करते समय किसी कारण वश यह आदर्श न पूर्ण हो सका तो टीकाकार ने उसे पूरा करने की कोशिश करके उचित मार्ग ही अपनाया, अस्तु। हेमाद्रि की उक्ति भी शास्त्री जी के ही मत का पोषण करती हैं। आगे चलकर इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर श्रीमान् श्रीनिवास आर्य ने चिकित्सा तिलक का निर्माण किया किन्तु यह ग्रन्थ केवल सूत्रस्थानात्मक ही प्राप्त होता है।

इस ग्रन्थ पर चन्द्रनन्दन और तोडर मल्ल, इन दो विद्वानों ने भी स्वतन्त्र टीकायें की थीं। चन्द्रनन्दन की टीका का नाम 'पदार्थ चन्द्रिका' है। ऐसा अनुमान है कि यह टीका सम्पूर्ण ग्रन्थ पर रही होगी किन्तु सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। कहीं-कहीं पर इसका उद्धरण श्री पराड़कर शास्त्री द्वारा सम्पादित अष्टांग हृदय में मिलता है।

इसी प्रकार तोडर मल्ल की टीका भी सम्पूर्ण ग्रन्थ पर रही होगी किन्तु उपलब्ध निदान स्थान मात्र पर है। इनके पिता का नाम वैद्य वेइंददेव प्रभु था और माता का नाम अम्बिका देवी, इनका दूसरा नाम कान्हप्रभु भी था। सम्भवतः ये आन्ध्रनिवासी थे।

अष्टाङ्ग हृदय के उत्तर तन्त्र पर श्री शिवदास सेन कृत टीका भी मिलती है, जिसका सम्पादन कविराज ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने किया है। श्री स्वामी लक्ष्मीराम निधि के द्वारा इसका सन् १९४२ में प्रकाशन कराया गया है। मूल लिपि बंगला में रही है जिसे श्री जगन्नाथ शर्मा ने शक संवत् १४४८ में लिपिबद्ध किया है। इसके उपसंहार भाग से टीकाकार के जीवनचरित पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। टीका का नाम 'अष्टाङ्गहृदयतत्त्वबोध' है। इसका उपक्रम प्रारम्भ किया है, 'पारिशेष्यादुत्तरतन्त्रमभिधीयते'' इत्यादि वाक्य से। इससे ध्वनित होता है कि इससे पूर्व के स्थानों पर टीकाकर चुके हैं और अब उत्तर तन्त्र ही शेष रह गया है। अतएव उसकी टीका की जा रही है।

मङ्गलाचरण से प्रतीत होता है कि इनकी माता का नाम भैरवी देवी और पिता का नाम श्री अनन्त सेन था।

इस टीका में श्री शिवदास सेन ने वृद्ध वाग्भट और मध्य वाग्भट का उल्लेख किया है और हृदयकार को भी वाग्भट ही माना है। इस प्रकार उन्होंने वाग्भट नाम से तीन आचार्यों का उल्लेख किया है। वृद्ध वाग्भट और मध्य वाग्भट नाम से जो पाठ उन्होंने उद्धृत किये हैं वे अष्टाङ्ग संग्रह में थोड़े परिवर्तन से मिलते हैं। अतएव इतने से ही इनको अलग-अलग आचार्य मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार इन्होंने एक स्थान पर 'चरकोत्तर

तन्त्र' का उल्लेख कर दिया है। इससे कुछ विद्वान ऐसा समझते हैं कि चरक में भी उत्तर तन्त्र रहा होगा। यह सब लिपिकार का दोष है। क्योंकि स्वयं कितने कष्ट[1] में पड़कर श्री जगन्नाथ शर्मा ने इसका उपनिबन्धन किया है, इसका भी पाठशुद्धि का विचार करते समय ध्यान रखना चाहिए। इस पुस्तक के सम्पादक श्री ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने भी अष्टाङ्ग सङ्गह और अष्टाङ्ग हृदय के लेखक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति माना है किन्तु यह मत उचित नहीं प्रतीत होता।

अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय का तुलनात्मक विवेचन—

दोनों ही संहिताओं में ६ स्थान हैं—सूत्रस्थान, शारीर स्थान, निदान स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्प-सिद्धि स्थान और उत्तर तन्त्र, किन्तु दोनों ग्रन्थों की विभिन्न स्थानों की अध्याय संख्या में भिन्नता होने से सम्पूर्ण अध्याय संख्या संग्रह में १५० है तो हृदय में केवल १२० ही है। इसी प्रकार प्रत्येक अध्याय की श्लोक संख्या में भी भिन्नता है। अतएव अब इसका थोड़ा विस्तार से विवेचन प्रारम्भ किया जाता है।

सत्रस्थान में अष्टाङ्ग संग्रह में ४० अध्याय हैं और अष्टाङ्ग हृदय में तीस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय दोनों ही ग्रन्थों में 'आयुष्कामीय' नामक है। संग्रह में मङ्गलाचरण के दो श्लोक हैं और हृदय में एक ही, संग्रह का दूसरा श्लोक हृदय के मङ्गलाचरण श्लोक से मिलता जुलता है। इसके बाद दोनों ही पुस्तकों में यह प्रतीज्ञा की गई है कि इस आयुष्कामीय अध्याय का व्याख्यान आत्रेयादि महर्षियों के वचनानुसार ही किया जा रहा है। आगे चलकर आयुर्वेदोपदेश की महत्ता सूचक श्लोक दोनों ही ग्रन्थों में समान है किन्तु संग्रह में इसको ५ की संख्या पर रक्खा गया है तो हृदय में २ संख्या दी गई है किन्तु यदि हृदय का गणना क्रम संग्रह के अनुसार किया जाय तो यही संख्या ४ भी आ सकती है। इससे सिद्ध होता है कि श्लोकों की संख्या पर ध्यान न देकर विषय के ऐक्य और पार्थक्य पर ध्यान देते हुए ही दोनों ग्रन्थों की तुलना करना श्रेयस्कर होगा।

इसके बाद का प्रकरण चरकादिवत् आयुर्वेद की परम्परा का व्यापक है जिसमें ब्रह्मा से लेकर विभिन्न ऋषियों तक आयुर्वेदागम के पहुँचने का वर्णन किया गया है। अष्टाङ्ग संग्रह में इसकी व्याख्या ८½ श्लोकों (६ से १४½ श्लोक तक) में की गई है तो हृदय में महज डेढ़ श्लोकों (२–३½) में इसी

---

१. भग्नपृष्ठकटिग्रीवास्तब्धदृष्टिरधोमुखः।
दुःखेन लिखित ग्रन्थ ....

बात को सम्पूर्ण रूप में रख दिया गया है। इससे पाठक को पता चल जायेगा कि अष्टाङ्ग हृदय वास्तव में संग्रह ग्रन्थ का हृदय ही (हृदयमिव हृदयमेतत्) है। अब इतने ग्रन्थों के रहते हुए इस ग्रन्थ के रचना की क्यों आवश्यकता थी ? इस पर प्रकाश डालते हुए संग्रह में जहाँ ७½ श्लोकों (१५ के उत्तर चरण से २२ तक) का उपनिबन्धन किया गया है तो वहाँ हृदय में चौथे श्लोक में ही इस सबको अनुस्यूत करके विषय को संक्षिप्त कर दिया गया है। अष्टाङ्ग हृदय में आयुर्वेद के अष्टाङ्गत्व का प्रतिपादन दोषों के वर्णन से पूर्व किया गया है तो संग्रह में इसे आयुर्वेदावतरण के प्रकरण में ही डाल दिया गया है।

इसके बाद दोषों का वर्णन आरम्भ होता है। संग्रह में दोषों के वृद्धिक्षय और साम्यावस्थात्मक भेद और फिर वृद्धिक्षय के भी उत्कृष्ट-मध्य-अल्प, इस प्रकार तीन-तीन अधिक भेद किये गये हैं। शेष स्थानादि का वर्णन दोनों का समान ही है। दोषों के ही अनुसार अग्नि, कोष्ठ और प्रकृति का निर्माण वातादि का गुणवर्णन, संसर्ग और सन्निपात की अवस्था दोनों में समान रूप से वर्णित है। संग्रह में संसर्ग के ६ और सन्निपात के दस भेद इस स्थल पर अधिक वर्णित हैं। इसके पश्चात् दूष्यों (धातुओं और मलों) का वर्णन प्रारम्भ होता है। संग्रह में रसादिज व्याधियों का औपचारिकत्व और धातुओं के कार्य का अधिक वर्णन है। इसके दोष-दूष्यों कों वृद्धि का कारण, रसों का विवेचन एवं उनके दोषों का प्रकोप, प्रशम, द्रव्यों के-शमन-कोपन और स्वस्थ हितकारी-तीन भेद, उष्ण एवं शीत दो प्रकार का वीर्य, तीन प्रकार का स्वाद, अम्ल-कटु विपाक, और बीस गुणों का वर्णन विल्कुल एक से शब्दों में किया गया है। इसके पश्चात् संग्रह में कुछ अधिक गुण भी बताये गये हैं, उदाहरणार्थ पञ्चेन्द्रियार्थों-शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्ध, व्यवायी एवं विकाशी गुणों तथा सत्त्व, रज, तम रूप महागुणों का अधिक वर्णन है।

तदनन्तर रोगोत्पत्ति प्रकरण प्रारम्भ होता है जो दोनों में एक से शब्दों में वर्णित है। अष्टाङ्ग हृदय में इसी प्रकरण में भिषक्, द्रव्य, उपस्थाता और रोगी के गुणों का, साध्यासाध्यता आदि का संग्रह की अपेक्षा अधिक वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् ग्रन्थों की अनुक्रमणिका लगाई गई है। सूत्रस्थान में १० अध्यायों के अतिरिक्त, शारीर में ६, चिकित्सा में २, कल्पसिद्धि में २ तथा उत्तर तन्त्र में अष्टाङ्ग हृदय में संग्रह की अपेक्षा १० अध्याय कम है।

अष्टाङ्गसंग्रह में दूसरा अध्याय 'शिष्योपनयनीय' नामक है जिसमें शिष्य के गुण, अनध्याय काल, वैद्य के गुण अचिकित्स्य के लक्षण के साथ-साथ अष्टाङ्ग हृदय में वर्णित 'भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता' तथा साध्यासाध्यतादि का भी

इसी में उल्लेख है। इस प्रकार हृदय में एक अध्याय की संख्या थोड़ा सा संक्षेप-विस्तार करके बचा ली गई है।

संग्रह का तीसरा और हृदय का दूसरा 'दिनचर्याध्याय' है। इसमें प्रातः-काल सोकर उठने से लेकर शयन तक के धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सम्बन्धी विषयों का वर्णन संग्रह में बड़े विस्तार से १२८ श्लोकों में किया गया है। इसी को सार रूप में कहीं-कहीं एकदम उन्हीं शब्दों में तो क्वचित् पदपरिवर्तनादि का आश्रय लेकर संक्षेप में ४८ श्लोक मात्र में वर्णित किया गया है।

'ऋतुचर्याध्याय' संग्रहग्रन्थ में चौथा और हृदय में तीसरा है। इसमें षड्-ऋतुओं का विभाग और तदनुकूल चर्या का वर्णन किया गया है। इसके बाद 'रोगानुत्पादनीय' नामक अध्याय दोनों ही ग्रन्थों में समान रूप से स्वस्थवृत्त परक है। इसमें वेगावरोध रोगों और उनकी चिकित्सा का वर्णन है। अगला अध्याय 'द्रवद्रव्यविज्ञानीय' है जिसमें जल, दुग्ध, इक्षु, तेल और मद्यवर्गीय द्रवों के गुण दोष का वर्णन किया गया है। 'अन्नस्वरूप विज्ञानीय' अध्याय अष्टाङ्ग संग्रह में सातवाँ और हृदय में छठवाँ है। इसमें शूकधान्य (चावल), शमीधान्य (दाल), कृतान्न (पकाये हुए अन्न), विविध पशु-पक्षियों आदि के मांस, शाक, फल, आदि के वर्ग बनाकर उनमें इनके भेदोपभेदों के गुण दोष का वर्णन किया गया है। अष्टाङ्ग हृदय में एक औषध वर्ग अधिक वर्णित है जिसमें लवण-क्षार-हरीतकी आदि कुछ औषधोपयोगी द्रव्यों का विशेष सरूप से वर्णन किया गया है। संग्रह में इस स्थान पर 'मात्रादि प्रकरण' का वर्णन है और यहाँ पर भी क्षारादि के अतिरिक्त सात्म्य-पथ्यादि का भी अतिरिक्त विवेचन किया गया है। प्रायः सर्वत्र ही अष्टाङ्ग संग्रह का वर्णन हृदय की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक है।

इसके बाद अष्टाङ्गसंग्रह में सूत्रस्थान का आठवाँ अध्याय 'अन्नरक्षाविधि नामक है। इसमें विष से मिश्रित अन्न-पान-स्त्री-लेप-आस्तरणादि के लक्षण और उसके द्वारा उपसृष्ट होने पर चिकित्सा की विधि बताई गई है। नवाँ अध्याय 'विरुद्धान्नविज्ञानीय' है। इसमें ऐसे द्रव्यों का वर्णन किया गया है जिनमें से एकाधिक का एक साथ भोजनादि के रूप में ग्रहण करने से शरीर पर विषप्रभाव की उत्पत्ति होती है। आहार के बाद निद्रा और ब्रह्मचर्य के उचित सेवन के गुण और अनुचित सेवन के दोषों का भी इसी में विवेचन किया गया है। अपथ्य सेवन तथा दैवप्रकोप से रोगोत्पत्ति और रोगों के प्रशमनार्थ पञ्चकर्म कराने का भी यहाँ उल्लेख किया गया है। दसवाँ अध्याय 'अन्नपानविधि' नामक है। इसमें द्रव्यों में स्वभाव-संयोग या संस्कार से गुरु लघुतोत्पत्ति का वर्णन, भोजन करने की विधि, उसके पालन

के गुण और पालन न करने पर दोषोत्पत्ति, भोजनोत्तर विहार का वर्णन है। ग्यारहवाँ अध्याय 'मात्राशितीय' है। इसमें मात्रायुक्त आहार का लक्षण और कितनी मात्रा में उसका ग्रहण किया जाय, इसका उल्लेख है। अधिक मात्रा में भोजन करने से अलसक-विसूचिका आदि की उत्पत्ति और उनकी चिकित्सा का वर्णन है। अष्टाङ्ग हृदय का वर्णन इस प्रसंग में बहुत संक्षिप्त है, थोड़े में ही यहाँ 'अन्नरक्षाध्याय' (सातवें) और 'मात्राशितीय' (आठवें) अध्याय में इन विषयों का उल्लेख है।

अष्टाङ्गसंग्रह में बारहवाँ अध्याय 'विविधौषधविज्ञानीय' है। इसमें औषध का वर्गीकरण विविध दृष्टिकोणों से किया गया है। रसवीर्यादि भेद से कुछ खनिज एवं मिश्रधातुओं, वानस्पतिक एवं वातातपादि देवप्रदत्त द्रव्यों के गुण-धर्म का वर्णन किया गया है। तेरहवाँ अध्याय 'अग्रयसंग्रह' नामक है। इसमें एक से कार्य करने वाले द्रव्यों में से उतमोत्तम द्रव्यों के नाम गिनाये गये हैं। द्रव्यों के प्रसङ्ग से आहार-विहार और रोगों के भी अग्रयता का उल्लेख कर दिया गया है। चौदहवाँ अध्याय 'शोधनादिगण संग्रह' परिचायक है। वमन-विरेचन, बस्तिकर्म, शिरोविरेचन, धूमोपयोगी एवं वात-पित्त और श्लेष्म प्रशमक द्रव्यों का इसमें संग्रह है। पन्द्रहवाँ अध्याय 'महाकषाय संग्रह' नामक है। इसमें लवण को छोड़कर शेष रसों की कषायसंज्ञा का निर्देश, जीवनीय-बृंहणीय आदि ४५ महाकषायों का वर्णन है। प्रत्येक भाग में १०-१० द्रव्यों का उल्लेख किया गया है। सोलहवाँ अध्याय 'विविध गणसंग्रह' नामक है। इसमें एक-एक रोग समूह को विनष्ट करने के लिये समान गुणकारी औषधियों को मिलाकर एक-एक वर्ग बनाया गया है। इस प्रकार के २५ गणों का इसमें उल्लेख है। बारह अध्याय से लेकर सोलह अध्याय तक का वर्णन हृयय में यत्र-तत्र प्रकीर्ण रूप से मिलता है।

सतरहवाँ अध्याय 'द्रव्यादि विज्ञानीय' है। अष्टाङ्ग हृदय में नवें अध्याय को यह संज्ञा दी गई है। दोनों में एक से विषयों—रसादि से द्रव्य की प्रधानता, व्यक्त को रस और अव्यक्त की अनुरस संज्ञा, गुर्वादि २० गुणों का द्रव्याश्रितत्व और रस में औपचारिकत्व, पार्थिवादि द्रव्यों के गुण, वाय्वग्निभूत प्रधान द्रव्यों का वामक औ अग्निजल भूत प्रधान द्रव्यों का विरेचकत्व, वीर्य-विपाक प्रभाव आदि का वर्णन है। अन्तर इतना ही है कि जो विषय संग्रह में गद्य मय है, हृदय में उसे भी पद्यों में वर्णित किया गया है।

इसके आगे का अध्याय 'रसभेदीय' है। इसमें मधुरादि रसों की उत्पत्ति, उनके गुण और अत्युपयोग से उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन है। एक से द्रव्यों में एक सा रस मिलने के कारण मधुरद्रव्यस्कन्ध, अम्लद्रव्यस्कन्ध आदि

रसद्रव्यस्कन्धों का भी वर्णन किया गया है। रसों के सत्तावन संयोग और ६३ कल्पनाओं का भी वर्णन किया गया है। संग्रह का वर्णन अधिक विस्तार पूर्वक है और उसमें प्रत्येक स्कन्ध में एक-एक श्रेष्ठ द्रव्य तथा रस की प्रधानता का देशों के साथ सम्बन्ध करने का भी प्रयत्न किया गया है। संग्रह का उन्नीसवाँ और हृदय का ग्यारहवाँ अध्याय 'दोषादिविज्ञानीय' है। इसमें वातादि दोषों, रसादि धातुओं और शकृदादिमलों के प्राकृत कर्म और क्षीण वृद्ध होने वाले लक्षणों का वर्णन है। दोषों का धातुओं में स्थान बताकर लंघन-बृंहण के द्वारा वृद्धि क्षय की चिकित्सा का भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त अवस्था विशेष के अनुसार पञ्चकर्म-शस्त्रक्षाराग्नि आदि कर्मों का भी यथोचित प्रयोग करने का निर्देश किया गया है। संग्रह में वृद्धिक्षय की अग्निमान्द्यानुसार सम्प्राप्ति और दुष्ट दोषों के धातुस्थित होने पर उत्पन्न होने वाले रोगों के वर्णन के साथ ही साथ कुपित दोषों के कोष्ठ से शाखादि में गमन के क्रम को भी बताया गया है। आगे का स्वरूप उसके क्षय और पथ्याहार से ही वृद्धि क्षय का निर्देश करते हुए दोनों ग्रन्थों में समान श्लोकों से अध्याय की समाप्ति की गई है।

'दोषभेदीय' नामक अध्याय की संख्या संग्रह में २० और हृदय में १२ है। इसमें पञ्चमहाभूतों से दोषों की उत्पत्ति, उसके स्थान, कर्म-भेदादि का उल्लेख है। दोषों के सञ्चय-प्रकोप और प्रशम के हेतु, सञ्चयादि के लक्षण और प्रकुपित वातादि से उत्पन्न होने वाले विकारों का नामोल्लेख किया गया है। अष्टाङ्ग-संग्रह में विभिन्न प्रकार के दाषों की परिभाषा और ज्वरादि महाविकारों तथा नखभेदादि क्षुद्र विकारों की सापेक्ष निश्चिति, प्रकुपित वातादि के कर्म, वृद्धि-क्षय भेद से दोषों के ६२ स्वरूप, और विभिन्न अवस्था गत वृद्धि-क्षय-साम्यावस्था के संसर्गों के अनुसार रोगों के आनन्त्य का प्रतिपादन किया गया है। अष्टाङ्ग हृदय में इसी प्रकरण में व्याधि के अपचराज आदि ३ भेद, स्वतन्त्र-परतन्त्र-पूर्वरूप-उपद्रवादि अवस्थायें, चिकित्सा के पूर्व दोष-दूष्य-देश-काल-बल आदि परीक्ष्य भावों आदि कुछ विशिष्ट विवेचन भी किया गया है। दोनों ही ग्रन्थों में इसके बाद वाला अध्याय 'दोषोपक्रमणीय' नामक है। इसमें वातादि दोषों की चिकित्सा के सामान्य विधान के साथ ही साथ चयादि की आवस्थिकी चिकित्सा का भी वर्णन है। साम दोषों के लक्षण और चिकित्सा का भी विवेचन किया गया है।

अष्टाङ्ग संग्रह का बाईसवाँ अध्याय 'रोगभेदीय' नामक है। इसमें रोगों के सहज-गर्भज-जातज-पीडाकृत-कालज-प्रभावज और स्वभावज, ये सात भेद किये गये हैं। इनको पुनः प्रत्युत्पन्न कर्मज और पूर्वकर्मज इस प्रकार दो भागों

में विभक्त किया गया है। इनको पुनः दोषानुसार ७ भागों में, मृदु-मध्य-दारुण भेद से ३ प्रकार के, सुखसाध्यादि भेद से ४ प्रकार के तथा निज आगन्तुक भेद से २ प्रकार के बताये गये हैं। इन सब का कारण दोषप्रकोप ही होता है जो आसात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराध और परिणाम के प्रभाव से प्रकुपित होता है। रोगों की अभिव्यक्ति निदान-दोष-दूष्यों के भावाभाव पर आधारित होती है। बाह्य मध्य और आभ्यन्तर ये तीन रोग मार्ग हैं, रोग स्वप्रधान (स्वतन्त्र) या और अन्य परिवार (पूर्वरूप या उपद्रवरूप) होते हैं। इनकी परीक्षा आगम, अनुमान और प्रत्यक्ष से की जाती है। तेईसवें 'भेषजावचारणीय' अध्याय में बताया गया है कि चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले रोगी किस देश में जात-संवृद्ध और व्याधित हुआ, वहाँ के लोगों के आहार-विहार क्या हैं, व्याधि प्रकृतिसमसमवेत है अथवा विकृति-विषमसमवेत, अधिष्ठान क्या है, संशोधन कराना उचित है अथवा शमन, रोगी स्थूल है या कृश, औषध के रसवीर्य विपाकादि की परीक्षा, काल का विचार तथा आतुरावस्था में अभक्त-प्राग्भक्तादि १० समयों में से कब औषध देवें, आदि विषयों का उल्लेख है।

अष्टाङ्ग संग्रह का चौबीसवाँ और हृदय का चौदहवाँ अध्याय 'द्विविधोपक्रमणीय' नामक है। इसमें चिकित्सा के दो भेद सन्तर्पण (बृंहण, स्नेहन, स्तम्भन) और अपतर्पण (लंघन, रूक्षण, स्वेदन) बताये गये हैं। लंघन के शोधन और शमन भेद बताकर पाँच प्रकार का शोधन और ७ प्रकार का शमन बताया गया है। लंघन और बृंहण के योग्य रोगियों का निर्देश, स्थौल्य और उसकी चिकित्सा और कार्श्य एवं उसकी चिकित्सा का भी वर्णन है। अष्टाङ्ग हृदय का पन्द्रहवाँ अध्याय 'शोधनादिगण संग्रह' नामक है। जो अष्टाङ्गसंग्रह के चौदहवें अध्याय से मिलता-जुलता है। आगे चलकर इसी में विविध रोग ३३ औषधि-गणों को भी संगृहीत किया गया है जो संग्रह के सोलहवें अध्याय से मिलता है।

अष्टाङ्गहृदय का सोलहवाँ अध्याय और संग्रह का पचीसवाँ अध्याय 'स्नेह विधि' नामक है। इसमें स्नेहन और विरूक्षण औषध के गुण, स्नेह द्रव्यों के भेद, किस प्रकार के स्नेह्य रोगी में कौन सा द्रव्य स्नेहनार्थ प्रयुक्त करे, स्नेह की मात्रा देने की विधि, स्नेहकाल का आहार-विहार, स्निग्ध के लक्षण, और अस्नेह्य रोगियों के लक्षण भी बताये गये हैं। स्नेहन के उपद्रव, सद्यःस्नेहन करने वाले योगों और विरूक्षण की विधि का भी निर्देश किया गया है। दोनों ही ग्रन्थों में इसके आगे का अध्याय 'स्वेद विधि' नामक है। इसमें स्वेद के ४ भेद--ताप, उपनाह, द्रव और ऊष्म बताये गये हैं। द्रव के परिषेक और अवगाह ये दो प्रकार और उष्म स्वेद के पिंड, संस्तर, नाड़ी, घनाश्म, कुम्भी, कूप, कुटी और जेन्ताक ये आठ भेद बताये गये हैं। पित्त संसृष्ट व्याधियों में द्रव

स्वेद का और उपनाह का वातज व्याधियों में, शेष का कफज में निर्देश किया गया है। निवात स्थान में निवास, गुरुप्रावरणादि अनग्नि स्वेदों का भी उल्लेख मिलता है। स्वेदन का किन रोगों में निर्देश है, कौन-कौन वर्ज्य हैं, सम्यक्-स्विन्न के लक्षण, स्वेदन का फल, और स्वेदक तथा स्तम्भक औषध के गुणों का भी निर्देश किया गया है।

इसके आगे का अध्याय दोनों ही ग्रन्थों में 'वमनविरेचनविधि' नामक है। इसमें वमन-विरेचनकर औषधियों की क्रिया का स्वरूप, वमन-विरेचन का निर्देश, पूर्वकर्म, वमनसाध्य व्याधियाँ, वमन के अनुपयुक्त रोग और रोगी; विरेचन साध्य रोग, अविरेच्य का निर्देश, औषध पिलाने का मन्त्र, दोषानुसार अनुपान, इनके अतियोग-अयोग और सम्यग् योग के लक्षण और उपद्रवों की चिकित्सा, शुद्धि के लक्षण, संसर्जन आदि का वर्णन किया गया है। संग्रह का अट्ठाईसवाँ और हृदय का उन्नीसवाँ अध्याय 'बस्तिविधि' नामक है। इसके आस्थापन-अनुवासन एवं उत्तरबस्ति इस प्रकार बस्ति के ३ भेद, इनकी निरुक्ति, योग्य एवं अयोग्य रोग तथा रोगियों का निर्देश, बस्ति देने की विधि, मात्रा, काल; पूर्वकर्म आदि का सविस्तर उल्लेख है। इसके आगे का अध्याय दोनों ही ग्रन्थों में 'नस्य विधि' नामक है। इसमें औषध के कार्य करने की प्रक्रिया, नस्य के विरेचन-बृंहण और शमन रूप तीन भेद और उनका विभिन्न रोगानुसार निर्देश, मर्श-प्रतिमर्श-प्रधमनादि नस्य के अवांतर भेद, नस्य के अयोग्य रोगियों का परिगणन, अणुतैल, तैल बनाने की विधि, नस्य दान विधि, मात्रा काल, सम्यग् योग के लक्षण आदि का इसमें निर्देश है। इसके उपरान्त 'धूमपान विधि' अध्याय है। इसमें धूमपान के योग्य और अयोग्य रोगियों का निर्देश, धूम के तीन शमन-बृंहण और शोधन-भेद, धूमपान का काल, प्रयोग विधि और विभिन्न रोगघ्न धूमों का वर्णन है। इसके बाद 'गण्डूषादि विधि' अध्याय है। इसमें गण्डूष के स्नैहिक, शमन (स्तम्भन, प्रसादन, निर्वापण), शोधन (क्रमशः वात-पित्त कफज रोगों में) और रोपण (मुखव्रण में) भेद, इनके बनाने की विधि, गण्डूष धारण करने की विधि, प्रधानकर्म, गण्डूष के अयोग्य रोगियों का निर्देश, प्रतिसारण और मुखालेप का वर्णन है। साथ ही मूर्ध तैल (शिरोभ्यङ्ग-परिषेक-पिचु-बस्ति) और पूरण का भी वर्णन है।

बत्तीसवाँ अध्याय (संग्रह का) और तेइसवाँ अध्याय (हृदय का) 'आश्च्योतनाञ्जन विधि' नामक है। इसमें आश्च्योतन और बिडालक की परिभाषा, उनके लगाने की विधि और रोगानुसार निर्देश, अञ्जन के भेद, बनाने की विधि, शलाका स्वरूप, और अञ्जन के अयोग्य रोगियों का विवरण दिया गया है। इसके बाद वाला अध्याय 'तर्पणपुटपाक विधि' नामक है। इसमें

तर्पण योग्य व्याधियों का निर्देश, तर्पण विधि, काल आदि का निर्देश किया गया है। तर्पण के बाद पुटपाक (मांस पिण्ड स्वेद) और उसके बाद प्रसादन का विधान बताया गया है। ये दोनों अध्याय नेत्ररोग से संबद्ध हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह में चौंतीसवाँ अध्याय 'यन्त्र-शस्त्रविधि' नामक है। अष्टाङ्ग हृदय में पचीसवाँ अध्याय 'यन्त्रविधि' और छब्बीसवाँ 'शस्त्रविधि' नामक है। यन्त्र शल्य को निकालने और अर्श-भगन्दरादि व्याधियों में शस्त्रक्षाराग्नि कर्म करने तथा उससे अन्य अंगों की रक्षा करने के काम में प्रयुक्त किया जाता है। इसके ६ भेद, उनके स्वरूप तथा प्रयोग का निर्देश, अनुयंत्र तथा यंत्र के कार्यों का वर्णन करने के पश्चात् २६ शस्त्रों का वर्णन संग्रह में एक ही अध्याय में है जिसके लिए हृदय में एक अलग अध्याय बनाया गया है। अष्टांग हृदय में शस्त्रविधि अध्याय में ही रक्तस्रावणार्थ जलौकाओं का वर्णन और उनके प्रयोग-विधि का निर्देश कर दिया गया है, जिसके लिये संग्रह में पैंतीसवाँ 'जलौका विधि' अध्याय स्वतन्त्ररूप से अनुस्यूत है। इसके आगे दोनों ही ग्रंथों में 'सिराव्यध विधि' अध्याय है। इसमें रक्त की उत्पत्ति, उसकी दुष्टि के हेतु, सिरावेध के योग्य और अयोग्य रोगियों का उल्लेख, विविध रोगों में विशेष विशेष सिराओं के वेधन का निर्देश, पूर्वकर्म, प्रधानकर्म एवं पश्चात् कर्म, सम्यग् विद्ध के लक्षण, राक्तातिस्रुतिजन्य उपद्रव और रक्त रोकने के उपायों का वर्णन है।

संग्रह का सैंतीसवाँ अध्याय और हृदय का अट्ठाईसवां अध्याय 'शल्या-हरणविधि' नामक है। इसमें शल्य की गति, सशल्य अवयवों में उत्पन्न होने-वाले लक्षण का विवरण उनको निकालने के उपाय, आदि का उल्लेख है। इसके आगे का अध्याय 'शस्त्रकर्म विधि' नामक है। इसमें शोफ के आम-पक्वादि अवस्थाओं के लक्षण और उनमें चिकित्सा करने के गुण दोष, शस्त्राव-चारण के पूर्व-प्रधान और पश्चात् कर्म, सीवन और व्रणबन्ध आदि का वर्णन है। संग्रह का उनतालीसवाँ अध्याय 'क्षारकर्म विधि' और चालीसवाँ अध्यय 'अग्निकर्म विधि' नामक है जिसका वर्णन हृदय में तीसवें अध्याय में 'क्षाराग्निकर्म विधि' के नाम से किया गया है। इसमें क्षार बनाने की विधि, उसके गुण, क्षारकर्म का प्रयोग, सम्यग् योग के लक्षणों आदि का वर्णन है। आगे के वर्णन में अग्निसाध्य व्याधियों में और दाहविधि, सम्यग् दग्ध, प्रमाददग्ध और उसके उपचारों का विवेचन है। इस प्रकार सूत्रस्थान सम्पूर्ण होता है। अष्टांग संग्रह का वर्णन सभी स्थलों पर विस्तृत है।

शारीरस्थान में संग्रह का प्रथम अध्याय 'पुत्रकामीय' नामक है। इसमें विवाह योग्य कन्या के लक्षण, गर्भाधान के लिए स्त्री की वय १६ वर्ष, पुरुष का

२१ वर्ष विवाह का और २५ वर्ष गर्भाधान का वय, शुक्र का स्थान, उत्पत्ति तथा गर्भाधान समर्थ शुक्र के लक्षण, शुद्ध आर्तव का लक्षण, असृग्दर, आर्तवाप्रवृत्ति, रक्तगुल्म आदि के लक्षण और चिकित्सा, दोषों से शुक्रार्तव के दुष्ट हो जाने के लक्षण और उनकी चिकित्सा, ऋतुकाल, कन्या और पुत्रोत्पत्ति के कारणों पर विचार, पुँसवन कर्म, और गर्भ के वर्णोत्पत्ति का विचार किया गया है।

अष्टांग हृदय का प्रथम और संग्रह का द्वितीय अध्याय 'गर्भावक्रान्ति शरीर' नामक है। हृदय में ३० श्लोकों में, संग्रह प्रथमाध्यायोक्त बातों का वर्णन करने के उपरान्त द्वितीय अध्याय के विषयों का वर्णन प्रारम्भ होता है जो न्यूनाधिक रूपसे समान है। इसमें सद्योगृहीत गर्भों के लक्षण, जरायु की उत्पत्ति, प्रथमादि मासों में गर्भ का स्वरूप, सगर्भा के लक्षणों से स्त्री आदि का अनुमान करना, षण्ढ तथा विकृत गर्भोत्पत्ति, गर्भोपघात कर भावों आदि का वर्णन है। संग्रह का तीसरा अध्याय 'गर्भोपचरणीय शारीर' और चौथा 'गर्भव्यापद शारीर' है। हृदय का दूसरा अध्याय गर्भव्यापद शारीर नामक है जिसमें पूर्ववत् ३-४ अध्यायों का संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है। इस प्रकरण में गर्भिणी की मासानुमासिक चर्या, सूतिकागार प्रवेश, और प्रसवकालिक उपचारों का वर्णन है। इसके बाद विभिन्न अवस्थाओं के गर्भपात की चिकित्सा, उपविष्टक, लीनगर्भ, उपशुष्कक, उदावृत और मूढगर्भ को चिकित्सा का उल्लेख है।

इसके आगे का अध्याय दोनों ही ग्रंथों में 'अङ्गविभाग शारीर' नामक है। इसमें अंग-प्रत्यंगों की उत्पत्ति, मातृज, पितृजादि भाव, सत्त्व रजस्तम से मन के प्रभावित होने पर उसमें विभिन्न गुणों की उत्पत्ति, देह के प्रविभाग (त्वचा कला आदि) और उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। अष्टांगसंग्रह में छठवें अध्याय में सिराओं का विभाग बताया गया है किन्तु हृदय में यह वर्णन तीसरे ही अध्याय में है। इसमें १० मूल सिराओं को हृदय से संबद्ध बताया गया है और आगे चलकर अंग-प्रत्यंगों में उनके प्रतिविभाग बताये गये हैं। कौन व्यधनीय हैं और कौन नहीं, इसका भी निर्देश किया गया है। चौबीस धमनियों को नाभि सम्बद्ध बताया गया है जो शरीर का पोषण करती हैं। स्रोतों, ग्रहणी, अग्नि और आहारपाक एवं धातूत्पाद का भी इसीमें वर्णन मिलता है। अष्टांग हृदय में इसी (तीसरे) अध्याय में ही प्रकृतियों और बल का भी वर्णन किया गया है जो अष्टांगसंग्रह के शारीरस्थान के आठवें अध्याय से मिलता जुलता है।

अष्टांगसंग्रह का सातवाँ अध्याय और अष्टांग हृदय का चौथा अध्याय 'मर्म विभाग शारीर' नामक है। इसमें १०७ मर्मों का स्थान, रचना और प्राणहरत्व

आदि दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। संग्रह का नवाँ अध्याय विकृतांगविज्ञानीय और हृदय का पाँचवां अध्याय 'विकृति विज्ञानीय' नामक है। दोनों में ही अरिष्ट का वर्णन है। संग्रह का दशवां अध्याय 'विकृतेहा विज्ञानीय' और ग्यारहवां अध्याय 'विकृति व्याधिविज्ञानीय' है। इन सभी में रोग से पीड़ित रोगी में उत्पन्न होने वाले विविध असाध्यताख्यापक लक्षणों को देखकर कितने काल के अनन्तर मृत्यु होगी इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

संग्रह का बारहवां अध्याय और हृदय का षष्ठ अध्याय 'दूतादिविज्ञानीय' है जिसमें दूत की चेष्टाओं और मार्ग में मिलनेवाले शकुन आदि के आधार पर साध्यासाध्यत्ता के परिज्ञान का वर्णन किया गया है।

निदानस्थान में अध्यायों की संख्या और नाम दोनों ही ग्रन्थों में समान हैं। तीसरे निदानस्थान का प्रथम अध्याय 'सर्वरोग निदान' नामक है। इसमें निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय-सम्प्राप्ति आदि के लक्षण तथा वात-पित्त-कफ दोष प्रकोपक हेतुओं का भी वर्णन किया गया है। अष्टांगसंग्रह में रोगों की प्रागुत्पत्ति का विवरण हृदय की अपेक्षा अधिक है। द्वितीय अध्याय 'ज्वर निदान' नामक है। इसमें ७ दोषज और एक आगन्तुज इस प्रकार ज्वरमात्र के आठ विभाग किये गये हैं और उनके निदानादि का विवेचन किया गया है। तीसरा अध्याय 'रक्त-पित्त-कास निदान' नामक है। चौथा अध्याय 'श्वास हिध्मा निदान' है। पाँचवाँ अध्याय 'राजमक्ष्मादि निदान' नामक है। इसीमें स्वरभेद, अरोचक, छर्दि, हृद्रोग और तृष्णा के निदानादि का भी वर्णन है। छठवें की संज्ञा 'मदात्ययादि निदान' है, इसमें ध्वसंक और विक्षप सहित वातादि मदात्य तथामद, मूर्च्छा एवं सन्यास के भी निदानादि का वर्णन है। सातवाँ अध्याय 'अर्शोनिदान' है। आठवाँ अध्याय 'अतिसार-ग्रहणी दोष' निदान परक है। नवाँ अध्याय 'मूत्राघात निदान' है। इसमें अश्मरी, शर्करा, वाताष्ठीला, वातकुण्डलिका, मूत्रातीत, मूत्रजठर, मूत्रोत्संग, मूत्रग्रन्थि, मूत्रशुक्र, विड्विघात, उष्णवात, मूत्रक्षय, मूत्रसाद आदि का भी वर्णन किया गया है। दसवाँ अध्याय 'प्रमेह' निदानाख्यापक' और ग्यारहवाँ अध्याय 'विद्रधि-वृद्धि-गुल्म निदान' नामक है। बारहवें अध्याय में 'उदर रोग', तेरहवें में पाण्डुरोग-शोफ और विसर्प, चौदहवें में कुष्ठ-श्वित्र और कृमि, पन्द्रहवें में 'वातव्याधि निदान' का वर्णन है। वातव्याधि के प्रकरण में ही आक्षेपक, अपतन्त्रक, अन्तरायाम, बाह्यायाम, व्रणायाम, हनुस्रंस, जिह्वास्तम्भ, अर्दित, सिराग्रह, पक्षवध, सर्वांगरोग, दण्डक, अववाहुक, विश्वाची, खञ्जत्व, पंगुत्व, कलायखञ्ज, ऊरुस्तम्भ, क्रोष्टुशीर्षक, वातकण्टक, गृध्रसी, खल्ली, पादहर्ष, पाददाह आदि व्याधियों

का भी वर्णन है। सोलहवाँ अध्याय 'वातरक्त निदान' नामक है। इसमें प्राणादि वायुओं में से एक-एक के प्रकोपक निदान और उनसे उत्पन्न होनेवाले रोगों के साथ ही साथ वायु के आवृत होने से उत्पन्न होनेवाले रोगों का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार निदानस्थान समाप्त होता है।

चौथा चिकित्सा स्थान है। इसमें प्रथम अध्याय में ज्वर चिकित्सा दोनों ही ग्रंथों में वर्णित है। संग्रह के द्वितीय अध्याय में जीर्णज्वर की चिकित्सा का विशेषरूप से वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में रक्तपित्त चिकित्सा का वर्णन है जो अष्टांग हृदय का दूसरा ही अध्याय है। इसके बाद कास चिकित्सा का वर्णन है। अष्टांगसंग्रह में 'क्षतक्षय कास' चिकित्सा परक पाँचवाँ अध्याय है। अष्टांगसंग्रह का छठवाँ अध्याय और हृदय का चौथा अध्याय 'श्वासहिध्माचिकित्सित' है। इसके पश्चात् 'राजयक्ष्म चिकित्सित' है। हृदय में इसे 'राजयक्ष्मादि चिकित्सित' संज्ञा दी गई है। इसके बाद का अध्याय 'छर्दिहृद्रोग-तृष्णा' चिकित्सित, तदनन्तर 'मदात्यय चिकित्सित', इसके बाद क्रमशः 'अर्शस्' चिकित्सित, 'अतिसार' चिकित्सित, 'ग्रहणी दोष' चिकित्सित, 'मूत्राघात' चिकित्सित, प्रमेह चिकित्सित, विद्रधि चिकित्सित, गुल्म चिकित्सित, उदरचिकित्सित, पाण्डुरोग चिकित्सित, श्वयथु चिकित्सित, विसर्प चिकित्सित कुष्ठ चिकित्सित 'श्वित्रकृमि चिकित्सित, वातव्याधि चिकित्सित एवं वातशोणित चिकित्सित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टांगहृदय के चौथे और अष्टांग-संग्रह के छठवें अध्याय से अन्तिम अध्याय तक के अध्याय नाम दोनों ग्रन्थों के एक से ही हैं। संग्रह में केवल दो अध्याय 'जीर्णज्वर चिकित्सित' (दूसरा) तथा 'क्षत-क्षयकास चिकित्सित (पाँचवाँ) अधिक हैं जिनका वर्णन हृदय के ज्वर एवं कास चिकित्सित में ही समाविष्ट हो जाते हैं।

पाँचवाँ स्थान कल्पसिद्धि स्थान है। पहला अध्याय दोनों ही पुस्तकों में 'वमनकल्प' नामक है और दूसरा अध्याय विरेचन कल्प। तीसरा अध्याय वमन विरेचन व्यापत् सिद्धि नामक और चौथा बस्तिकल्प नामक है। संग्रह में पाँचवाँ अध्याय सिद्धवस्तिकल्प नामक है। हृदय का पाँचवाँ किन्तु संग्रह का छठवाँ अध्याय बस्तिव्यापत् सिद्धि नामक है। पाँचवें के ही समान संग्रह में सातवाँ (अथवा पृथक् रूप का) स्नेह व्यावत् सिद्धि है। इसके बाद हृदय के छठवें अध्याय का नाम द्रव्य कल्प और संग्रह के आठवें अध्याय का नाम 'भेषजकल्प' है। इस प्रकार इस स्थान में अष्टाङ्गहृदय में ६ अध्याय और संग्रह में ८ अध्याय हैं।

अन्तिम उत्तरस्थान (छठवाँ) है। इसमें दोनों ही पुस्तकों में प्रथम अध्याय बालोपचरणीय एवं द्वितीय बालामय प्रतिषेध है। तृतीय अध्याय हृदय

में बाल ग्रह प्रतिषेध नामक है। संग्रह में यह चतुर्थ अध्याय है, तृतीय का नाम यहाँ बाल ग्रह विज्ञानीय है। इसी प्रकार संग्रह का पाँचवाँ 'स्नपनाध्याय' और छठवाँ 'प्रत्येक ग्रह प्रतिषेध' नामक अध्याय है। संग्रह के सातवें और हृदय के चौथे अध्याय से फिर अनुरूपता प्रारम्भ होती है, ये अध्याय क्रमशः भूत विज्ञानीय, भूत प्रतिषेध, उन्माद प्रतिषेध और अपस्मार प्रतिषेध हैं।

हृदय के आठवें और संग्रह के ग्यारहवें अध्याय से नेत्र रोग का विषय प्रारम्भ होता है। इनमें और आगे के ९ अध्यायों में इस विषय का वर्णन है। इनके नाम क्रमशः वर्त्मरोग विज्ञानीय, वर्त्मरोग प्रतिषेध, सन्धि सितासित रोग विज्ञानीय, सन्धिसितासित रोग प्रतिषेध, दृष्टिरोग विज्ञानीय, तिमिर प्रतिषेध, लिङ्गनाश प्रतिषेध, एवं सर्वाक्षिरोग विज्ञानीय हैं। यहाँ पर संग्रह का अठारहवाँ एवं हृदय का पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त होता है। सोलहवाँ अध्याय अष्टाङ्ग हृदय में सर्वाक्षिरोग प्रतिषेध नामक है। अष्टाङ्ग संग्रह में इस प्रसङ्ग में 'अभिष्यन्द प्रतिषेध' नामक उन्नीसवाँ अध्याय और 'अक्षिपाक-पिल्ल' प्रतिषेध नामक बीसवाँ अध्याय है। इसके बाद अन्य अर्ध्वजत्रगत रोगों का विषय प्रारम्भ होता है।

हृदय का सतरहवाँ अध्याय 'कर्णरोग विज्ञानीय' है जो संग्रह में इक्कीसवाँ अध्याय है। इसके बाद कर्णरोग प्रतिषेध, नासारोग विज्ञानीय, नासारोग प्रतिषेध, मुखरोग विज्ञानीय, मुखरोग-प्रतिषेध, शिरोरोग विज्ञानोय, शिरोरोग-प्रतिषेध है। इसके पश्चात् शल्यप्रकरण में अष्टाङ्ग हृदय में पच्चीसवाँ अध्याय 'व्रण प्रतिषेध' नामक है तो संग्रह में उनतीसवाँ अध्याय 'व्रणविभक्ति परिज्ञानीय' और तीसवाँ अध्याय 'व्रणप्रतिषेध' है। इसके अनन्तर दोनों ही पुस्तकों में सद्योव्रण प्रतिषेध, तदन्तर भङ्ग प्रतिषेध, भगन्दर प्रतिषेध, ग्रन्थि-अर्वुद-श्लीपद-अपची-नाड़ीविज्ञानीय (ग्रन्थ्यादि) ग्रन्थि-अर्वुद-श्लीपद-अपची-नाड़ी प्रतिषेध, क्षुद्ररोगविज्ञानीय, क्षुद्ररोग प्रतिषेध, गुह्यरोग विज्ञानीय, गुह्यरोग प्रतिषेध है। यहाँ पर शल्यतन्त्र का वर्णन समाप्त होता है और इसके आगे अदतन्त्र प्रारम्भ होता है।

अष्टाङ्गहृदय में पैंतीसवाँ अध्याय और अष्टाङ्ग संग्रह में चालीसवाँ अध्याय 'विषप्रतिषेध' नामक है। हृदय में ३६ वाँ अध्याय सर्पविष प्रतिषेध है, संग्रह में इकतालीसवाँ सर्पविष विज्ञानीय और बयालीसवाँ 'सर्पविष प्रतिषेध' है। हृदय में सैंतीसवाँ अध्याय कीटलूतादि विष प्रतिषेध है, सग्रह में तैंतालीसवाँ कीट विष प्रतिषेध है और चौवालिसवाँ लूता प्रतिषेध और पैंतालीसवाँ प्रत्येक लूताप्रतिषेध। इसके बाद दोनों ही ग्रन्थों में मूषिकालर्क विष प्रतिषेध है। संग्रह में सैंतालिसवाँ अध्याय 'विषोपद्रव प्रतिषेध, और अँड़तालीसवाँ 'विषो-

पयोगीय' नामक अध्याय अधिक है। इतने में अगदतन्त्र का विषय समाप्त होता है।

इसके बाद एक-एक अध्यायों में रसायन और वाजीकरण के विषयों का वर्णन है। हृदय का उनतालीसवाँ और संग्रह का उनचासवाँ अध्याय 'रसायन-विधि' नामक है। इसके बाद वाला अध्याय दोनो ही ग्रन्थों में 'वाजीकरण विधि' नामक है। इस तरह हम देखते हैं कि जिन कतिपय विषयों का वर्णन संग्रह में एकाधिक अध्याय में किया गया है, उन्हीं विषयों को हृदय में संक्षिप्त करके एक ही अध्याय में उपनिबद्ध किया गया है। अन्य अध्यायों में भी आवश्यकतानुसार ग्रहण करके शेष संग्रहीय विवरण का परित्याग किया गया है। इस तरह अष्टाङ्ग संग्रह रूप विशाल ग्रन्थ को ही संक्षिप्त करके अष्टाङ्ग हृदय का निर्माण हुआ। इन दोनों के कर्ता भी एक ही आचार्य वाग्भट थे इसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है।

ज्वर समुच्चय—

इस पुस्तक का उल्लेख नेपाल राजगुरु पं० हेमराज शर्मा ने काश्यप संहिता के उपोद्घात के परिशिष्ट में किया है। इसमें भी केवल संहिता ग्रन्थों चरक-सुश्रुतादि के वचनों का उद्धरण दिया गया है, संग्रह-ग्रन्थों या अष्टाङ्ग-हृदय आदि का नहीं। इससे प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ भी वाग्भट के सम काल में ही निर्मित हुआ होगा। भेद केवल इतना ही है कि यह ग्रन्थ एक विषय पर लिखा गया है तो अष्टांगसंग्रह-हृदय में अष्टाङ्ग आयुर्वेद के विषयों का वर्णन किया गया है।

चिकित्सा कलिका—डा० आफ्रेच् महोदय ने लिखा है कि इस ग्रन्थ के लेखक तीसटाचार्य, अष्टाङ्ग संग्रह-हृदय कर्ता वाग्भट के पुत्र थे, किन्तु इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। क्योंकि मङ्गलाचरण[1] के

---

१. सूर्याश्विधन्वन्तरि-सुश्रुतादीन् भक्त्या नमस्कृत्य पितुश्चपादान्।
कृता चिकित्साकलिकेति योगैर्माला सरोजैरिव तीसटेन॥ १॥

'पितुश्च पादान्' इत्यंशं व्याकुर्वंश्चन्द्रट्यो लिखति—"तदनु आयुर्वेदाब्धि-प्रतरणपोतपात्राणां नमस्कृतिरित्यनेन क्रमेण नमस्कारं कृत्वा" इति। एवं न चायं चन्द्रटोऽपि तीसटसूनुः वाग्भटं नाम्ना निर्दिशति। तथा च चिकित्साकालिकायाम्—

हारीत-सुश्रुत-पराशर-भोज-भेल-भृग्वग्निवेश-चरकादि-चिकित्सकोक्तैः।
एभिर्गणैश्च गुणवद्भिरतिप्रसिद्धैर्धान्वन्तरीयरचना रुचिरप्रपञ्चैः॥ २॥

इति श्लोके सुप्रसिद्धभिषगाचार्याणां हारीतसुश्रुतादीनां नामानि संकीर्तयन् नासौ तीसटो वाग्भटमुल्लेखयति। चन्द्रटोऽपि पद्येऽस्मिन् विद्यमानस्य 'आदि' पदस्य व्याख्याने "आदिग्रहणात् वैतरणीरभ्र पुष्कलावत क्षारपाणि जतूकर्ण चक्षुष्येण

श्लोकों में इन्होंने अपने पिता का नामोल्लेख नहीं किया, जब कि सूर्य से लेकर चरकादि आचार्यों का नामग्राहेण उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ पर आचार्य तीसट के पुत्र श्री चन्द्रट ने टीका भी की है जिसका विवरण पं० हरिशास्त्री पराड़करजी ने अष्टाङ्ग हृदय के उपोद्घात में दिया है किन्तु जो पुस्तक श्री एन्० एस० मूस द्वारा प्रकाशित कराई गई है उसमें मूलमात्र ही मिलता है। उन्होंने एक अपील की है कि यदि किसी के पास चिकित्साकलिका पर आचार्य चन्द्रट की टीका हो तो प्रकाशनार्थ प्रदान करें। श्री चन्द्रटने भी वाग्भट के नाम का कहीं उल्लेख नहीं किया है, इसलिए डा० आफ्रेच् के मत का पोषण नहीं हो पाता है। किन्तु नामसाम्य की दृष्टि से चरक की निरन्तर पदव्याख्याकार जज्जट, काव्य-प्रकाशकार मम्मट, सुप्रसिद्ध वैयाकरण कैयट के समकालीन तीसट और चन्द्रट भी रहे होंगे।

ग्रन्थ के अन्त में एक श्लोक[1] देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुस्तक में कुल ४ सौ श्लोक हैं किन्तु वैद्यसारथी प्रेस, कोट्टम् से सन् १९५० में छपी श्री मूस द्वारा[2] सम्पादित पुस्तक में कुल ४०८ श्लोक मिलते हैं। प्रारम्भ के ९८ श्लोकों में मङ्गलाचरण के अतिरिक्त रोगों के विभिन्न प्रकार के

विदेह निमि प्रभृतयो गृह्यन्ते", इति वैतरणौरभ्रादीन् संगृह्णन्ति वाग्भट मतिचारयति।......(इति भिषगाचार्य श्री हरिशास्त्री पराड़कर वैद्यकृते अष्टाङ्ग हृदय उपोद्घाते १६ पृष्ठे)

१. चिकित्साकलिका टीकां योगरत्नसमुच्चयम्।
सुश्रुते पाठ शुद्धिञ्च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात्॥
पुण्यं यदाप्तवान् लोके चन्द्रटो भिषजां मतः।
आरोग्यं तेन गच्छन्तु सन्तः सन्मार्ग गामिनः॥

२. एषा चिकित्साकलिका सदर्थगन्धा भिषक् षट्पदवृन्द सेव्या।
निरूपिता वृत्तशतैश्चतुर्भिर्योगैः स्रगब्जैरिव तीसटेन॥ ४०७ श्लोक॥

कविराज नरेन्द्र नाथ मित्र द्वारा सम्पादित पुस्तक में ४०७ श्लोक ही हैं किन्तु साथ में चन्द्रट की टीका भी दी गई है। इसका प्रकाशन सं० १९८३ वै० में हुआ है। कविराज जी ने अधोलिखित श्लोक को देखकर इसकी बड़ी प्रशंसा की है—

चेष्टा चेतनयोस्तनौ तनुभृतां धाता तु वायुः स्मृतः,
यत्रापं परितो दधात्यविरतं देहे हि पित्तं तु तत्।
यश्चाश्लिष्य वपु; सदारसयति प्रीणाति सोऽयं,
कफश्चेत्येतैः प्रकृतिस्थितैरविरतं देहं हि सन्धार्यते॥ १७॥

विभाग, दोषों की रोगोत्पादकता, धातु-मलादि का स्वरूप, वातादि के प्रकोपक कारण तथा उनके द्वारा उत्पन्न लक्षण एवं उनकी चिकित्सा तथा चिकित्सोपयोगी योगों का वर्णन है। अन्त में इस ग्रन्थ की सूची दे दी गई है।

इसके बाद के दूसरे प्रकरण क्रमशः ज्वर, अतिसार, पक्वातिसार, ग्रहणी, अर्श, भगन्दर, शोफ, उदर, गुल्म, विद्रधि, गण्डमाला, विस्फोट, श्लीपद, वातरक्त, विसर्प, कुष्ठ, श्वित्र, प्रमेह, पाण्डु, श्वास, कास, रक्तपित्त, तृष्णा, छर्दि, हिक्का, शूल, उदावर्त, मूत्रकृच्छ्र, क्षय, कृमि एवं वातव्याधि चिकित्सा के हैं। यद्यपि ये सभी रोग कायचिकित्सा विषयक ही है तथापि कायचिकित्सा का एक स्वतन्त्र प्रकरण भी रक्खा है जिसमें कुछ विशिष्ट योगों का १७ श्लोकों में वर्णन है।

इसके बाद शालाक्यतन्त्र शुरू होता है जिसमें नेत्रचिकित्सा, नासारोग चिकित्सा, कर्णरोग, मुखरोग, तथा शिरोरोग चिकित्सा का वर्णन है। इसके बाद शल्यतन्त्र से सम्बद्ध व्रणचिकित्सा, भूतविद्या के प्रकरण की भूतोन्माद चिचित्सा, कौमारभृत्य सम्बन्धी बालचिकित्सा, अगद की विषचिकित्सा, रसायनतन्त्र और अन्त में वाजीकरण तंन्त्र का वर्णन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

नावनीतकम् (Bower manuscript)—भूर्जपत्रों पर लिखित इस ग्रन्थ समुच्चय की उपलब्धि तत्कालीन लेफ्टिनेण्ट जनरल (बाद में मेजर) यच० बावर को सन् १८९० ई० में 'कछार' नामक स्थान पर हुई। यह स्थान पूर्वी तुर्किस्तान में चीन जाने के मार्ग पर एक ओसिस के रूप में मिलता है। मेजर बावर ने एशियाटिक सोसाइटी बंगाल को इसकी उपलब्धि की दशाओं पर प्रकाश डालते हुए बताया कि "कछार में किसी मनुष्य ने उनको सूचना दी कि यहाँ पर भूगर्भ में कोई नगर है जिसमें वह खजाने की खोज में गया था तो उसे यह पुस्तक मिली है। उसने अल्प मूल्य में ही यह पुस्तक मुझे दे दी।" इस पाण्डुलिपि को मेजर बावर ने **श्री** जे० वाटरहाउस, अध्यक्ष, एशियाटिक सोसाइटी बंगाल को उद्वाचन के लिए प्रदान किया। इन्होंने इसे डा० हार्नले को सुपुर्द की। जिन्होंने इसे अप्रैल १८९१ ई० में अनूदित कराया।

इसमें ७ भाग हैं इसमें बीच-बीच में कई पृष्ठ खण्डित भी है जिस कारण उपलब्ध विषय अपूर्ण ही रहता है। इसका प्रारम्भ ॐ से होता है। लिपि वही जो उत्तर भारत में चतुर्थ शताब्दी से लेकर षष्ठ शताब्दी तक प्रचलित थी। इसे इतिहासकार गुप्तकालीन लिपि कहते हैं। इससे अनुमान होता है कि इसको लिखने वाला कोई भारतीय था जो काश्मीर देश उन दिनों तुर्किस्तान (कछार) चला गया था। जिन भूर्जपत्रों पर यह पुस्तक

लिखी गई है उनको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें वे प्रवासी अपने साथ ही काश्मीर से ले गये। इसके सभी भाग एक व्यक्ति द्वारा नहीं लिखे गये प्रतीत होते, प्रत्युत ऐसा अनुमान होता है कि इसे कम से कम ४ विद्वानों ने अलग-अलग समयों पर लिखा है। अन्तिम लेखक का नाम यशोमित्र मिलता है। सम्भव है कि उस मठ के जिसमें यह ग्रन्थ मिला था अधीश्वर रहे हैं।

ऐसा अनुमान होता है कि इसका प्रणयन चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध भाग के प्रथम चरण में हुआ होगा। चरक और सुश्रुत संहिताओं के उद्धरण इसमें मिलते हैं। प्रथम प्रकरण में तिब्बत (तिपिष्टप)[1] के आसपास में स्थित हिमालय के वर्णन से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। जहाँ की रत्नमण्डित और औषध सम्पन्न सानुओं पर आत्रेय, हारीत, पराशर, भेल, सुश्रुत आदि महर्षि सर्वदा विचरण करते रहते हैं। इन्द्रनील के समान हरिपत्र और कन्द के समान शुभ्र कन्दवाले लशुन को उखाड़ कर सुश्रुत, काशिराज के पास ले जाते हैं और यह क्या है? ऐसा प्रश्न करने पर गुरु ने बताया कि प्राचीन काल में असुरेन्द्र ने समुद्रमन्थन के बाद उत्पन्न अमृत का स्वयं पान कर लिया तो कण्ठ नाड़ी में समासक्त अमृत की अवस्था में भगवान ने उसका शिर काट डाला, अतएव बूँदे पृथ्वी पर गिर पड़ीं जिससे लशुन की उत्पत्ति हुई। यद्यपि अन्य आयुर्वेदीय ग्रन्थों तथा श्रीमद्भागवतादि के आधार पर इस कथा की सङ्गति नहीं बैठ पाती तथापि इसको गलत भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकरण में लशुन के विविध कल्पों का १३२ श्लोकों में वर्णन है। सम्भवतः इस भाग का लेखन भारत में ही किसी हिन्दू धर्मावलम्बी के द्वारा किया गया था।

दूसरे प्रकरण का नाम 'नावनीतकम्' है। इसका लेखक कोई बौद्ध 'धर्मावलम्बी' प्रतीत होता है। अतएव 'नमस्तथा गतेंभ्यः' से उन्होंने शुरू किया। इसका भी उपनिबन्धन भारत में ही हुआ और उस काल में प्रचलित चिकित्सा-योगों में से सारस्वरूप कुछ योगों को चुनकर लिखने के कारण इसका नाम

---

१. ॐ देवर्षिसिद्धगणकिन्नरयक्षनागविद्याधराध्युषितसानुरनन्तरत्नः।
पुण्यस्त्रिपिष्टपतलोद्भूत देवरम्यः··· ··· ··· ति ॥ १ ॥
यत्र त्रिलोचनजटामुकुटैकदेशनित्यस्थितोडुपतिदीधितिसंप्रयोगात्।
शीतन्दिवापि हिमवत् स्फटिकोपलाभमब्बिन्दुकान्तमणयः प्रचुरं स्रवन्ति ॥ ४ ॥
आत्रेयहारीतपराशरभेलगर्गशांब(माण्ड)व्यसुश्रुतवशिष्ठकरालकाप्याः।
सषधीर्वां रसगणाकृतिवीर्यनामजिज्ञासवः समुदिताः शतशः प्रचेरुः ॥ ८ ॥

नवनीत तुल्य "नावनीतकम्" रक्खा गया। इसमें कुछ १६ अध्याय हैं। नावनीतकम् का प्रकाशन स्वतन्त्र रूप में सन् १९२६ में लाहौर से श्री मोती लाल बनारसी दास ने कराया जिसके सम्पादक श्री सदानन्द शर्मा हैं। बावर मैनुसक्रिप्ट का प्रकाशन लाहौर के श्री मेहरचन्द्र लक्ष्मण दास ने सन् १९२५ की जनवरी में किया। जिसके सम्पादक कविराज बलवन्त सिंह मोहन हैं। नावनीतकम् के प्रथम अध्याय में चूर्ण और अरिष्टों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में रसायन घृतों तथा च्यवनप्राशादि अवलेहों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में तैलों, चतुर्थ में प्रकीर्ण योगों, पञ्चम (खण्डित) अध्याय में बस्ति-योगों, षष्ठ में रसायन योगों, सप्तम (प्रतीकमात्रावशिष्ट) अध्याय में यवागू कल्प, अष्टम अध्याय में वृष्य योगों, नवम में नेत्र रोगघ्न योगों, दशम में केश (शिर के बाल) रञ्जक योगों, ग्यारहवें में हरीत की कल्प, बारहवें में शिलाजतु कल्प, तेरहवें में चित्रक कल्प और चौदहवें अध्याय में कास्यप संहितोक्त योगों (कौमारभृत्य) का वर्णन है। इसके अन्तिम अंश तथा १५ और १६वाँ अध्याय सम्पूर्ण रूप से त्रुटित हैं।

तृतीय प्रकरण स्थान-स्थान पर त्रुटित है। इसमें रसायन योगों का वर्णन है। चतुर्थ प्रकरण शुभाशुभ शकुन विवेचक है। पञ्चम प्रकरण भी इसी प्रकार का ही प्रतीत होता है। ये तीनों ही प्रकरण किसी हिन्दू धर्मावलम्बी के द्वारा लिखे गये प्रतीत होते हैं।

षष्ठ प्रकरण महामायूरी विद्या और सप्तम प्रकरण आनन्द महामायूरी विद्या से सम्बन्धित है। इन विद्याओं की सिद्धि प्राप्त हो जाने पर मनुष्य को सुख मिलता है और कष्टकृच्छ्र आदि दुःखों से वह छूटता रहता है। ये दोनों प्रकरण पुनः किसी बौद्ध के द्वारा लिखे गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

बावर मैनुसक्रिप्ट के एक अंश 'नावनीतकम्' में चरकसंहिता के २९ योग और भेलसंहिता के १५ योगों का समावेश किया गया है। कविराज बलवन्त सिंह मोहन ने इसका रचनाकाल ईसवी सन् का द्वितीय शताब्दी माना है। इसके लिये उन्होंने ग्रन्थ में उद्धृत योगों और उसकी भाषा का अवलम्बन किया हैं। योगों को कांकायन, सुप्रभ, निमि, उशनस, बृहस्पति, अगस्त्य, धन्वन्तरि और जीवक-काश्यप के नामों से संलग्न उद्धृत करने तथा प्राकृत भाषा के प्राचुर्य का ध्यान रखकर उन्होंने ऐसा मत बनाया है। यह ठीक है कि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके कारण ग्रन्थ में च्युतसंस्कृत दोष आता है किन्तु वे लेखक या वाचक के प्रमाद भी हो सकते हैं। वाकी अन्य स्थलों की श्लोक-रचना के लालित्य को देखकर भाषा का संस्कृत और वह भी प्राञ्जल

संस्कृत होना ही अनुमीत होता है और प्राचीन पुस्तकों के समयनिर्धारण में १००-२०० वर्षों का अन्तर तो क्षम्य भी माना जा सकता है।

इस पुस्तक की अपनी विशेषता है। लशुन को राजयक्ष्मघ्न और गण्डमालानाशक बताना अभिनव चिकित्साविज्ञान के लिये भी एक प्रकार की देन सिद्ध होता है।

माधवकर—माधवनिदान के नाम से प्रसिद्ध 'रोगविनिश्चय' ग्रन्थ के रचयिता श्री माधवकर, का जन्म सातवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में बंगाल में हुआ था। इनके पिता का नाम इन्दुकर था। जिस समय इनकी उत्पत्ति और वृद्धि हुई उस समय गौड़ (बङ्गाल) में बौद्धधर्मानुयायी श्री नयपाल देव का शासनकाल था। तथापि ये किस ग्राम या नगर के निवासी थे, यह कह सकना बड़ा दुष्कर है, क्योंकि इन्होंने कहीं पर अपना परिचय नहीं दिया है। इनके ग्रन्थ का प्रचार आयुर्वेदज्ञों में बहुत हुआ है। यहाँ तक कि मूल ग्रन्थ का नाम तो गौण हो गया और ग्रन्थकर्ता के नाम से ही इसे **'माधव निदान'** कहा जाने लगा।

यह एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें चरक-सुश्रुत आदि प्राचीन आचार्यों के वचनों के साथ ही साथ वाग्भट के निर्मित श्लोकों का भी प्रचुरता से उद्धरण दिया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय अष्टाङ्ग संग्रह और हृदय का भी पठन-पाठन प्राचीन सहिता ग्रन्थों के समान ही समाहृत हो गया था। किन्तु इस ग्रन्थरत्न ने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली कि अपने से पहले के सभी साहित्य को मात कर दिया। यहाँ तक कि विदेशों में भी इसका प्रचार हो गया और आठवीं शताब्दी में खलीफा हारून उल् रशीद ने फारसी में इसका अनुवाद करवाया। बाद में जैसे-जैसे समय बीतता गया इसमें अन्यान्य विषय परिशिष्ट में जुड़ते गये। मूल रूप से विषनिदान तक का ७२ अध्यायात्मक विषय ही माधवकर द्वारा संगृहीत है।

इस ग्रन्थ रत्न पर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—प्रथम मधुकोष व्याख्या और दूसरी आतङ्कदर्पण नाम की व्याख्या जो मधुकोष का ही उपजीव्य है। मधुकोष टीका के कर्ता दो व्यक्ति हैं–प्रथम श्रीविजय रक्षित, इन्होंने अश्मरी निदान तक टीका की है। उसके बाद सम्भवतः इनका देहावसान हो गया तो इसके अधूरे कार्य को इन्हीं के शिष्य श्री कण्ठदत्त ने पूरा किया। उन्होंने प्रमेह रोग से प्रारम्भ करके विषनिदान तक टीका को समाप्त किया। नाम उसका वही मधुकोष ही रक्खा। किन्तु श्री विजयरक्षित की भाषा और व्याख्यान शेली बहुत ही प्रौढ़ है। उन्होंने स्वयं इस बात का निर्देश किया है कि "माधवनिदान की व्याख्या करने के प्रसंग में मैंने अनेक तन्त्रों और टीका

कारों के वचनों का अध्ययन करके यदि वे सुसंगत हैं, किन्तु संयोगवशात् माधवकर ने उनका संग्रह नहीं किया है, तो उनको भी उद्धृत कर रहा हूँ।"

श्री विजयरक्षित और **श्रीकण्ठदत्त** किस काल में किस स्थान पर पैदा हुए इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख न मिलने से यह केवल अनुमान का विषय रह जाता है। इन्होंने जिन आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है उनमें से एक चक्रपाणि हैं जिनका काल ग्यारहवीं शताब्दी निश्चित है अतएव ये दोनों गुरु शिष्य इनके बाद हुए। मधुकोश की ही उपजीव्य टीका 'आतङ्क दर्पण' के टीकाकार श्री वाचस्पति का काल भी निश्चित है। इनके पिता हम्मीर नरेश के राजवैद्य थे। मधुकोश टीका का निर्माण बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुआ होगा ऐसा मान लेना उचित प्रतीत होता है। गुरु शिष्य में प्रायः १०,२० वर्षों का ही अन्तर हो सकता है, इससे अधिक का नहीं हो पाता। उपाधि को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनो विद्वान बङ्गीय-वसुधा को आलंकृत किये होंगे।

किन्तु आतङ्कदर्पण के टीकाकार **श्री वाचस्पति** ने हम्मीर नरेश का जो वर्णन किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके पिता रणथम्भौर के शासक हम्मीर भूपति के राजवैद्य थे। इनका शासनकाल १२८३ से १३०१ ई० तक रहा है। अतएव आतङ्कदर्पण के निर्माण का काल तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग और चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भ काल माना जा सकता है। इन्होंने भी अपनी जन्मभूमि आदि के बारे में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, इस लिये निश्चित रूप से कुछ कह सकना बड़ा ही कठिन है। हाँ! अनुमान लगाया जा सकता है कि ये राजस्थान भूमि के निवासी होंगे।

जिस समय मधुकोश और आतङ्कदर्पण की टीकाओं का निर्माण हुआ उस समय तक आयुर्वेदीय वाङ्मय के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध रहे। इनमें से कुछ का उल्लेख तो श्री विजयरक्षित ने किया है, यथा भट्टारहरिचन्द्र, जेज्जट, गदाधर, वाप्यचन्द्र, चक्रपाणि, बकुल, ईश्वरसेन, भोज, ईशान, कार्तिक, सुकीर, सुधीर, मैत्रेय, माधव आदि। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक तन्त्र थे जिनका नाम ही न मिल सका तो उन्होंने 'तन्त्रान्तराणि' करके छोड़ दिया।

श्री माधवकर ने रत्नमाला नामक एक 'द्रव्यगुण' विषयक ग्रन्थ का भी निर्माण किया है, ऐसा उल्लेख मिलता है।

श्री वृन्द ने सिद्धयोग का निर्माण ९वीं शताब्दी में किया ऐसा विद्वानों का मत है। इस ग्रन्थ का प्रणयन गदविनिश्चय (माधव निदान) के क्रम से ही किया गया है ऐसा ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है। अतएव उस युग में जो प्रणाली

(ग्रन्थकार के नाम से ही ग्रन्थ का नाम रखना) लोक में प्रचलित थी, तदनुसार और माधव को उपजीव्य बनाकर रचना की गई थी। इस कारण से इसका नाम वृन्द-माधव भी प्रचलित हो गया। इस ग्रन्थ पर श्री कण्ठदत्त ने एक टीका लिखी है जिसका नाम 'व्याख्याकुसुमावली' है। सारी पुस्तक में अपने नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ अपने विषय का परिचय न तो ग्रन्थ-कार ने दिया है और न व्याख्याकार ने। अतएव श्री चक्रपाणिदत्त के समय से पुस्तक के प्रचार प्रसार होने में एक कल्पित समय का अनुमान लगाकर के ही इस पुस्तक के निर्माण का काल स्थिर किया गया है।

कुसुमावली व्याख्या पर नागर वंशीय विद्वान श्रीनारायण ने प्रति टीका लिखी है। ये वैद्यवर भाभल्ल के पुत्र थे। इन्होने प्रति टीका करने का कारण बताया है कि श्री कण्ठदत्त को इस बात का भय था कि कहीं ग्रन्थ का विस्तार अधिक न हो जाये। अतः उन्होने कहीं-कहीं टीका नहीं भी की। समझ लिया कि ये स्थल उतने दुर्बोध नहीं हैं। अतएव डल्लण आदि के अनेक भाष्यों को देखकर मैंने इस टीका की पूर्ति की। किन्तु इन्होंने भी अपने निवासस्थान, समय आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है।

माधव और वृन्दमाधव की परम्परा में श्री चक्रपाणिदत्त का भी समावेश होता है जिन्होंने सिद्धयोग (वृन्दमाधव) के आधार पर "चिकित्सासार-संग्रह" का निर्माण किया। इसका नाम आयुर्वेद जगत में **चक्रदत्त** के रूप में (ग्रन्थकर्ता के नाम पर) प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ पर **'रत्नप्रभा'** नाम की कोई टीका थी जो बहुत विस्तृत और क्लिष्ट थी। अतएव उसे संक्षिप्त और सुबोध करके तथा अन्य व्याख्यानों को इसमें मिलाकर मालञ्चिका ग्राम निवासी श्रीमान् अनन्तसेन के पुत्र श्री शिवदास सेन ने 'तत्त्वचन्द्रिका' नाम की टीका लिखी। यह टीका भी उत्तम है। इसके बाद तो हिन्दी तथा बंगला आदि में भी इस ग्रन्थ पर टीकायें हुईं और इस (चक्रदत्त) ग्रन्थ का चिकित्सा ग्रन्थ के रूप में उसी प्रकार प्रभूत प्रचार हुआ, जिस प्रकार माधवनिदान का निदान बोधक ग्रन्थ के रूप में प्रचार है। वास्तव में माधव-निदान[1] और चक्र-दत्त की ही जोड़ी मिली और वृन्दमाधव[2] तो इससे अलग होकर उतना अधिक ख्याति न प्राप्त कर सका।

---

१. माधवनिदान अनेक स्थलों से अनेक रूपों में प्रकाशित हुआ है किन्तु 'मधुकोश' और 'आतङ्कदर्पण' दोनों ही व्याख्याओं से युक्त सं० १९८४ वि० में खेमराज श्री कृष्ण दास के द्वारा श्री वेङ्कटेश्वर सटीम प्रेस में मुद्रित है।

२. वृन्दमाधव—श्रीकण्ठदत्त की व्याख्या सहित 'आनन्दाश्रम पूना से सन् १९४३ में छपा है।

माधवनिदान-वृन्दमाधव और चक्रदत्त[1] का संक्षिप्त पर्यालोचन—माधव निदान में विशिष्ट ज्वरादि रोगों के निदान-पूर्णरूपादि के विवेचन से पूर्व 'पञ्चनिदान लक्षण' नामक प्रथम अध्याय में निदानादि का शाब्दिक और लाक्षणिक विवेचन किया गया है। इसके बाद दूसरे अध्याय में 'ज्वरनिदान' का संग्रह किया गया है। वृन्द और चक्रदत्त ने सीधे-सीधे ज्वरचिकित्सा से प्रारम्भ किया है। वृन्द में रोग और दोष आदि का थोड़ा विवेचन है किन्तु चक्रदत्त ने उसे भी छोड़ दिया है और प्राथमिक चिकित्सा अर्थात् लंघन से प्रारम्भ किया है। इसके बाद पेया, पानीय तथा कषाय पान आदि अन्य आवस्थिक चिकित्साओं का दोनों में वर्णन है। अन्तर केवल इतना ही है कि जो बातें वृन्द में विस्तार से कही गयी हैं उन्हें ही चक्रदत्त में संक्षेप किया गया है। उपयोगी श्लोक दोनों में एक से ही हैं। औषधियोगों को वृन्द से चक्रदत्त में तो उद्धृत किया ही गया है किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से योगों को ग्रन्थान्तरों से लिया गया है। जिनका उल्लेख वृन्द में नहीं मिलता।

ज्वर के बाद माधव ने अतिसार के निदानादि का विवेचन किया और ज्वरातिसार के लिये यही निर्देश किया कि इस व्याधि के निदान, लक्षण दोनों ज्वर और अतिसार व्याधियों के मिश्रित लक्षण समुच्चय से मिलते-जुलते होंगे किन्तु वृन्द और चक्रदत्त दोनों में ही इस रोग की चिकित्सा के लिये एक पृथक् अध्याय मिलता है। इसके पश्चात् अतिसार, ग्रहणी आदि रोगों की माधवोक्त क्रम से ही चिकित्सा निर्दिष्ट की गई है। यह क्रम विषचिकित्सा (६८ अध्यायों) तक माधवनिदान के अनुरूप चलता है। उसके बाद इन दो चिकित्सा ग्रन्थों में रसायन, वाजीकरण, स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, बस्तिविधि, निरूह, धूमविधि, नस्य, (चक्रदत्त में नस्य के उपरान्त धूमविधि का अधिकार है) कवल (गण्डूष, आश्च्योतनाञ्जन, तर्पण, पुटपाक चक्रदत्त में सिराव्यध, अधिक) अरिष्ट (केवल वृक में) और स्वस्थाधिकार है।

इन ग्रन्थों के आलोचन से एक विशेष बात यह प्रतीत होती है कि रस योगों का अब तक उतना प्रचार नहीं हो पाया था, इसीलिये इनमें चूर्ण, क्वाथ, घृत, तैल आदि का ही वर्णन मिलता है और तत्तद् व्याधियों में इन्हीं के प्रयोग का विधान बताया गया है।

प्रोफेसर विल्सन के मतानुसार अरब देश के मुसलमानों के आठवीं शताब्दी में (सन् ७७३ ई०) के लगभग आयुर्वेदीय ग्रन्थों विशेषतः चरक, सुश्रुत और

---

१. चक्रदत्त—श्री शिवदाससेन की व्याख्या युक्त श्री मेहरचन्द लक्ष्मणदास द्वारा भारद्वाज मुद्रणालय में सन् १९२२ में मुद्रित हुआ है।

माधवनिदान का उन अनुवादों के आधार पर अध्ययन प्रारम्भ किया जो इससे बहुत समय पूर्व ही पूर्ण किये जा चुके थे।

माधवनिदान का कविराज रसिकलाल गुप्त ने अंग्रेजी में अनुवाद किया है। जिसका सन् १८९२ ई० में कलकत्ता से प्रकाशन हुआ है। इससे ऊपर अंग्रेजी अनुवाद और नीचे संस्कृत के श्लोक दिये गये हैं। इन्होंने यह दावा किया है कि इसमें विजयरक्षित और श्री कण्ठदत्त की अपेक्षा अधिक सामग्री निहित की गई है।

शार्ङ्गधर संहिता—इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य शार्ङ्गधर[1] हैं, यह बोध ग्रन्थारम्भ के द्वितीय श्लोक और पुस्तक के अन्तिम से पहले वाले श्लोक से हो जाता है किन्तु इनका विशेष परिचय सम्पूर्ण ग्रन्थ से भी कुछ मिल नहीं पाता। कुछ संस्करणों में अध्यायान्त प्रतीकों[2] से ऐसा भास होता है कि इनके पिता श्री दामोदर थे। इसी आधार पर शार्ङ्गधर पद्धति[3] (सुभाषित ग्रन्थ) और शार्ङ्गधर संहिता के कर्ता को कुछ विद्वान् एक ही मानते हैं क्योंकि वहाँ पर भी पिता का नाम दामोदर ही लिखा गया है। यदि इन्हें एक मान लें तो ऐसा सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ की रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई होगी। इनके पितामह पण्डितप्रवर श्री राघव देव, शाकम्भरी के शासक

---

१. प्रसिद्धयोगा मुनिभिः प्रयुक्ताश्चिकित्सकैर्ये बहुशोऽनुभूताः।
विधीयये शार्ङ्गधरेण तेषां सुसंग्रहः सज्जनरञ्जनाय ॥ २ ॥
विविधगदार्तिदारिद्रनाशनं या हरिरमणीव करोति योगरत्नैः।
विलसतु शार्ङ्गधरस्य संहिता सा कविहृदयेषु सरोजनिर्मलेषु ॥ २५९९ ॥

२. इति श्री दामोदरसूनुना श्री शार्ङ्गधरेण विरचितायां श्री शार्ङ्गधरसंहितायां

३. पुरा शाकाम्भरीदेशे श्रीमान् हम्मीरभूपतिः।
चाहुबाणान्वये जातः ख्यातः शौर्ये इवार्जुनः ॥
तस्याभवत् सभ्यजनेषु मुख्यः परोपकारव्यसनैकनिष्ठः।
पुरन्दरस्येव गुरुर्गरीयान् द्विजाग्रणी राघवदेवनामा ॥
गोपाल-दामोदर-देवदाससंज्ञा बभूवुस्तनयास्तदीयाः।
नेत्रावतारा इव चन्द्रमौलेरपाकृतध्वान्तगणास्त्रयोऽपि ॥
तेषां मध्ये यस्तु दामोदरोऽभूदुत्पाद्य श्रीनात्मजान् वीतरागः।
भागीरथ्यां शुद्धदेहं विधाय ज्ञानादात्मन्येव निष्ठां जागम ॥
ज्येष्ठः शार्ङ्गधरस्तेषां लघुर्लक्ष्मीधरस्ततः।
कृष्णोऽनुजस्ततस्तेषां त्रयस्त्रेताग्नितेजसः ॥

चाहु बाणवंशावतंस श्री हम्मीर नरेश के राजदरबार में रहते थे। इन पण्डितराज के मध्य पुत्र श्री दामोदर थे और उनके ज्येष्ठ पुत्र आचार्य शाङ्गंधर हुए।

इस संहिता का निर्माण ३ खण्डों में हुआ है—प्रथम खण्ड, मध्यम खण्ड और उत्तर खण्ड। प्रथम खण्ड में ७ अध्याय हैं, मध्यम खण्ड में १२ और उत्तर खण्ड में १३ अध्याय हैं। ग्रन्थकार ने प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में स्वयमेव ग्रन्थानुक्रमणिका ७ श्लोकों (७-१३ के बीच) में दी है। उसमें बताया गया है कि इसमें कुल ३२ अध्याय और २६०० श्लोक[1] हैं। सभी अध्यायों के नाम भी गिना दिये हैं।

प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय का नाम 'परिभाषाध्याय' है। इसमें मानपरिभाषा, मागधमान की श्रेष्ठता, योगों में किस प्रकार के द्रव्य लें इसका निर्देश, और औषधसंग्रह की विधि बताई गई है। द्वितीय अध्याय का नाम 'भैषज्याख्यानक' है। इसमें औषधिभक्षण के ५ काल, रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव, विवेचन, ऋतुओं के अनुसार दोषों का सञ्चय, प्रकोप, प्रश्न वर्णन आदि हैं। तृतीय अध्याय का नाम 'नाड़ीपरीक्षादिविधि' है। इसमें दोषप्रकोपानुसार तथा रोगानुसार नाड़ी का स्वरूप, दूत-स्वप्नादि के द्वारा साध्यासाध्यता का विचार और शुभाशुभ स्वप्नों का उल्लेख है। चौथे अध्याय में दीपन, पाचन, शमन, अनुलोमन, स्रंशन, भेदन, रेचन, वमन आदि संज्ञाओं को परिभाषा और उन कर्म को करने वाले द्रव्यों का उल्लेख है। पाँचवें अध्याय का नाम 'कलादिक आख्यान' है, इसमें कलाओं, आशयों, धातु, मल, उपधातु, त्वचा, दोष, स्नायु, सन्धि, अस्थि, मर्म, सिरा, धमनी, पेशी, कण्डरा, रन्ध्र, फुफ्फुस, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, वृषण, हृदयादि शारीरभावों पर विचार किया गया है। श्वासोच्छ्वास प्रकिया[2] का सर्वप्रथम स्पष्ट वर्णन इसी अध्याय में मिलता है।

"प्राणवायु नाभि में स्थित होता है। वहाँ से वह हृदयकमल के आभ्यन्तर भाग का स्पर्श करके विष्णुपदामृत का पान करने के लिये कण्ठ से बाहर आता है। अम्बर पीयूष का पानकर पुनः वेग से शरीर में प्रवेश करके शरीर का प्रीणन करता है और जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है।"

---

१. द्वात्रिंशत् सम्मिताध्यायैर्युक्तेयं संहिता स्मृता।
षड्विंशति शतान्यत्र श्लोकानां गणितानि च॥ प्र० १ अ०।१३

२. नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ ४५॥
पीत्वाचाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्॥ ४६॥ (शा० प्र० ५ अ०)

इसमें शरीर और प्राण के संयोग को आयु और उनके वियोग को मृत्यु बताया गया है। दोष, धातु, मल जब समावस्था में रहते हैं तो मनुष्य स्वस्थ रहता है और उनके विषम होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। सृष्ट्युत्पत्ति क्रम सुश्रुत के मतानुसार ही वर्णित है। छठवें अध्याय का नाम 'आहारादि गति' है, इसमें आहार परिपाक और धातुओं का उत्पादक्रम, मलों का विसर्जन, गर्भोत्पत्ति, बालक के लिये औषध की मात्रा, प्रकृतियों के लक्षण और निद्रा आदि का वर्णन है। सातवाँ अध्याय रोगों की गणना का है, इसमें लगभग ३३० रोगों का उल्लेख किया गया है।

मध्यम खण्ड के प्रथम अध्याय में स्वरस निकालने की विधि, शुष्क द्रव्य हो तो उनसे स्वरस निकालने का अनुकल्प, उसकी मात्रा, प्रक्षेप द्रव्यों का प्रमाण और विभिन्न रोगों में प्रयुक्त किये जाने वाले विभिन्न स्वरसों का उल्लेख है। कुछ रोगों के लिये पुटपाक विधि से स्वरस निकालने का विधान बताया गया है। द्वितीय अध्याय में क्वाथ बनाने की विधि, पीने का विधान, प्रक्षेप परिभाषा, और विभिन्न रोगों पर प्रयुक्त होनेवाले क्वाथों का वर्णन है। इसी प्रसंग में प्रमथ्या, यवागू, चूष, षडंगपानीय, उष्णोदक, क्षीरपाक, अन्नसाधन आदि का विधान भी बताया गया है। तीसरे अध्याय में फाण्ट बनाने की विधि और विविध रोगहर ३ फाण्ट, मन्थ बनाने की विधि तथा ३ मन्थों का रोगहरत्व की दृष्टि से निर्देश किया गया है। चौथे अध्याय में हिमकल्पना और विविध रोगघ्न हिमों का वर्णन है। पञ्चम अध्याय में कल्ककल्पना और विविध रोगों में प्रयुक्त करने के लिये कतिपय कल्कों का उल्लेख किया गया है। छठवें अध्याय में चूर्ण बनाने की विधि, उसमें प्रक्षेप का प्रमाण, अनुपान, चूर्ण में भावना देने की विधि और विविध चूर्णों का रोगहरत्व की दृष्टि से वर्णन किया गया है। सातवें अध्याय में गुटिका बनाने की विधि, उसके निर्माण में डाले जाने वाले मिश्री, गुड़ आदि द्रव्यों का प्रमाण और विविध गुटिका और मोदकों का व्याधिहरत्व के दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है। आठवें अध्याय में अवलेह बनाने की विधि और उसकी, मात्रा, प्रक्षेप द्रव्यों का प्रमाण, अवलेह सिद्ध हो गया है कि नहीं इसके जानने की रीति, अनुपान तथा विशिष्ट अवलेहों (योगों) का उल्लेख किया गया है। नवे अध्याय में घृततैल पाक विधि, द्रव्यों के मृदु-मध्य-काठिन्य के अनुसार क्वाथ बनाने के लिये प्रयुक्त जल की मात्रा, क्वाथ द्रव्य की मात्रा के अनुसार क्वथन करने के लिये जल का प्रमाण, तथा विविध प्रकार के स्नेह पाक विधानों का वर्णन है। स्नेह सिद्ध हो गया है कि नहीं, इसका लक्षण, स्नेहपाक के भेद, तथा विविध प्रकार के तैलें और घृत योगों का रोगानुसार

वर्णन किया गया है। दशवें अध्याय में आसवारिष्ट बनाने की रीति और उनके विविध योगों का उल्लेख किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में सुवर्ण आदि सातों धातुओं के मारण-शोधन आदि का विवरण दिया गया है। बारहवें अध्याय में पारद-गन्धक आदि के शोधन-मारण तथा विविध रस योगों का वर्णन किया गया है।

उत्तर खण्ड पञ्च कर्म से सम्बन्धित है। प्रथम अध्याय में स्नेहपान विधि का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में स्वेदन के विविध प्रकार स्वेद विधि का वर्णन है। तीसरे अध्याय में वमन कराने, चौथे में विरेचन कराने, पाँचवें में बस्ति-कर्म, छठवें में निरूहबस्ति, सातवें में उत्तरबस्ति, आठवें में नस्यकर्म, नवें में धूमपान, दशवें में गण्डूष-कवल और प्रतिसारण, ग्यारहवें में लेप विधि, शिरोबस्ति, कर्णपूरण, बारहवें में शोणितमोक्षण, और तेरहवें अध्याय में नेत्र रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

१. शाङ्र्गधर की टीकायें:[१] श्री आठमल्लकृत दीपीका टीका—यह टीका

---

१. हस्तीकान्तपुरी पुरा पुरजिता काशीव विद्वज्जनैर्व्याप्ता,
यत्र सरः सरिद् गुणवरा चर्मण्वती पापहा।
यस्य हृद्गतवासुदेवचरणद्वन्द्वाम्बुजः क्ष्मापतिः,
ख्यातो धर्म इवास्ति धर्मगतिषु श्री जैत्रसिंहः प्रभुः॥ ८॥
तस्यां शार्ङ्गधरोक्तानां योगानां च प्रकाशिनी।
क्रियते साऽऽढमल्लेन संहितायाः प्रदीपिका॥ ९॥
श्रीवास्तव्यकुलप्रकाशमणयो ये पूर्वजा विश्रुताः,
श्री हम्मीरपुरे महाजनतने येषां स्थितिः कथ्यते।
ये कामं मदविह्वलामिव रवैः क्षीराब्धिपारं गताम-
त्याश्चर्यसुचन्द्रकान्तिविततां प्रख्यातकीर्ति गता॥ ४॥
तदन्वये किं बहुना प्रसिद्धः श्रीचक्रपाणि कुलकैरवेन्द्रः।
नानागुणालीयमभूच्च यस्य समस्तवेद्योद्घटनादि रूपा॥ ५॥
तस्य बुद्धिसुभगस्य तनूजो भावसिंह इति भूपतिमान्यः।
सुश्रुतादिकरहस्य विधिज्ञो यो यशांसि विपुलानि च लेभे॥ ६॥
तस्यात्मजो दीर्घमतिः प्रहृष्टो नाम्नाऽऽढमल्लोऽल्पनिबन्धदर्शी।
तेन स्वगुर्वचंनतत्परेण विधास्यते शार्ङ्गधरप्रकाशः॥ ७॥
इति श्रीवास्तव्यान्वयप्रकाशवैद्यश्रीभावसिंहात्मजेनाढमल्लेन विरचितायां शार्ङ्गधर दीपिकायां—
एकादश सहस्राणि तथा × × ×।
शकानामाढमल्लो हि पञ्जिकायां विनिर्ममे॥

संस्कृत में है। इसका निर्माण चर्मण्वती नदी के किनारे पर स्थित और श्री जैत्रसिंह द्वारा शासित 'हस्तीकान्तपुरी' में आचार्य आठमल्ल श्रीवास्तव ने किया। इनके पूर्वज महाराज हम्मीर के राज्य में निवास करते थे। इनके पिता का नाम श्री भाव सिंह था जो सुश्रुतसंहिता के उद्भट विद्वान् थे। पितामह का नाम श्री चक्रपाणि था। जो बड़े मर्मज्ञ वैद्य थे। काल का ठीक से निश्चिय नहीं हो पाता क्योंकि पद्य त्रुटित है तथापि ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

२. **वैद्य काशीराम कृत 'गूढार्थदीपिका'**[1]—यह टीका भी संस्कृत में ही लिखी गई है। इसको शाहसलेम के राज्यकाल में सूर्य के कन्याराशि में स्थति होने पर पूरा किया गया। आज कल इस स्थान का नाम सलेमाबाद है। सलेमशाह ने सन् १५५७ ई० के लगभग दिल्ली पर शासन किया था। इन्हीं के पिता शेरशाह थे जिन्होंने इतिहास प्रसिद्ध ग्रॅन्डट्रंक रोड का निर्माण कराया। इस प्रकार यद्यपि वैद्य काशीराम के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं हो पाता किन्तु सलेमशाह के सम्बन्ध से इनके ऊपर कुछ प्रकाश पड़ जाता है।

३. **तीसरी टीका 'आयुर्वेद-दीपिका'**—के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें और आढमल्ल की टीका के अत्यन्त साम्य है। यह अपूर्ण रूप में हो उपलब्ध है। इसके कर्ता श्री रुद्र भट्ट हैं जो वैद्य कोनेरी भट्ट के पुत्र हैं।

४. **तत्त्वदीपिकाख्या हिन्दी टीका**—इसके कर्ता पं० दुर्गादत्त शास्त्री, काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेदाचार्य और राम लक्ष्मीनारायण मरवाड़ी हिन्दू अस्पताल, काशी के आयुर्वेद विभाक के प्रधान चिकित्सक हैं। इसका प्रकाशन सन् १९४९ में हुआ है।

वङ्गसेन—अन्य प्राचीन ग्रन्थों के ही समान इस ग्रन्थ के भी विषय में ठीक से यह बता सकना कठिन है कि इसका निर्माण कब हुआ। जिस स्थान के

---

१. श्रीमत् शाहसलेमस्य राज्ये कन्यागते रवौ।
× × × ॥ १ ॥

काशीरामभिषग्वरो मधुकरः श्रीकृष्णपादाब्जयोः।
प्राचां ग्रन्थकृतां निबन्धकुसुमादाहृत्य माध्वीमिव ॥

वैद्यानामुपकारकृत्तनुभृतां रोगप्रहारे क्षमा,
स श्री गार्ङ्गधरप्रबन्धविषदव्याख्यामकार्षीत् स्वयम् ॥ २ ॥

निवासी ये ग्रन्थकार (आचार्य वङ्गसेन) थे उसका उल्लेख उन्होंने 'कान्तिकावास'[1] नाम से किया है किन्तु वर्तमान काल में यह स्थान कहाँ है यह अनुमान लगा सकना भी क्लिष्ट कार्य है। इनकी उपाधि (सेन शब्द) को देखकर कविराज गणनाथ सेन ने इन्हें बङ्गाल प्रान्तीय बताया है। इनका काल भावप्रकाश से पूर्व और शार्ङ्गधर के पश्चात् होना, उन्हो ने ही निश्चित किया है किन्तु इस ग्रन्थ के अन्त में जो चार श्लोक[2] ग्रन्थकार की प्रशस्ति परिचायक मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि इनका जन्म कलियुग के प्रारम्भ में ही श्री गदाधर जी के यहाँ हुआ और उसी समय में इस वङ्गसेनसंहिता का निर्माण अपने अवतार को स्थापित करने के लिए इन्होने किया। इसके पहले इस संहिता का नाम 'अगस्ति संहिता' था। अस्तु, इस प्रकार की संशयापन्नावस्था में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता कि वस्तुस्थिति क्या है।

इस ग्रन्थ में भी रोगी के क्रम बैठाने में प्रायः माधव निधान का ही अनुसरण किया गया है। प्रथम निदानाधिकार में पञ्चनिदानों का विवेचन, रोगी की परीक्षा, ऋतुओं के अनुसार पेयजल की व्यवस्था, प्रकृति वर्णन, देश भेद चतुष्पात् सम्पत्ति, और मानपरिभाषा का वर्णन है। अन्त में रोगों की गणना बताई गई है जिसमें ज्वर से लेकर विष रोग तक (७२ रोगों का) उल्लेख है।

---

१. कान्तिकावासनिर्जात श्री गदाधरसूनुना।
क्रियते वङ्गसेनेन चिकित्सासारसंग्रहः ॥ ४ ॥
हृदि तिष्ठति यस्यैष चिकित्सातत्त्वसङ्ग्रहः।
स निदानचिकित्सायां न दरिद्रात्यसौ भिषक् ॥ ५ ॥ (निदानाधिकारे)

२. श्रीकृष्णः पृथिवीं निजांघ्रिकमलाऽरोगीकृतां हा यदा,
त्यक्त्वा धामनिजं गतस्तत इयं मह्याल्पकालान्तरे।
जाता रोगवती पुनर्भयकरी दृष्ट्वा तदा तामहं,
लब्ध्वैवाशुजनिं गदाधरगृहे चक्रे च नीरोगिकाम् ॥ १ ॥
भूमावागमनञ्च सुभिषजो ज्ञास्यन्ति सर्वे कथ-
मित्येवं सुविचार्य्य वै क्षितितले स्त्रीयामिमां संहिताम्।
लोकानां हितकाम्यया स्वयशसे सुस्थापयित्वा ततो
वैद्यानां प्रभुता करीञ्च गमनं याम्याश्रमं मे कृतम् ॥ २ ॥
अगस्तिसंहितेयं प्राक् ख्याता मज्जन्मतस्ततः।
गदाधरगृहे जन्म लब्ध्वा मे संस्कृता पुनः ॥ ३ ॥
बङ्गसेन इति नाम्ना विख्यातस्तदनन्तरम्।
ग्रन्थोऽयं सर्वसिद्धान्तसारः शीघ्रफलप्रदः ॥ ४ ॥

आगे के एक-एक रोगों का अधिकार बनाकर उनके निदान-सम्प्राप्ति-पूर्वरूप रूप और चिकित्सा आदि का विशद वर्णन किया गया है। यह सब कुछ सङ्ग्रह मात्र ही है इसमें मौलिकता कुछ भी नहीं है। इसीलिए ग्रन्थान्तिम श्लोकों के ऊपर विश्वास नहीं जमता।

विषरोगाधिकार के आगे ग्रन्थोक्त क्रमानुसार इस संहिता को पूर्ण हो जाना चाहिए था किन्तु उपलब्ध पुस्तक में जलदोषादि योगाधिकार है इसमें जलदोष को दूर करने के कतिपय रोगों के वर्णन के अतिरिक्त वशीकरण, वन्ध्याकरण, निद्रानयन, आदि योगों का वर्णन है। इसके बाद रसायनाधिकार, वाजीकरणाधिकार, स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्तिकर्म, धूमपान, नस्य, और स्वस्थवृत्ताधिकारों का वर्णन है।

द्रव्यगुणाधिकार में रसों के वर्णन के पश्चात् कुष्ठ, तगर, असगन्ध, देवदारु, बल्म, बिल्व और एरण्डमूल, पृश्निपर्णी, कपूर कचरी, लालचन्दन, सुगन्धवाला, शुण्ठी, मोथा, पिप्पली, कुटुकी, मरिच, नागरमोथा, अतिविषा, गुडूची, चिरायता, नीम्ब और खदिर-अडूसा, खस, हरीतकी,अर्जुन, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, पिप्पलीमूल, कर्पूर, जायफल और लवंग, केसर, आर्द्रक, जीरा, हरी धनिया, शुष्क धनिया, जम्बीरी नीबू आदि का १-१ श्लोक में वर्णन है। गणपाठाधिकार में सुश्रुत के अनुसार एक से कार्य करनेवाली औषधों का एक गण बनाकर लगभग ४० गणों का वर्णन किया गया है। संशोधन-संशमन रस द्रव्यादि अधिकार में पत्र-फल मूल आदि ग्रहणीय अङ्गों के अनुसार चरक के आधार पर पञ्चकर्म में प्रयुक्त औषधियों का वर्णन है। इसके बाद ऋतुचर्याधिकार, धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाक-फलवर्ग, व्यञ्ज-मांसव्यञ्जन, मत्स्यव्यञ्जन, और द्रवद्रव्याधिकार है।

अन्त में अरिष्ट (साध्यासाध्यताख्यापक) और दीपन पाचन द्रव्य लक्षणाधिकार है। इसी के बाद वङ्गसेनोत्पत्ति का वर्णन है।

इस ग्रन्थ का मूल नाम चिकित्सा सारसंग्रह है। इसी नाम से पं० जीवानन्द भट्टाचार्य ने कलकत्ता नगरस्थ सिद्धेश्वर यन्त्रालय में सन् १८९३ ई० में प्रकाशित कराया। अधिकतर इसका प्रचार वङ्गसेन (ग्रन्थकर्ता) के ही नाम से हुआ। इसी (वङ्गसेन) नाम से लाला शालिग्राम जी की हिन्दी टीका से विभूषित यह ग्रन्थ संवत् १९८१ (शाके १८४६) में खेमराज श्री कृष्णदास जी के व्यंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

भैषज्य रत्नावली—इस चिकित्सा ग्रन्थ के संग्रहकर्ता आचार्य गोविन्ददास हैं। प्रारम्भ में इन्होंने जो संग्रह किया उसमें समय-समय पर परिवर्धन होता

गया और आज भी ग्रन्थ का जो रूप हमारे सामने है वह अपने मौलिक स्वरूप से अनेक अंशों में भिन्न है। उपयोगिता के कारण इसका चिकित्सा जगत में बड़ा आदर है, यही वजह है कि अनेक विद्वान् वैद्यों ने इस पर टीका का निर्माण किया। इसमें संक्षेप में रोगों का निदान और लक्षण भी दे दिया गया है। साथ ही काष्ठौषधियों और रसौषधियों दोनों का चिकित्सा में सन्निवेश किया गया है।

भैषज्यरत्नावली का सर्वप्रथम प्रकाशन विक्रम संवत् १९३४ में ज्ञान-रत्नाकर यन्त्रालय, ८ नीमतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता में हुआ। इसके बाद अन्य मुद्रणालयों ने भी सटीक या मूलरूप में प्रकाशन शुरू किया। इसके परिणाम स्वरूप आज हमारे सामने इसमें अनेक पाठान्तर भी उपलब्ध होने लगे हैं।

भै० टीकायें—

१. कविराज नरेन्द्र नाथ शास्त्री की संस्कृत टीका—इसका नाम 'रत्नोज्वला' है। वाराणसी से सं० १९८७ में इसका प्रकाशन हुआ।
२. आयुर्वेदाचार्य श्री जयदेव विद्यालङ्कार की 'चन्द्रप्रभा' नामक हिन्दी टीका।
३. काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष कविराज पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री सम्पादित, 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका।

गदनिग्रह—इस ग्रन्थ के कर्ता सोढल[1] वैद्य नन्दन के पुत्र हैं। ये गुर्जर देशीय रायकवाल ब्राह्मण थे जिनका गोत्र वत्स होता है। ये किस समय में उत्पन्न हुए यह निश्चित रूप से बता सकने के लिए जो प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है उसमें वि० सं० १२५६ का महाराज भीमदेव द्वितीय का ताम्रपत्र है। उसमें लिखा है कि यह दान रायकवाल जाति के ब्राह्मण ज्योतिषी सोढल के पुत्र को दिया जा रहा है। अपने को ज्योतिषी[2] होने का उल्लेख स्वयं सोढल ने ही स्वकीय निघण्टु में किया है। इस सबसे यही निश्चित होता है कि ये बारहवीं शताब्दी ईसवी में गुजरात प्रान्त में हुए। इनके गुरु का नाम श्री संघ दयालु था। गदनिग्रह के अतिरिक्त इन्होंने गुण-संग्रहापरपर्याय 'सोढल निघण्टु'

---

१. वत्सगोत्रान्वयस्तत्र वैद्य नन्दननन्दनः।
शिष्यः संघदयालोश्च रायकवालवंशजः॥ १॥
सोढलाख्यो भिषक् भानुपादपङ्कजषट्पदः।
चकारेमां चिकित्सायां समग्रं गुणसंग्रहम्॥ २॥

२. ज्योतिषी सोढलकृता द्रव्यावली समाप्ता।

की भी रचना की। इसमें धन्वन्तरि निघण्टु राजनिघण्टु, आदि में अनुक्त किन्तु गुजरात प्रान्त में विशेष रूप से प्रचलित १०० द्रव्यों का अधिक वर्णन है।

गदनिग्रह[१] में दस खण्ड हैं—प्रयोग खण्ड, कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्य तन्त्र, भूततन्त्र, बालतन्त्र, विषतन्त्र, रसायन, वाजीकरण और पञ्चकर्माधिकार।

प्रथम प्रयोग खण्ड में ६ अधिकार हैं—घृत, तैल, चूर्ण, गुटी, लेह और आसवाधिकार। इसमें लगभग ५८५ योगों का वर्णन है जो सद्यःफलप्रद और अतीव चिकित्सोपयोगी हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि इसमें विविध मुनियों के द्वारा बताये हुए श्लोकों को उपनिबद्ध किया गया है।

द्वितीय खण्ड में कायचिकित्सा प्रारम्भ होती है रागों के निदान लक्षण सम्प्राप्ति आदि के वर्णन में माधवनिदान का अनुसरण पूर्णरूपेण किया गया है। ज्वर लक्षणों के कथनोपरान्त चिकित्सा का वर्णन प्रारम्भ करते हुए पुनः मङ्गलाचरण[२] किया गया है। उसके कुछ स्वकीय निर्मित और कुछ तत्काल उपलब्ध ग्रन्थों से उपलब्ध विषय को लेकर लगभग ६५२ श्लोकों में ज्वर चिकित्सा का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में भी रस योगों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता इससे यही सिद्ध होता है कि अब तक रसशास्त्र का उतना बहुत प्रचार नहीं हो पाया था। इस खण्ड में कुल ४१ अधिकार हैं। अन्तिम (४१वाँ) मसूरिकाधिकार है।

तृतीय खण्ड शालाक्यतन्त्र का है। इसमें कुल ५ अधिकार हैं जिनमें क्रमशः शिरोरोग, कर्णरोग, नेत्ररोग, नासा रोग और मुखरोग के निदान-चिकित्सा का वर्णन है। चतुर्थ खण्ड 'शल्य-तन्त्रात्मक है। इसमें १० अधिकार हैं जिसमें ग्रन्थ्यपची, गलण्ड, श्लीपद, व्रणशोथ, सद्योव्रण, भग्न, नाडी व्रण, भगन्दर, उपदंश, शूकदोष और क्षुद्र रोगों का वर्णन है।

पञ्चम भूतविद्यातन्त्र में भूतोन्माद, उन्माद और अपस्मार ये तीन

---

१. करकिशलयसङ्गी यस्य पीयूषकुम्भः परममरवधूनां भूयसे मङ्गलाय।
स खलु निखिलदुग्धाम्भोधि रत्नेषु रत्नं हरतु दुरितराशीनाशु धन्वन्तरिर्वः ॥१॥
त्रिभुवनजनरोडाग्रामसग्रामजेताऽमृतभृतघृतकुम्भोद्गीर्णं-हस्तायुधश्रीः।
अमरमथितदुग्धाम्भोधिलब्धोदयोऽसौ दलयतु दुरितौघानाद्यवैद्याधिपो वः ॥२॥
नानामुनिकृतैः श्लोकैः शोढलेनाल्पबुद्धिना।
विबुधप्रतिबोधाय ग्रथ्यते गदनिग्रहः ॥ ३ ॥

२. अनञ्जनं शान्तमुदात्तमद्भुतं पुरःस्फुरद् विश्वपदार्थसार्थभृत्।
स्तुवे तदेवेदमहं तमोपहं सदा चिदानन्दमयं महन्महः ॥११९ (ज्वराधिकारे) ॥

अधिकार हैं। षष्ठ खण्ड में कौमारतन्त्र है, इसी में स्त्रीरोग का पहले और बालरोग का बाद में वर्णन किया गया है। इसमें कुल १२ अधिकार हैं जिनमें प्रदर-योनिरोग-गर्भस्राव, मूढगर्भ, बन्ध्यात्व, योनि-शुक्रदोष, सूतिका रोग, स्तनरोग, योनिगाढीकरण, योनिनिर्लोमीकरण, बालरोग और बालग्रहाधिकार का वर्णन है। सातवाँ खण्ड विषतन्त्र है, इसमें स्थावरविष, जङ्गमविष, सर्पविष, लूता, वृश्चिक, मूषिक विष, नख-दन्तविष, गरविष तथा समस्तविष-चिकित्साधिकार है। आठवाँ रसायन तन्त्र है, इसमें सामान्यरसायनाधिकार, औषधिकल्पाध्याय, भेषजकल्पाधिकार, दिनचर्याधिकार और ऋतुचर्याधिकार है। वाजीकरण तन्त्र नामक नवम खण्ड है। दशम खण्ड पञ्चकर्माधिकार है जिसमें स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन और नस्य ये ५ अधिकार हैं।

योगरत्नाकर—यह पुस्तक मुद्रित रूप में उपलब्ध होती है और बहुत ही उपादेय है किन्तु सारे ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता का नाम कहीं नहीं मिला और न यही प्रतीत होता है कि किस काल में इसकी रचना हुई। इसकी एक हस्तलिखित प्रति शक संवत् १६६८ (१७४६ ई०) की लिखी हुई प्राप्त होती है। इससे इस बात का अनुमान होता है कि मूलग्रन्थ का निर्माण इससे भी पहले का हुआ होगा। श्री पी० के० गोडे के मतानुसार इसका निर्माण सन् १६५० और १७२५ के बीच के काल में हुआ होगा। इसका मुद्रण कई स्थलों से हुआ है और विभिन्न टीकायें इस पर मिलती हैं। यह भी एक संग्रह ग्रन्थ है। प्रारम्भ में वैद्य की प्रशंसा और उसके लिये करणीय विषयों का वर्णन करने के अनन्तर, दूत-शकुन परीक्षा, अष्टविध रोगज्ञानोपाय, मुमूर्षु के लक्षण, दोषों का विविध दृष्टिकोणों से विवेचन, परिभाषा कथन, द्रव्यगुण वर्णन, पुनः अरिष्टविज्ञान कथन, दिनचर्या, निशाचर्या और ऋतुचर्या का निर्देश, पुनः द्रव्यगुण-विवेचन, रसशास्त्रीय प्रक्रिया तथा तदनुसार विविधयोगों का वर्णन, पञ्चकर्म का वर्णन तथा तन्द्रा आदि विविध पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है।

इसके बाद रोगों के निदान-चिकित्सा का विषय प्रारम्भ होता है। क्रम यद्यपि माधवनिदान का रक्खा गया है किन्तु निर्देश हेमाद्रिका किया गया है। इसी प्रकार जिन योगों का विभिन्न प्रकरणों में उल्लेख किया गया है उनके मूल ग्रन्थों को भी उद्‌धृत किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के प्रणयन के समय बहुत से रस शास्त्र के ग्रन्थ उपलब्ध थे।

उत्तर खण्ड में बाजीकरण और रसायनाधिकार द्वय का समावेश होता है। अन्त में रोगानुसार कतिपय अनुपानों का वर्णन है। एक श्लोक[1] से ग्रन्थ

कर्ता ने इस बात को आशा व्यक्त की है कि जब तक यह सृष्टि रहे तब तक इस ग्रन्थ का वैद्यसमुदाय में सम्मान होता रहे।

वैद्यजीवन[२] **और वैद्यावतंस**[३]—इन दो ग्रन्थों के रचयिता श्री लोलिम्बराज जुन्नार के श्री दिवाकर भट्ट के पुत्र हैं। इनका काल शक संवत् १५५५ के लगभग है। ऐसी किंवदन्ती है कि बाल्यावस्था में इनकी शिक्षा-दीक्षा ठीक न हो सकी। सप्तशृङ्ग (सतपुड़ा) पर्वत पर तपस्या करके अपनी जंघा के मांस का हवन कर उन्होंने देवी से वरदान प्राप्त किया और उसके बाद ज्योतिष वैद्यक आदि का अपूर्व ज्ञान उन्हें हो गया। जुन्नार की राजकन्या रत्नकला से इनका विवाह हुआ और उसी सुन्दरी को सम्बोधित करते हुए उन्होंने श्लोकों की रचना की है।

वैद्यजीवन में पाँच उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में ज्वरचिकित्सा का वर्णन है। इसमें कुल ८६ श्लोक हैं। द्वितीय उल्लास में २१ श्लोकों में अतिसार ग्रहणी की चिकित्सा का उल्लेख है। तृतीय उल्लास में ४७ श्लोक हैं जिनमें श्वास-कास, स्त्री-बाल रोग आदि की चिकित्सा, चतुर्थ उल्लास में ४७ श्लोकों में क्षय, व्रण, विसूचिका आदि और पञ्चम उल्लास में २४ श्लोकों में रसायन वाजीकरण प्रभृति का वर्णन है। इस ग्रन्थ के योगों में अधिकतर काष्ठौषधियों का ही समावेश है।

इस पर आचार्य सत्यनारायण शस्त्री के पुत्र श्री कालिकाचरण शर्मा की सुधा नामक भाषा टीका है। जिसका प्रकाशन हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

---

१. यावद् व्योमनि बिम्बमम्बरमणेरिन्दोश्च विद्योतते,
यावत् सप्तपयोधयः सगिरयस्तिष्ठन्ति पृष्ठे भुवः।
यावच्चावनिमण्डलं फणिपतेरास्ते फणामण्डले,
तावत् सद्भिषजः पठन्तु परितः श्रीयोगरत्नाकरम्॥

'श्रीयोगरत्नाकर' के स्थान पर 'भावप्रकाशं शुभं' के अतिरिक्त शेष श्लोक भाव-प्रकाश में भी ऐसा ही मिलता है।

२. आयुर्वेदवचोविचारसमये धन्वन्तरिः केवलं,
सीमागानविदां दिवाकरसुधाम्भोधि त्रियामापतिः।
उत्तंसः कविताकृतां मतिमतां भूभृत्सभाभूषणं
कान्तोक्त्याऽकृतवैद्यजीवनमिदं लोलिम्बराजः कविः॥ ५।२४
इति श्री दिवाकरभट्टसूनुमहाकविलोलिंबराजविरचितेवैद्यजीवनकाव्ये...

३. हुतवहहुतजंघा-जानुमांसप्रभावादधिगतगिरिजायाः स्तन्यपी यूषपानः।
रचयति चरकादीन् वीक्ष्य वैद्यावतंसं कविकुलसुलतानो लाललोलिम्बराजः॥२॥

काशी से (१९३९) सं० २००३ में हुआ। दूसरी पुस्तक गुजराती समश्लोकी भाषान्तर सहित, श्री प्राणलाल बलदेवजी मुन्शी की देखने को मिली। जिसका प्रकाशन सं० १९८२ में हुआ है।

वैद्यावतंस निघण्टु विषयक संग्रह है। जिसमें कुल ५८ श्लोक हैं। इसमें फल, मांस, दुग्ध, शाक आदि के गुणों का उत्तलेख है।

बोपदेव शतक या शतश्लोकी चन्द्रकला—इस चिकित्साग्रन्थ की रचना चरक, सुश्रुत के आधार पर श्री बोपदेव ने की थी। इनके गुरु का नाम श्री धनेश और पिता का नाम केशव था। ये वरदा नदी के तट पर निवास करते थे। इसमें कुल ६ अधिकार हैं और प्रत्येक में १६-१६ श्लोक हैं। जिनमें विविध रोगघ्न चूर्ण, गुटिका, अवलेह, घृत, तैल और क्वाथ का वर्णन है। ये सभी योग अत्युत्तम और शीघ्र लाभप्रद हैं। इन्होंने स्वयमेव इस पर संस्कृत में एक टीका का निर्माण भी किया है। जिसका नाम 'हृदय प्रबोधिनी' है। इसी के साथ वैद्यलक्ष्मीशंकर नरोत्तम भट्ट ने गुजराती भाषान्तर के साथ इसे सन् १९१२ में प्रकाशित कराई। दूसरी प्रति शालिग्राम वैश्य कृत भाषाटीका युक्त, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस से सं० १९५३ में प्रकाशित देखने को मिली। पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्यकार पं० जयदेव के अनुसार आचार्य माधव के ये समकालीन थे।

योगशतक—इस ग्रन्थ के प्रणेता महापंडित वररुचि हैं। इन्होंने १०० श्लोकों में अष्टाङ्ग आयुर्वेद के विविध रोगों पर अनुभूत योगों का प्रयोग लिखा है। ग्रन्थ का प्रकाशन सं० १९८५ (शके १८५०) में श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस से हुआ। इस पर पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भाषाटीका भी की है।

वैद्यवल्लभ—इसकी रचना कविवर हस्तिरुचि ने की है। इसमें कुल ९ विलास हैं। प्रथम में ज्वर चिकित्सा, द्वितीय में स्त्रीरोग चिकित्सा, तृतीय में कासश्वासोपचार, चतुर्थ में बाजीकरण, पञ्चम में गुद रोग, षष्ठ में

१. देशानां वरदातटं वरमतः सार्थाभिधानं महा-
स्थानंवेदपदं सदग्रजगणाग्रण्यः सहस्रंद्विजाः।
तत्रामीषु धनेशकेशवविधेः शिष्यः सुतश्च क्रमात्,
चक्रे श्लोकशतं भिषङ्मदपविः श्री बोपदेवः कविः॥ १००
कैलासाचलमौलिमण्डनमणेर्नृत्योत्सवे यद्यशो
गायन्ति त्रिदशाङ्गनाः कलरवाः गम्भीरतारस्वरैः।
चक्रे चन्द्रकलां सुगोपितशतश्लोकीं पदोल्लासिनीं,
सत् त्रैलोक्यकवीन्द्रचन्द्रतिलकः श्रीबोपदेवः कविः॥ १०१

विषोपचार, सप्तम में शालाक्यतंत्रीय रोगोपचार, अष्टम में भूतविद्या और नवम में विशिष्ट योगों का वर्णन है। इस पर मथुरा निवासी पं० राधाचन्द्र शर्मा की ब्रजभाषा टीका है। प्रकाशन सं० १९७८ में श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस से हुआ है।

रसशास्त्र का अभ्युदय—पाश्चात्य इतिहासकारों का मत है कि भारत वर्ष में ईसवी सन् की छठीं शताब्दी तक रसशास्त्र का उतना अधिक प्रचार न था जितना चिकित्साशास्त्र के अन्य अंगों का था। इस समय यद्यपि श्रीमद् विद्यारण्य ने अपना रसेश्वर दर्शन बनाया था किन्तु अष्टम शताब्दी (श्री मत्शङ्कराचार्य के समय) तक इसका पूर्णप्रचार नहीं हो पाया था। पूज्यपाद आचार्य गोविन्द भगवत्पाद ने जो श्रीमत् शङ्कराचार्य के गुरु[1] रहे हैं, **रस हृदय तन्त्र** का निर्माण किया है। जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य का समय शक संवत् ७१० से लेकर ७४२ वर्ष पर्यन्त रहा है। अतएव रसशास्त्र के अभ्युद का काल भी इसी के आस-पास ही समझना चाहिये। स्वयं आचार्य ने भी ग्रन्थ के[2] अन्त में अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए लिखा है कि वे किरातनाथ मदनवर्मा के यहाँ रहते थे। ये राजा स्वयं भी रससिद्ध थे अतएव इन आचार्य का बड़ा आदर करते थे।

---

१. रसहृदयकर्तुर्गोविन्दभिक्षोः श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यगुरुत्वे रसहृदयस्थाः श्लोकाः
"बालः षोडशवर्षो विषयरसास्वादलम्पटः परतः।
यातविवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम्॥
इत्यार्यायाः चर्पटपञ्जर्यां श्रीशङ्कराचार्योक्तेन—
बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमेब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥"
इति पद्येन सह अर्थत उपलभ्यमानं सादृश्यमपि बलवद् गमकमेव।
(श्रीकाले स्वकीये उपोद्घाते)

किरातदेश को डॉ० पी० सी० राय ने भोटान माना है।

२. शीतांशु-वंश-संभवहैहयकुलजन्मजनितगुणमहिमा।
स जयति श्रीमदनश्च किरातनाथो रसाचार्यः॥७८॥
यस्य स्वयमवतीर्णा रसविद्या सकलमङ्गलाधारा।
परमश्रेयसेहेतुः श्रेयः परमेष्ठिनः पूर्वम्॥७९॥
तस्मात् किरातनृपतेर्बहुमानमवाप्य रसकर्मनिरतः।
रसहृदयाख्यं तन्त्रं विरचितवान् भिक्षुगोविन्दः॥८०॥
(एकोनविंशतितमेऽवबोधे)

चन्द्रवंशीय हैहयकुल के राजाओं की वंशावली का वर्णन करते हुए श्री कनिंघम ने राजा मादन वर्मा का नाम कामदेव बताया है। सम्भवतः मूल नाम कामदेव ही रहा हो और प्रस्तुत प्रसङ्ग में पद्यनिर्माणार्थं उसको 'श्री मदनः' कर दिया गया हो क्योंकि उस वंशावली में और दूसरा कोई राजा कामदेव के नाम से उल्लिखित नहीं किया गया है। इनका राज्यकाल भी ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी सिद्ध होता है जो पूर्वोक्त मत से समञ्जस होता है। किरातदेश[1] विन्ध्याचल के आस-पास का प्रदेश है ऐसा प्राचीन पुस्तकों से प्रतीत होता है। अतएव इसी स्थलपर आचार्य गोविन्द भगवत् पाद का निवास स्थान रहा होगा।

डा० पी० सी० राय को भारतीय रसायनशास्त्र का इतिहास (Histry of Hindu chemistry) लिखते समय जो पुस्तक उपलब्ध हुई उसमें प्रस्तुत ग्रन्थ की अपेक्षा कुछ आर्यायें अधिक मिलती हैं जिनके आधार पर उन्होंने इस ग्रन्थ के निर्माता को बौद्ध माना है। किन्तु उन आर्याओं पर सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने से प्रतीत होता है कि उनको किसी ने बाद में जोड़ दिया है जिसको प्रबन्ध रचना का उतना ज्ञान भी नहीं था। क्योंकि दोनों की भाषा स्पष्ट रूपसे अलग हो जाती है।

इसग्रन्थ के निर्माण से पूर्व कई रसशास्त्रीय ग्रन्थ[2] और रहे होंगे किन्तु उनका प्रचार प्रसार अधिक नहीं होने पाया था। इसका भी उल्लेख ग्रन्थान्त में किया गया मिलता है। इसग्रन्थ में कुल उन्नीस अवबोध (अध्याय) हैं। प्रथम अवबोध में कुल ३४ आर्यायें है जिनमें मङ्गलाचरण के अतिरिक्त इस-शास्त्र के अवलम्बन का कारण बताते हुए रस (पारद) की प्रशंसा की गई

---

१. Archeological survey reports, vol. XVII, page 78 :
श्रीत्र्यम्बकगुरुनाथकाले लिखित उपोद्घात, पृष्ठ ३

तप्तकुण्डं समारभ्य रामक्षेत्रान्तकं शिवे।
किरातदेशो विज्ञेयो विन्ध्यशैलेऽवतिष्ठते ॥ (शिवशक्तिसंगमतन्त्रे)

२. रसवादोऽनन्तगुणो द्रवगोलककल्कभेदेन।
कलितः प्रधानसिद्धैर्यैर्दृष्टस्ते जयन्ति नराः ॥७७॥ (१९ अवबोधे)

प्रधानसिद्धैः नित्यनाथादिभिः, इति मुग्धावबोधिनीकरः श्रीचतुर्भुजमिश्रः
"गोविन्दाचार्यात् प्रागपि पतञ्जलिव्याडिनागार्जुनप्रभृतयो बहवो रसतन्त्रकर्तारश्च प्रादुर्बभूवुरिति ज्ञायते" इति श्री काले महोदयः।

है। बताया गया है कि जब शरीर नीरोग रहेगा तब ही ब्रह्मोपासना[1] हो सकती है अतएव शरीररक्षा के लिये (हर गौरी सृष्टिसंयोगज) रस सेवन आवश्यक है।

पहला अवबोध[2] जहाँ पर रस प्रशंसात्मक है, वहाँ दूसरा रस संशोधनात्मक है। इसमें कुल १३ आर्यायें हैं। जिनमें पारद के अष्टसंस्कारों का वर्णन है। यद्यपि प्रथम आर्यामे १८ संस्कारों के वर्णन किये गये हैं किन्तु शेष दस संस्कारों का वर्णन आगे के प्रकरण के लिये रक्खा गया है। देह शुद्धयर्थ आवश्यक आठ संस्कारों का यहाँ वर्णन कर दिया गया है। ये संस्कार क्रमशः स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन; निरोध या रोधन, नियमन, दीपन (८), गगन ग्रास प्रमाण, चारण, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, द्रुतिजारण, रञ्जन, सारण, क्रामण, वेधन तथा भक्षण (१८) हैं। इन संस्कारों में प्रयुक्त होनेवाली औषधों का एक-एक योग ही बताया गया है अर्थात् जितना आवश्यक है उतना ही बताया गया। इतना करने के बाद तब पारद बुभुक्षित हो जाता है अतएव आगे के दस संस्कार हो सकते हैं।

तृतीय अवबोध में चारणा का वर्णन है। इसमें कुल २८ आर्यायें हैं, क्षार-लवण तथा अम्लवर्ग की औषधियों को साथ मिलाकर घोटने से भी पारद बुभुक्षित हो जाता है और इन्हीं से स्वेदन करने पर वह रञ्जित और स्थिर (बन्धन) हो जाता है किन्तु अभ्रक की चारणा से जो गुण (पक्षच्छेद = अग्नि-स्थायित्व) उत्पन्न होते हैं वे उत्कृष्टतर बताये गये हैं। यह चारणा समुख और निर्मुख भेद से दो प्रकार की बताई गई है। अभ्रक के ही समान स्वर्ण रौप्य, नाग, वङ्गादि के चारण का भी उल्लेख किया गया है। चतुर्थ अवबोध में अभ्रसत्त्व चारणा के लिये पारद को पहले पक्षच्छिन्न करने का उपदेश दिया गया है और पक्षच्छिन्न पारद के लक्षण बताये गये हैं। चारणा योग्य अभ्रक के लक्षण, सत्त्वपातन की विधि और पतित सत्त्व के लक्षण, लोह

---

१. न हि देहेन कथञ्चिद् व्याधिजरामरणदुःखविधुरेण।
क्षणभङ्गुरेण सूक्ष्मं तद् ब्रह्मोपासितुं शक्यम् ॥१७॥
आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
श्रेयः परं किमन्यत् शरीरमजरामरं विहायैकम् ॥२७॥
तस्माञ्जीवनमुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमम्।
दिव्यातनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसंयोगात् ॥३३॥ (प्रथमावोधे)

२. रसहृदयतन्त्र का प्रकाशन श्री मोतीलाल बनारसी दास ने सन् १९२७ में लाहौर से किया

निभ सत्व की उत्कृष्टता, और रञ्जित अभ्रकसत्त्व के चारण का विधान आदि बताया गया है। चारणा के लिए तीन बातें[1] मुख्य बताई गई हैं—

१. अभ्रक चारण—

२. गर्भद्रुति चारण प्रथम अवस्था में भक्षित अभ्रक इस समय द्रव होकर पारद के गर्भ में रहता है अतएव उसका जरण होना चाहिए।

३. अन्त में स्वर्ण चारण—

पञ्चम अवबोध में विविध धातुओं के जारण के लिए दो प्रकार बताये गये हैं—गर्भद्रुति और बाह्यद्रुति। यदि पारद इतना बुभुक्षित हो जाय कि धातुओं को स्वयं पचा ले तो उसको गर्भद्रुति संज्ञा दी गई है अन्यथा धातुओं का परिपाक करने के लिए ऊपर से कुछ औषध देना पड़ता है। इसे विड (बीज) कहते हैं। इसके संयोग से पारद धातुओं को आत्मसात् कर लेता है। छठवें अवबोध में जारणा सम्पन्न करने के लिये कच्छपयन्त्र बनाने का विधान, बीज का ग्रास डालने की विधि का वर्णन है। सातवें अवबोध में विड बनाने की विधि बताई गई है। आठवें अवबोध में रस का रञ्जन, नवें में बीज बनाने की विधि, दशवें में सत्त्व पातन, गारहवें में जिस प्रकार का बाज ग्रहण करता है उसी प्रकार की उस रस में शक्ति आती है और वह चिरकाल तक स्थिर रहती है, इसका निदश किया गया है। बारहवें अवबोध में दो सत्त्वों को मिलाने की विधि, तेरहवें में दो से अधिक सत्त्वों के मिलाने की विधि, चौदहवें में उनका जारण, पन्द्रहवें में धातुओं का द्रावण तथा द्रुतिजारण से शतवेधी या सहस्रकोटि वेधी आदि रस का निर्माण तथा ग्रासवृद्धि से गुणवृद्धि का उल्लेख है। सोलहवें अवबोध में रस को शरीर में व्याप्त होने के लिए सारण[2] संस्कार करने का विधान बताया गया है। समान बीज से मिलने पर इसे सारित, द्विगुण बीज से मिलने पर प्रतिसारित और त्रिगुण बीज से मिलने पर अनुसारित संज्ञा दी गई है। ऐसा करने पर यह शत, सहस्र, लक्ष और कोटि संख्याक धातुओं का वेधन कर सकता है।

---

१. पक्षच्छेदमकृत्वा रसबन्धं कर्तुमीहते यस्तु।
बीजैरेव हि स जडो वाञ्छत्यजितेन्द्रियो मोक्षम् ॥४॥
अभ्रकचारणमादौ गर्भद्रुतिचारणं च हेम्नोऽन्ते।
यो जानाति न वादी वृथैव सोऽर्थक्षयं कुरुते ॥२५॥ (चतुर्थेऽवबोधे)

२. इति रक्तोऽपि रसेन्द्रो जारितबोजोऽपि सारणारहितः।
व्यापी न भवति देहे लोहेष्वप्यथवापि हि (लोहेष्वपि) षण्ढतां याति ॥१॥
(१६ अवबोधे)

सतरहवें अवबोध में क्रामण का विधान बताया गया है, इस संस्कार को न करने से रस धातुओं के अणुओं में प्रविष्ट[1] नहीं हो पाता, वरन् उन्हें घेर कर पड़ा रहता है। इसके पश्चात् वेधन का विधान अठारहवें अवबोध में है, इस संस्कार के करने पर वह अपने गुणों को प्रकाशित करता है। इसी अवस्था में वह स्वर्णादि उत्कृष्ट धातुओं में परिवर्तित होता है जिसे हेमकृष्टी[2] संज्ञा दी गई है।

उन्नीसवें अवबोध में इसके योगों का वर्णन है जो शरीर को अजर और अमर तथा विविध सिद्धि सम्पन्न बनाते हैं। योगों के भक्षण से पूर्व स्नेहन-स्वेदन तथा शोधन आदि कर्मों एवं पथ्य आहार विहार से शरीर का क्षेत्री करण किया जाता है। शतवेधी और सहस्रवेधी पारद की १ रत्ती लक्षवेधी की ½ रत्ती और कोटिवेधी सूत की १ सरसों के बराबर मात्रा लेने का उल्लेख है। अमरसुन्दरी गुटिका, मृतसञ्जीवनी गुटिका, बज्रिणी और खेचरी गुटिकाओं का नामानुसार रूप गुण वर्णित है।

टीकाकार श्रीचतुर्भुज मिश्र[3] खण्डेवाल ब्राह्मण हैं। इनका कुल कुरलसंज्ञक है। इनके पिता का नाम श्रीमहेश मिश्र और पितामह का नाम श्री हरिहर मिश्र था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये राजस्थान के निवासी थे। ये आधुनिक काल के हैं, उतने प्राचीन नहीं हैं ऐसा श्री काले का मत है।

---

१. इति कृतसारणविधिरपि बलवानपि सूतराट् क्रियायोगात्।
सवेष्टच तिष्ठति (संवेष्टयतिच) लोहं नो विशति क्रामणारहितः ॥१॥
अन्नं वा द्रव्यं वा यथानुपानेन धातुषु क्रमते।
एवं क्रामणयोगाद् रसराजो विशति लोहेषु ॥२॥ (१७ अवबोधे)

२. अनया खलु सारणया क्रामणेन च विशति योजितो विधिवत्।
असति वेधविधौ न रसः स्वगुणान् प्रकाशयति ॥१॥
रसदरद ताप्य गन्धक मनःशिला राजवर्तकं विमलम्।
पुटमृतशुल्बं तारे निर्व्यूढं हेमकृष्टिरियम् ॥२॥
इयं हेमकृष्टिः स्वर्णकरणमित्यर्थः (मुग्धावबोधिनी)

३. गुणवारिधिकुरलकुले हरिहरमिश्रः पुनीतमहिमाख्यः।
तत्पुत्रो भुवि महितो महेश इति नाम विख्यातः ॥२॥
तदन्वये भारतिभावसंयुतस्तदात्मजः प्रस्तुतवाग्भिरीश्वरः।
चतुर्भुजो भावितभावमानसः स्वलोकजातस्य कुलानुभावतः ॥३॥
इति श्रीमत् कुरलकुलपयोधिसुधाकरमिश्रमहेशात्मजचतुर्भुजमिश्रविरचितायां मुग्धावबोधिन्यां रसहृदय टीकायां...

रसेन्द्र चूडामणि[1]—इस ग्रन्थ के कर्ता श्री सोमदेव हैं। इन्होंने दो स्थानों पर अपना परिचय दिया है, पहले अध्याय के अन्त में अपने को[2] करवालभैरव पुर का स्वामी बताया है और सोलहवें अध्याय के अन्त में श्रीनारायण मन्त्री का पुत्र स्थापित किया है। इससे इनके समय-स्थान आदि के विषय में वर्तमान समय में कुछ खास प्रकाश नहीं पड़ता। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये किसी राजा के मन्त्री के पुत्र रहे हों जिसने प्रसन्न होकर करवाल भैरवपुर इन्हें दान में दिया हो।

प्रथम अध्याय इस पुस्तक में 'रसमहिमानिरूपण' नामक है। इसमें कुछ स्थलों पर उन्हीं भावों[3] का प्रदर्शन किया गया है जिनका वर्णन रसहृदय

---

१. इसका भी प्रकाशन श्री मोतीलाल बनारसी दास, लाहौर, द्वारा सन् १९३२ में कराया गया।

२. इति श्रीकरवालभैरवपुरपतिश्रीसोमदेव विरचिते रसेन्द्रचूड़ामणौ रससूत्रस्थाने रसमहिमानिरूपणे नाम प्रथमोध्यायः।

मन्त्रिश्रीनारायणसुतूनामन्त्रिश्रीहरिणा श्रीसोमदेवेन विरचितो रसेन्द्रचूड़ामणिग्रन्थः समाप्तः।

३. रसेन्द्रचूड़ामणौ—

अनेनैव हि देहेन यदि मुक्तिर्न साधिता।
किं करिष्यति देहेन लब्धेनानधिकारिणा ॥ २० ॥
अगण्यैः सत्पुण्यैः कलितवपुषां किं फलमहो,
न चेद् बुद्धिः, साच प्रचुरधनहीना, धनमपि।
विना भोगैर्नायुर्यदि सुविपुलारोग्यसुखदं,
तदप्यायुर्हीनं तदपि च न निःश्रेयसकरम् ॥ २२ ॥
मूलौषधं क्लेशविशेषदोषलं, लोहौषधं दाह्यमतोऽस्थिरं च।
एतद्गुणव्यस्तगुणं रसेन्द्रं, दीर्घायुरारोग्यकृते भजध्वम् ॥ २५ ॥ (प्रथमाध्याये)
योमूर्च्छयेत्तस्य निहन्तिमूर्च्छां वध्नाति यस्तस्य च पाशबन्धम्।
यो मारयेत्तं प्रकरोत्यमर्त्यं कस्तेन सूतेन समः कृपालुः ॥ २८ ॥

रसहृदयतन्त्रे—

अस्मिन्नेव शरीरे येषां परमात्मनो न संवेदः।
देहत्यागादूर्ध्वं तेषां तद् ब्रह्म दूरतरम् ॥ ३१ ॥
सुकृतफलं तावदिदं सुकुले यज्जन्म धीः स्वतन्त्रापि (धीश्च तत्रापि)।
साऽपि च सकलमहीतलतुलनफला भूतलं च सुविधेयम् ॥ ८ ॥

तन्त्र में है। इससे यह सिद्ध होता है कि इसकी रचना आठवीं शताब्दी के बाद की है। रसरत्न समुच्चयकार ने परिभाषा तथा यन्त्रप्रकरण का इसी ग्रन्थ से उद्धरण दिया है, अतएव उससे ये पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में इन्होंने अपने को 'पुरवर महावीर वंशावतंस'[1] माना है। इससे भी कुछ अधिक अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

प्रथम एवं द्वितीय अध्याय को ग्रन्थकार ने सूत्रस्थान की संज्ञा दी है। शिष्य और गुरु के गुण, रस जारणा करने योग्य स्थल की विशेषता, दीक्षा-विधान, मन्त्र-न्यास आदि का विधान है। तृतीय अध्याय में रसशाला निर्माण, उपकरण संग्रह, कार्यकारीगण के नियोग का वर्णन है। चौथे अध्याय में परिभाषा का वर्णन है। पिष्टी निर्माण, देहलोहसाधक (अयोनाग) गुटिका निर्माण शुल्बनाग, वारितर लोह की परिभाषा, अपुनर्भव-निरुत्थ, धान्याभ्र, कोष्ठका निर्माण, गुह्यनाग रसायन (स्वच्छन्दभैरवोक्त), उत्थापना, धातुवाद के उपयुक्त किन्तु रसायन के लिये अनुपयुक्त रस का निर्माण (खर्पणाख्य लोकनाथोक्त), लोकनाथ शम्भुप्रोक्त चपल निर्माण विधि, श्री सोमदेव कथित देहलोहकर रस निर्माण विधि, द्वन्द्वन और भञ्जिनी क्रिया, पलिका, पतङ्गी, आवाप-प्रतिवाप-आच्छादन, अभिषेक, निर्वाप-स्नपन, अग्नि के शुक्लावर्त-वीजावर्त, स्वाङ्गशीत, वह्निशीत, स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, नष्टपिष्टता, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन, दीपन, ग्रासमान, जारणा और उसके समुखा और निर्मुखा भेद, बीज, मुख, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, द्रुति के पाँच प्रकार, विड निर्माण, रञ्जन, सारणा, वेध, लेपवेध, क्षेपवेध, कुन्तवेध, धूमवेध (स्वर्णाद्यापादन), शब्दवेध, उद्घाटन, स्वेदन, संन्यास आदि पारिभाषिक द्रव्यों की परिभाषा का वर्णन विविध ग्रन्थों से संग्रह करके किया गया है। यह अध्याय बहुत ही युक्ति युक्त और कण्ठाग्र करने योग्य है।

भूतलविधेयतायाः फलमर्थास्ते च विविधफलभोगाः।
भोगाः सन्ति शरीरे तदनित्यमहो वृथा सकलम् ॥९॥
इति धनशरीरभोगान् मत्वाऽनित्यान् सदैव यतनीयम्।
मुक्तौ सा च ज्ञानात्, तच्चाभ्यासात् स च स्थिरे देहे ॥ १० ॥ (रसेश्वर दर्शनेऽपि)
तत्स्थैर्ये न समर्थं रसायनं किमपि मूललोहादि।
स्वयमस्थिरस्वभावं दाह्यं क्लेद्यं च शोष्यं च ॥ ११ ॥
मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति।
अमरी करोति सुमृतः कोऽन्यः करुणापरस्तस्मात् ॥ ३ ॥

१. शस्त्रेशास्त्रे नयगुणविधौ सत्प्रमाणे पुराणे सांख्ये सान्ते वितरण गुणे धूरिगण्यः वेरण्यः।
वक्ति व्यक्तं रसपरिकरं वैद्यविद्याविनोदी श्रीमान् सोमः पुरवरमहावीरवंशावतंसः॥१॥

पाँचवें अध्याय में यन्त्र की परिभाषा, दोलायन्त्र, खल्वयन्त्र, तप्तखल्व, बलयप्रोत कोष्ठक, खलभली (बलभी) यन्त्र, ऊर्ध्वपातन यन्त्र, अधःपातनयन्त्र, तिर्यक्पातन यन्त्र, कच्छप यन्त्र, अन्तरालिक संज्ञक यन्त्र, तापिका यन्त्र, प्रतिगर्भ यन्त्र, गर्भ यन्त्र, घटयन्त्र, इष्टिकायन्त्र, विद्याधर यन्त्र, डमरुयन्त्र, जल (दुर्भेद्या) मृत्तिका, वह्निमृत्तिका (इसकी निर्माण विधि नन्दी, नागार्जुन और ब्रह्मज्योति मुनीश्वर के मतानुसार है), नाभियन्त्र, ग्रस्तयन्त्र, तुलायन्त्र, स्थाली यन्त्र, कोष्ठिकायन्त्र, बालुकायन्त्र, लवणयन्त्र, धूपयन्त्र, कुण्डक (कन्दुक) यन्त्र (स्वेदन यन्त्र), कुण्डयन्त्र के निर्माण की दूसरी विधि, ढेकी यन्त्र, सोमनालयन्त्र, नलिका यन्त्र आदि के निर्माण और प्रयोग विधियों पर प्रकाश डाला गया है। वज्रमूषा, योगमूषा, वज्रद्राविणी मूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा, रूप्यमूषा, विड्मूषा, मूषाप्यायन की विधि, वृन्ताकमूषा, गोस्तनीमूषा, मल्लमूषा, पक्वमूषा, गोलमूषा, महामूषा, मञ्जूसमूषा, मुशलमूषा, आदि के निर्माण और उनके प्रयोग विधि का वर्णन किया गया है। अङ्गारकोष्टी, पातालकोष्ठी, गारकोष्ठी आदि के निर्माण की विधि, प्रयोजन, विविध कूपी तथा बङ्कनाल, पुटों यथा महापुट, गजपुट, वाराहपुट, कुक्कुट-कपोतपुट, गोबरपुट, भाण्डपुट, वालुकापुट, भूधरपुट, लावकपुट, और पुटदेने के योग्यद्रव्यों का सविस्तर वर्णन किया गया है।

छठवें अध्याय में रसायन औषधों का वर्णन है। रसौषधि, महौषधि, सिद्धौषधि और दिव्यौषधि ये चार भेद, वृक्ष-वल्ली-लता-गुल्म-तृण और कन्द भेद से इन रस बन्धकर औषधों के ६ भेद, सोमवल्ली के गुण, स्थलपद्मिनी, ईश्वरी, भूतकेशी, कृष्णलता, लशुनवल्ली, रुदन्ती, वाराही, सप्तपत्री, नागिनी, सर्पिणी, छत्रिणी, गोश्रृङ्गी, ज्योती, पत्रवल्ली, काकिनी, चाण्डाली, ताम्रवल्ली, पीतवल्ली, विजया, महौषधी, देवदाली, लम्बिनी, भूतुम्बिनी, गन्धर्वी, व्याघ्रपादी, गोमारी, त्रिशूली, करसीवल्लिका, त्रिदण्डी, भृङ्गवल्ली, चमरिका, करवीरलता, वज्रबल्ली, चीरबल्ली, रोहिणी, बिल्विनी, गोरोचनलता, करीरी, अक्षरा (अजरा), अपर्णा, कुटजबल्ली, मूलकन्दा, ब्राह्मणी, मुनिवल्ली, निम्बुकीलता, तिलकन्दा, अतसीवल्लिका, बोधिलता, मद्यगन्धा, कूर्मलता, माधवी, विशाला, महानागी, मण्डूक लतिका, उदुम्बरलता, चित्रबल्ली आदि ६४ दिव्य औषधियो का वर्णन परिचय योग्य रूप से मिलता है जिनके विविध अङ्गों के रस से पारद का बन्धन किया जाता है।

सातवें अध्याय में ६८ रसौषधियों का वर्णन है जो रस के बन्धन, मारण, जारण, नियामन तथा सभी दोषों के विनाशार्थ प्रयुक्त की जाती है। आठवें अध्याय में औषधों के विविध गणों का निर्देश किया गया है, उदाहरणार्थ

४६ औषधों का सर्पाक्ष्यादि गण, जो पारद के अष्टसंस्कार में प्रयुक्त होता है। व्याघ्रिकादि गण रस की भस्म बनाने के काम में आता है। रक्तस्नुह्यादि गण का भगवान् शङ्कर ने स्वयं उपदेश किया है जो रस के बन्धन और शोधन के लिये प्रयुक्त होता है। कदल्यादि गण का रस लोहद्रावणार्थ, काकमाच्यादि गण का क्रामण के लिये; एक वीरा, महाबीरा आदि का बन्धनार्थ वज्रदण्डादि वर्ग का रसायन क्रिया में, भूपाटल्यादि वर्ग का रसबन्ध के लिये, पञ्चरत्न सज्ञक गण का देह-लोहसिद्धि के लिये प्रयोग बताया गया है। नवें अध्याय में भी वर्गों यथा मधुर, मूत्र, क्षार, मृत्तिका, अम्ल, लवण, विष, उपविष, तैल, दुग्ध, पित्त, वसा, विड्, रक्त, (रङ्ग), पीत, श्वेत, कृष्ण, आदि (वर्गों) का वर्णन किया गया है। शोधनीय, लोहकाठिन्य नाशन, द्रावण गणों तथा विविध वर्गों के कार्यों का भी इसमें उल्लेख है।

दशवें अध्याय में महारसों[1] का वर्णन है। इसमें पहले अभ्रक का वर्णन है। अभ्रक के भेद, उनके गुण तथा ग्राह्य अभ्रक के स्वरूप, शोधन, सत्त्वपातन, धान्याभ्र एवं भस्म निर्माण विधि, और इनके आमयिक प्रयोग का वर्णन है। राजावर्त, वैक्रांत, सस्यक (सीसा); विमल (राँगा), शिलाजतु, रसक (जस्ता), खर्पर माक्षिक आदि के लक्षण, भेद, शोधन मारण तथा आमयिक प्रयोगों का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में गंधक, हरिताल, स्फटिका, मनःशिला, अञ्जन, कङ्कुष्ठ, कासीस, गैरिक आदि उपरसों[2], कम्पिल्ल, गौरीपाषाण, नवसार, वराटिका, अग्निजार, गिरिसिन्दूर, हिङ्गुल, एवं बोद्दारश्रृङ्ग जैसे साधारण रसों[3] के शोधन, मारण और प्रयोग का वर्णन है। बारहवें अध्याय में माणिक्य, मुक्ता, प्रवाल, तार्क्ष्य, पुष्पराग, वज्र, नीलम, गोमेद और वैडूर्य प्रभृति नवरत्नों[4] के गुण-दोष शोधनादि प्रयोगों और विविध विकारों में उपयोग

---

१. महारसाः स्युर्घन-राजवर्त-वैक्रांत-सस्याः विमलाद्रिजाते ।
तुत्थं च तार्प्यं च रसायनास्ते सत्त्वानि तेषाममृतोपमानि ॥

२. गन्धाश्मतालतुवरी कुनटी सुवीर कंकुष्ठ खेचरक गैरिकनामधेयाः ।
उक्ता बुधैरुपरसाश्च रसायनास्ते तैर्बद्धपारदवरो न रसायनः स्यात् ॥

३. कम्पिल्लश्चपलो गौरीपाषाणो नवसारकः ।
कपर्दो वह्निजारश्च गिरिसिन्दूरहिंगुलौ ॥
बोद्दारश्रृङ्गमित्यष्टौ साधारणरसा मताः ।
रससिद्धिकरा प्रोक्ता नागार्जुनपुरःसरैः ॥

४. माणिक्य-मुक्ताफल-विद्रुमाणि तार्क्ष्यं च पुष्पं भिदुरं च नीलम् ।
गोमेदकं चाथ विदूरकं च क्रमेण रत्नानि नवग्रहाणाम् ॥

का वर्णन है। द्रुति करने का विधान भी अध्याय के अंत में बताया गया है। तेरहवें अध्याय में इन नवरत्नों से पृथक् नव रसायन बनाने का विधान और उनके गुणों का उल्लेख किया गया है।

चौदहवें[1] अध्याय में सुवर्ण, रजत, ताम्र, लोह और कान्त लोह जैसे शुद्ध लोहों का, नाग और बंग—इन पूतिलोहों और पित्तल, कांस्य और वर्त, इन तीन मिश्र लोहों के शोधन-मारण तथा योगों का वर्णन है। स्वर्ण[2] के प्राकृत, सहज, अग्निज, खनिज और रसेन्द्रवेध संजात ये पाँच भेद बताये गये हैं। इसी प्रकार अन्य लोहों के भेद तथा इनके भस्म बनाने की विधि का वर्णन है। ताम्र के योगों यथा सोमनाथी ताम्र आदि का भी उल्लेख मिलता है। कान्तरसायन, वङ्गरसायन, सीसरसायन, पित्तलरसायन और भूनागसत्त्व बनाने का वर्णन मिलता है। पन्द्रहवें अध्याय में पारद के अष्टादश संस्कार और उसके गुणों[3] का वर्णन है। सोलहवें अध्याय में जारणाविधान का वर्णन है। अभ्रक के अतिरिक्त ताम्र और लोह की जारणाविधि का वर्णन है।

लेखक ने इस ग्रन्थ में राजस्थान की भाषा के कुछ शब्दों का व्यवहार किया है। वनस्पतियों के वर्णन में सौराष्ट्र और गुजरात प्रदेश में उनके उत्पत्ति का निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये राजस्थान के रहने वाले थे और वहाँ से चलकर काठियावाड़ और गुजरात में आकर बस गये होंगे। इनके वंश का नाम और उपाधि इस बात का द्योतक है कि ये वैश्य रहे होंगे किन्तु काल का इतने पर भी अनुमान लगाना कठिन ही है।

---

१. शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारं पूतीलोहं द्वितयमुदितं नागवङ्गाभिधानम्।
मिश्रीलोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्तं धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽपि कर्षार्थवाची॥

२. प्राकृतं सहजं वह्निसंभूतं खनिसम्भवम्।
रसेन्द्रवधसञ्जातं स्वर्णं पञ्चविधं स्मृतम्॥

३. आयुर्वज्रं वितरति नृणामङ्गवर्णं सुवर्णं,
सत्त्वं व्योम्नो मदकरिबलं ताम्रमुग्रां क्षुधां च।
मायोः शान्तिं रजतममलं कान्तमेतत् समस्तं,
श्रीमान् सूतः सकलगदहृत् देहलोहे तु सिद्धः॥ ३॥
जरापमृत्युदौर्गत्यव्याधीनां रसनाद् रसः।
रसास्वादन इत्यस्य धातोरर्थतया खलु॥१८॥
देहलोहमयीं सिद्धिं सूते सूतस्ततो मतः।
रोगाब्धिं पारयेद् यस्मात्तस्मात् पारद उच्यते॥१९॥
पातनैः शोध्यमानस्य यस्य पादोऽवशिष्यते।
त्रिपादी च क्षयं याति तेन पादरसः स्मृतः॥२०॥

रसोपनिषत्—श्री पार्वती परमेश्वर संवाद के रूप में प्रारम्भ इस ग्रन्थ का निर्माण कब और किसके द्वारा हुआ कुछ भी आभास नही हो पाता। सम्पूर्ण ग्रन्थ के देखने से यह प्रतीत होता है कि वह **'महोदधि'**[1] नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ में पहले वर्णित किया गया, तदनन्तर उससे इसका 'रसोपनिषत्' के रूप में स्वतंत्र उद्धार हुआ। यह पूर्व ग्रन्थ के प्रथम अट्ठारह अध्यायों और २४ से २९ अध्यायों में, इस प्रकार दो खण्डों में वर्णित था। प्रथम अट्ठारह अध्यायों का **रसोपनिषत्** के रूप में श्री सेतुलक्ष्मी प्रसाद माला, त्रिवेन्द्रम् से सन् १९२८ ई० में प्रकाशिन हुआ है। उपलब्धि आदि का विस्तृत विवेचन श्री के० साम्बशिव शास्त्री जी ने अपनी भूमिका में किया है।

इसके प्रथम अध्याय में ग्रन्थ निबंधन का प्रयोजन[2] सम्पूर्ण ग्रन्थ की अनुक्रमणिका तथा पारद के शोधन की विविध विधियों का उल्लेख किया गया है। द्वितीय अध्याय रसवृद्धि करण नामक, तृतीय स्पर्श वृद्धिकरण, चतुर्थ बीज विज्ञान, पञ्चम वेधपट्ट, षष्ठ लोहकरण, सप्तम रञ्जनकल्प विधि, अष्टम गोलक विधान, नवम औषधिबन्धन, दशम नागसंक्रमण एकादश तारोत्कर्ष, द्वादश शुल्बार कलिकोच्छेद, त्रयोदश वङ्गस्तम्भशोधन, चतुर्दश शोधनविधि, पञ्चदश अभ्रकद्रावकाधिकरण, षोडश द्रावणाधिकार, सप्तदश गुह्यबन्ध और अष्टादश रसकरणबन्ध सन्यास विधान नामक है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग २५७३ श्लोकों (प्रत्येक अध्याय में क्रमशः ११९+४२½+३०+१२१½+१४+५९½ +७९½+१८+१४+१३+२४+७६½+२९+४७½+२५१ +२८९½ +

---

१. इति महोदधौ रसोपनिषदि················

२. श्रीमतां महतां पुंसां त्रिवर्गस्वर्गभाविनाम्।
राज्ञां च विजिगीषूणां प्रजानिर्बाधकारिणाम् ॥ ४ ॥
धर्मार्थमुपभोगानां नष्टराज्यविवृद्धये।
आयुर्यौवनलाभार्थं मुक्त्यर्थं च मुमुक्षुणाम् ॥ ५ ॥
पारतीयस्य दिव्यस्य रसेन्द्रस्यामितौजसः।
शास्त्रं च लक्षणोपेतं दृष्टादृष्टानुसारि यत् ॥ ६ ॥
यत् सारं सर्वलोकेषु नवनीतमिवोद्धृतम्।
तदिदं स्वर्ग्यमायुष्यं यशस्यं धन्यमक्षयम् ॥ ७ ॥
विचित्रं विस्मयं सूक्ष्मं परं विश्वस्य साधनम्।
अनेकलक्षणोपेतं युक्तिमद् व्यक्तनिर्णयम् ॥ ८ ॥
देवि ! देवगणैर्युक्ता शृणु मत्तो महोदधिम्।
भामण्डलमिव ध्वान्तं निरुणद्धयहितानि यत् ॥ ९ ॥

६१५½+७१९½ श्लोक इनके अतिरिक्त १६वें अध्याय में लगभग ¾ पृष्ठ और अट्ठारहवें अध्याय लगभग ८ पृष्ठ गद्यमय है) में वर्णित है।

इस ग्रन्थ पर किसी विद्वान् ने कोई टीका टिप्पणी न की इसलिए अधिक अंगों में दुरूह ही बना हुआ है।

रसार्णव—इस तन्त्र का प्रारम्भ भी श्री पार्वती परमेश्वर संवाद के रूप में होता है और निर्माण का काल, स्थान, नाम आदि लुप्त है। पं० तारादत्त पन्त के सम्पादन में सन् १९३९ ई० में चौखम्बा संस्कृत सिरीज से इसका प्रकाशन हुआ है। इसमें भी कुल अट्ठारह ही अध्याय हैं, जिनको पटल संज्ञा दी गई है। प्रथम पटल में धर्मपूर्वक शरीर की रक्षा[१] करने तथा श्रद्धापूर्वक पारद के ज्ञान[२] को प्राप्त करने का उपदेश किया गया है। द्वियीय पटल में शिष्य को दीक्षा देने का विधान बताया गया है। तृतीय में मन्त्रन्यास, चतुर्थं में यन्त्र, मूषा और अग्नि वर्णन, पञ्चम में औषधि निर्णय, षष्ठ में अभ्रकादि लक्षण-संस्कार निर्णय, सप्तम में महारस, उपरस, लोह-लक्षण संस्कार, रत्न-द्रावण-मारण निर्णय, अष्टम में बीज साधन, नवम में विड कथन, दशम में रसशोधन, एकादश में अभ्रकजारण, द्वादश में रसबंधन, त्रयोदश में द्रुतिबंधन, चतुर्दश में वज्रबन्ध, पञ्चदश में पिष्ठिस्तम्भ महारसोपरस वज्रबन्ध, षोडश में रसरञ्जन, सप्तदश में लोहवेध और अष्टादश में देहवेध का वर्णन है। इस ग्रंथ का रस संहिता[३] से उद्धार किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें कुल २३१७ श्लोल

---

१. देवानामपि देवेशि ! दुर्लभं पिण्डधारणम्।
किं पुनर्मानुषाणान्तु धरणीतलवासिनाम् ॥१४॥
धर्मे नष्टे कुतो धर्मः धर्मे नष्टे कुतः क्रिया।
क्रियानष्टे कुतो योगः योगे नष्टे कुतो गतिः ॥१५॥
गतिनष्टे कुतो मोक्षो मोक्षे नष्टे न किञ्चन।
तेन पिण्डो महाभागे ! रक्षणीयः प्रयत्नतः ॥१६॥

२. यावन्न शक्तिपातस्तु न यावत् पाशकृन्तनम्।
तावत्तस्य कुतो बुद्धिः जायते मृतसूतके ॥२३॥
मद्यमांसरता नित्यं भगलिङ्गेषु ये रताः।
तेषां विनष्टबुद्धीनां रसज्ञानं सुदुर्लभम् ॥२४॥
कुलशासनहीनानां सद्दर्शनमकांक्षिणाम्।
न सिध्यति रसो देवि पिबन्ति मृगतृष्णिकाम् ॥२५॥
गोमांसं भक्षयेद् यस्तु पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये रसज्ञमपरेऽधमाः ॥२६॥

३. इति श्री पार्वती-परमेश्वर संवादे रसार्णवे रससंहितायां······

(६०+१३३+३३+६५+५६+१३९+१५४+८८+१६+६०+२२१ + ६८२+३१+१७४+२०७+११०+ १६६+२३०) एवं अनेक मंत्रों का उल्लेख है ।

एक दूसरी रसार्णव की पुस्तक कलकत्ता प्रेशिडेंसी कालेज के रसायनाध्यापक डा० प्रफुल्लचन्द्र राय डी० एस० सी०, पी० एच० डी०, हिन्दूरसायनेतिहासप्रणेता; तथा श्री हरिश्चन्द्र कविरत्न जी द्वारा संकलित और संशोधित की हुई देखने को मिली । इसका प्रकाशन शक संवत् १८३२ में हुआ है । पुस्तक का सम्पादन बहुत ही उच्चकोटि का और आधुनिक शैली के अनुरुप है । विषय-सूची शब्दावली एवं स्थान-स्थान पर की गई टिप्पणी ग्रंथ को समझाने में अच्छी तरह से मदद देती है ।

इसकी रचना बारहवीं शताब्दी की है और रचयिता कोई बौद्ध भिक्षु हैं, ऐसा डा० राय का मत मुझे उचित नहीं प्रतीत होता ।

रसप्रकाश सुधाकर—इसके कर्ता पं० पद्मनाभ भट्ट के पुत्र श्री यशोधर[1] भट्ट हैं इनका निवास स्थान गुजरात प्रान्त के जूनागढ़ शहर में था । ये श्री गौड ब्राह्मण थे । "भारतीय रसायन का इतिहास" ग्रन्थ के लेखक डा० प्रफुल्लचन्द्र राय ने गवेषणा के पश्चात् यह निश्चित किया है कि इन (श्री यशोधर भट्ट) का काल स्त्रिस्तीय तेरहवीं शताब्दी रहा है ।

---

१. श्रीनारायण भक्तिसक्त मनसो विद्याविनोदाम्बुधेः
श्रीगौडान्वय पद्मनामसुधियस्तस्यात्मजेनाप्ययम् ।
सद्वैद्येन यशोधरेण कविना विद्वज्जनानन्दकृद्ग्रन्थोऽयंग्रथितः
करोतु सततं सौख्यं सतां चेतसि ॥१४॥

देशानां सुरराष्ट्रमुत्तमतमम् तत्रापि जीर्णाभिधः
प्राकारोऽस्ति सवेदशास्त्रनिरतैर्विप्रैश्चसंशोभितः ।
तस्मिन् विष्णुपदारविन्दरतिभृच्छ्रीपद्मनाभाभिधस्तत्पुत्रेण
यशोधरेण कविनाग्रंथः स्वयं निर्मितः ॥१५॥

संबोधाय सतां सुखायसरुजां शिष्यार्थं संसिद्धये
वैद्यानामुपजीवनाय विदुषामुद्वेगनाशायवै ।
श्रीमद्दुर्गे पुरातनेऽतिनिपुणः श्रीपद्मनाभात्मजः
श्रीमद्भट्ट यशोधरः कविवरो ग्रन्थं स्वयंनिर्ममे ॥१६॥ (१३ अध्याये)

इस ग्रन्थ में कुल १३ अध्याय है। प्रथम अध्याय में मङ्गलाचरण,[1] ग्रन्थानुक्रमणिका, पारद की उत्पत्ति तथा उसके १८ संस्कारों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में पारद के बन्धन के भेदोपभेदों—मूलिकाबन्ध के ५ प्रकार, २ प्रकार का वज्रबन्ध, अभ्रक द्रुतिबन्ध, हेमद्रुतिबन्ध, वज्रद्रुतिबन्ध, और धातुबन्ध के ५ प्रकारों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में रस के भस्म बनाने की विधियों, हिंगुल से पारद निकालने की विधि, रसकर्पूर, उदयभास्कर रस, रक्तरस, रसमाणिक्य प्रभृति का निर्माण, गन्धक जारण, रसपोट्टली, कृष्णभस्म, शुद्धरस भस्म के २ योग तथा रसपर्यटी के २ योगों का वर्णन है। चौथे अध्याय में धातुओं का शोधन, मारण (भस्म निर्माण) के प्रकार, और स्वर्णभस्म के गुणों का वर्णन है। इसी प्रकार रजत, ताम्र, लोह, वङ्ग, नाग, पित्तल (रीति) कांस्य, वर्तलोह आदि के शोधन, मारण तथा गुणों का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में ८ महारसों अभ्रक, राजावर्त, वैक्रान्त, सस्यक (तुत्थ), विमल, शिलाजनु, रसक, और माक्षिक के भेद, लक्षण, शोधन, मारण और सत्त्वपातन की रीति तथा गुण बताये गये हैं। छठवें अध्याय में आठ उपरसों—ताल, सौराष्ट्री (स्फटिक) मनःशिला, अञ्जन, गन्धक, कंकुष्ठ, कासीस, गैरिक, नवसादर, विड, वराट, अग्निजार, गिरिसिन्दूर, दरद (हिंगुल) और मृद्दारश्रृङ्ग आदि के लक्षण, शोधन, मारण एवं गुणों का वर्णन है।

आठवें अध्याय में नवयोगों का वर्णन है। इनके नाम ज्वरांकुश, ज्वरारि, तरुण-ज्वरारि, ज्वरघ्नीगुटिका, ज्वरकृन्तन, ज्वरसूर्य, प्रतिज्ञावाचक शङ्खोदर रस, आनन्दभैरवी, अतिसार भैरवी, कनक सुन्दरी, कर्पूरसुन्दरी गुटिका, ग्रहणीकपाट, वज्रकपाट, अतिसारहररस, मलपाचनी गुटिका, अतिसारांकुश, अमृतस्रव, पाण्डुनाशन (२ योग), पाण्डुसूदन मृगाङ्क, हेमगर्भ पोट्टली (२ योग), राजमृगाङ्क, लोकनाथ, सूचिकाभरण, पञ्चवक्त्र (२ योग), उन्मत्त, सन्निपाताञ्जन, कनकसुन्दर, सन्निपातभैरव, पञ्चामृत, वातनाशक,

---

१. शशिकलोल्लसितं हि शुमाननं शिवनिधानमधोक्षजपूजितम् ।
जननपालनसंहरणात्मकं हरिहरं प्रथमं प्रणमाम्यहम् ॥१॥
कुमुदकुन्दसिताम्बरधारिणीं विमलमौक्तिकहारसुशोभिताम् ।
सकल सिद्धगणैः परिसेवितां परिणमामि भजामि च शारदाम् ॥२॥
वदनकुञ्जरमभ्रदलद्युतिं त्रिनयनं च चतुर्भुजवामनम् ।
कनकरत्नसुशोभितशेखरं गणपतिं प्रथमं (हि ततः) प्रणमाम्यहम् ॥३॥
गिरिशधाम सदामहरद्‌भुतं सकलरोगविघातकरं परम् ।
सकलसिद्धिविधानविशारदं प्रणतपापहरं भवपारदम् ॥४॥

विरेकी, इच्छाभेदी, अग्नि, रामवाण, वह्निसूत, सूर्यावर्त, स्वच्छन्दभैरव, त्रिवि-
क्रम, तालकेश्वर, कुष्टकुठार, कुष्ठघ्न, सूर्यभक्तरस, श्वित्रलेप, सर्वेश्वर, स्वर्ण-
क्षीरी, मेहबद्ध, महावह्नि, विद्याधर, त्रिनेत्र, शूलगजकेशरी, अग्नितुण्डा, अजीर्ण
कण्टक, मन्थान भैरव, सूर्यावर्त, हेमादिपर्पटी, अग्निकुमार, अग्निप्रद, त्रिभुवन-
कीर्ति, स्थौल्यापकर्षण, वातमेहान्तक, प्रमेहाङ्कुश, मेहारि, स्थूलराजगजकेसरी,
सिद्धपञ्चानन, शीतारि, कुमुदेश्वर, यक्ष्महर, पूर्णचन्द्र, स्वर्णपत्र, सर्वसुन्दर,
त्रिदोषशमन, पित्तकर्तन, श्लेष्मकुठार, मेहनाशन, मेहाङ्कुश, मृत्युञ्जय रस,
विरेचनी गुटिका, अमरकलानिधि, भास्करोदय, कामदेव, कन्दर्पसुन्दर, राज-
मृगाङ्क, अमृतसुन्दर रस, खेचरी गुटिका, अमरसुन्दर, तालक राज, अश्मरी-
भित्, अश्मरीभेदक, त्रिपुर भैरव (२ योग), त्रिपुर भैरव (२ योग) रस,
अपस्मार में अञ्जन के दो योग, विषमज्वर में अञ्जन, कृम्यङ्कुश रस और हय-
चोलीवटिका का संग्रह है।

नवम अध्याय में रसौषधियों और महौषधियों का वर्णन, दशम में यन्त्र,
मूषा, कोष्ठी, पुट; एकादश में, हेमक्रिया और तारक्रिया के १७ प्रकार, सुवर्ण
के वर्णोत्कर्ष के २ प्रकार, मोती को छोटे से बड़ा बनाना तथा कृत्रिम प्रवाल का
निर्माण बताया गया है। बारहवें में वाजीकरण के ४ योग और तेरहवें में
शुक्रस्तम्भन के ५ योगों का वर्णन है। सर्वत्र ही शास्त्रकार ने सुपरीक्षित योगों
का वर्णन किया है, कुछ अन्य स्थलों से संगृहीत (अपरिचित) भी हैं। इसका
प्रकाशन आचार्य यादवजी ने सन् १९२३ में दूसरी बार बम्बई से कराया था।
राजवैद्य पं० जीवराम कालीदास ने इस पर गुजराती में टीका लिखी है।

रससङ्केतकलिका—इस ग्रन्थ का निर्माण नैगमकायस्थ जातीय वैद्य श्री
चामुण्ड[1] ने किया। ग्रन्थ में कहीं पर भी उन्होंने इसके अतिरिक्त अपना अन्य
कुछ परिचय नहीं दिया, इससे काल जनपद आदिका अनुमान नहीं लगाया
जा सकता है। ग्रन्थ संक्षिप्त है, कुल ५ उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में
मङ्गलाचरण, पारद की उत्पत्ति, रस के दोष, भेद, और १८ संस्कारों की
विधि का उल्लेख है। संस्कारार्थ १ से ५० पल तक पारद लेनेका विधान है।
मर्दन स्वेदन, मूर्च्छन, पातन, गन्धकजारन, रसबन्ध, भस्मनिर्माण (ऊर्ध्व
और तल विधियों से), रक्त-पीत-कृष्ण-नील और पाटल भस्म के गुण आदि

---

१. शिवं नत्वा रसेशं चामुण्डः कायस्थवंशभूः
करोति रससङ्केतकलिकामिष्टसिद्धिदाम् ॥ १ ॥
इति श्री नैगम कायस्थज्ञातीय चामुण्डकृतायां रससङ्केतकलिकायां
(भग्नितिथि मिते वर्षे (१५३१) चामुण्डो योगिनी पुरे।
रससङ्केतकलिकां कृतवानिष्ट सिद्धिदाम् ॥ ४१ ॥ पञ्चमोल्लासे)

का वर्णन है। द्वितीय उल्लास में धातुओं की भस्मनिर्माण विधि, तृतीय उल्लास में गन्धकादि शोधन प्रकार का वर्णन है। चतुर्थ उल्लास रसाधिकार का है। इसमें विषमज्वर में शीतभञ्जीरस, सन्निपात ज्वर में चैतन्य भैरव और लघुसूचिकाभरण रस, उन्मत्ताख्य रस, संज्ञाप्रबोधन अञ्जन, स्वपनातिप्रवृत्ति में उद्वर्तन, नवज्वर में शीघ्रज्वरारि रस, चातुर्थिक ज्वर में चातुर्थिकारिरस, सभी ज्वरों में अर्धनारी नटेश्वर रस, ज्वरातिसार में हेमसुन्दर, ग्रहणी में आलेकेश्वर, श्वासकास में श्वासकासारि (शिलातालेश्वर) रस, राजयक्ष्मा में राजमृगाङ्क, सिद्धमृगाङ्क और क्षयारि रस, उदररोग में उदरध्वान्तसूर्य शूल में शङ्खभास्कर, कुष्ठ में रक्तारि, मेदोरोग में वडवाग्नि, मूत्रकृच्छ्र में त्रिविक्रम, श्वित्र में श्वेत कुष्ठारि, बातरोग में स्वच्छन्द भैरव, उन्माद एवं अपस्मार में उन्मादगजकेशरी, अग्निमान्द्य में क्रव्याद रस,[1] बडवानल, और अग्निकुमार रस, गुल्म में शङ्खद्राव रस, धातुक्षय में हरगौरी रस (२ योग) मदनकामदेव, मृत्युञ्जय और हरगौरी कामदेव मृत्युञ्जय रस, वाजीकरणार्थ मानिनीमानमर्दन, प्रेमह में कामदरस, सन्तानार्थ पुत्रप्रदरस, नेत्ररोग में दिव्य दृष्टिकररस, उदर रोग में सारणसुन्दररस, वमनकारक रस, वामकेश्वररस का वर्णन है।

पञ्चम उल्लास गुटिकाधिकार है। इसमें सर्वरोगे जया गुटिका, कास में विजया और कासकर्तरी गुटिका, अर्श शङ्कर वटिका, ग्रहणी में शङ्ख वटिका, शूलरोग में सूर्यप्रभा वटिका, प्रमेह में चन्द्रकला वटिका, क्लैव्य में भोगसुन्दरी गुटिका, नागार्जुन गुटिका, सर्पादि विषरोग में महामृत्युञ्जया गुटिका, उन्माद में कितव वटिका, अलर्क विषहा गुटिका, सन्निपात ज्वर में मृतसञ्जीवनी गुटिका, ज्वरनाशिनी गुटिका सुप्रचेतना गुटिका नेत्ररोग में नागार्जुनी वर्तिका, ज्वरनाशन विरेक, वमनकारकरस, वातरोग में महद्वातारि-तैल, कर्णरोग में कर्णामृत तैल, और राजवल्लभ धूम का वर्णन है। रससङ्केत कलिका की द्वितीयावृत्ति का प्रकाशन आचार्य यादवजी ने सन् १९२३ में आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के सप्तम पुष्प के रूप में कराया।

रसप्रदीप या बृहद् रस प्रदीप—इस ग्रन्थ के निर्माता का नाम पं० प्राण नाथ[2] है। इसके अलावा इनका दूसरा कुछ भी परिचय उपलब्ध नहीं होता। ग्रन्थ का प्रकाशन पं० श्यामसुन्दर शास्त्री, इटावावासी ने सन् १९३८ में

१. सिंहणक्षोणिपालाय भूरिभोज्यप्रियायच ।
दत्तवान् भैरवानन्दो भूपो ग्रामाष्टकं ददौ ॥ ७७ ॥ चतुर्थोल्लासे

२. इति श्री पं० प्राणनाथप्रणीते रसप्रदीपे
यस्मिन् सर्वं यस्य सर्वं यतः सर्वं यस्मादिदम् ।

कराया। इसकी मूल लिपि लगभग २०० वर्ष प्राचीन थी, ऐसा चतुर्वेदी जो का मत है। इस ग्रन्थ के योग अनुभूत और उत्कृष्ट फलदायी हैं ऐसा प्रकाशक का मत है। इनके पिता पं० शिवसहाय चतुर्वेदी जी ने इसकी भाषा टीका की है। स्वयं ग्रन्थकार का भी मत है कि इसका अध्ययन किये बिना जो चिकित्सा प्रारम्भ करता है वह अवश्य स्खलित होता है।

इसमें कुल दो अध्याय या खण्ड हैं। प्रथम अध्याय में धातुओं की संख्या उनका तैलादि में शोधन, सूत का मारण, मण्डूर निर्माण, उपधातुओं की संख्या शोधन, धातूपधातुओं का मारण, रस का शोधन, चन्द्रोदय निर्माण को १३ विधियों का वर्णन, रसकर्पूर निर्माण विधि, षड्गुण बलि जारण आदि का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय में रोगाधिकारों और उनकी औषधियों का वर्णन है। ज्वराधिकार में महामृत्युञ्जय रस, नवज्वर में लघुमृत्युञ्जय रस, मृत्युञ्जय रस, ज्वरधूमकेतु, नवज्वरेभ सिंह, उदकमञ्जरी रस, सन्निपात ज्वर में पञ्चवक्त्र रस, अग्निकुमार रस, मृतोत्थापन रस, ब्रह्मास्य रस, सूचिकाभरण रस, कल्पतरु रस, उन्मत्ताख्य रस, विषमज्वर में रामबाण रस, शीतारि रस, सोमलतादि बटी, भूतभैरव रस (२ योग), जीर्णज्वरारि रस, तिक्तादि लोह, पञ्चामृत-पर्पटी, लघुवसन्त मालती, स्वर्ण मालिनी वसन्त, अपूर्व मालिनी वसन्त का वर्णन है।

अतिसार में गङ्गाधर रस, ग्रहणीकपाट, अर्श में मालिनी बसन्त[1], तीक्ष्ण-मुख रस, विबन्धारि रस, अर्शकुठार रस, अग्निमुख लोह, पारद रसायन, बोल-बद्ध रस, रक्तारि और अर्शोरि रस का वर्णन है। अग्निमांद्य में शङ्खद्राव, क्रव्याद रस[2], अग्नितुण्डी वटी, विसूचिका में अग्निकुमार रस, कृमिरोग में कृमिमुद्गर रस, पाण्डुरोग में पाण्ड्वरि रस, रक्तपित्त-अम्लपित्त में रसेन्द्रवटी,

---

येन सर्वं यद्धि सर्वं तद् सत्यं समुपास्महे ॥
श्री मन्मुकुन्दचरणौ नत्वा तोषाय सद्भिषजाम् ।
क्रियते रसप्रदीपो गदकुलतिमिरापहः श्रेष्ठ ॥
अनधीत्य मत्कृतं यो ग्रन्थं कुरुते चिकित्सां मूढ़ः ।
स्खलित चिकित्साकरणे वर्त्मनि विषये यथैवान्धः ॥

१. लीढो नवनवनीतैः केशरशुभ्रोपलान्वितः प्रातः ।
सद्यो रुणद्धि रक्तं पूर्वोक्तो मालिनी बसन्तः ॥

२. रसः क्रव्यादनामायं भैरवानन्दयोगिना ।
उक्तः सिंहलराजाय बहुमांस रसान्वितः ॥

क्षुधावती गुटिका, श्वास रोग में श्वासकुठार रस, सूर्यावर्त रस, हिक्काहर योग; क्षयरोग में स्वयमग्निरस, मृगाङ्क रस (वैद्य विलास से द्वितीय मृगाङ्क रस), मृगाङ्कपोट्टली रस, राजमृगाङ्क रस, कुमुदेश्वर रस, सिद्ध मृगाङ्क रस, उरःक्षत में विंध्यवासि योग, छर्दि-मूर्च्छा-तृष्णा-भ्रम-दाहहर योग, मदात्यय में क्षीरसागर और रसामृत रस, उन्माद में उन्मादकेशरी रस, अपस्मार में योगराज योग, इंगुदीफलचूर्ण नस्य, वातव्याधि में समीरगजकेशरी, वातारि रस, आमवात में गन्धक कल्प, कफरोग में कफकेतुमन्थान भैरव रस, पित्तरोग में वसन्तमालिनी, क्षीरसागर का निर्देश, वातरक्त में हरताल प्रयोग, शूल में शूलगजकेशरी, गौर्यरस, उदयभास्कर रस, परिणाम शूल अन्नद्रव शूल चिकित्सा योग, गुडमण्डूर, नाराचरस, गुल्म प्लीह आदि में विद्याधर रस, मूत्रकृच्छ्रादि में लघुशिवा गुटिका, अश्मरी में त्रिविक्रम रस, प्रमेह में शृङ्गाराभ्र, चन्द्रकला, महाचन्द्रकला, वाजीकरणार्थ मृत्युञ्जय, त्रैलोक्य मोहन रस, स्थौल्य में लोहरसायन, उदररोग में कूष्माण्डक्षार, शोथ में नवायस चूर्ण, खण्ड खाद्य, सुधानिधि, अण्डवृद्धि हरयोग, व्रण में रक्तारिरस, भगन्दर चिकित्सा, उपदंश में रसायन वटी तथा अन्य योग, शूकदोष चिकित्सा में कासीसादि घृत, गौराद्यतैल, दशांगलेप तथा अन्य योग, जात्यादिघृत, कुष्ठ में उदयादित्य रस, कुष्ठ कुठार रस, कपाल कुष्ठ में मरिचादि तैल, त्वक्शून्यता में स्वर्णक्षीरी रस, विसर्प में कालाग्निरुद्र रस, विस्फोट में रसयान वटी, प्रसूतप्रदर में सुवर्ण पर्पटी, तिमिर में मुक्ताञ्जन, योनिरोग चिकित्सा तथा गर्भधारक योगादि का वर्णन है।

लोहसर्वस्व—इसके रचयिता श्री सुरेश्वर हैं। इनके पिता का नाम श्रीमद् भद्रेश्वर था। किन्तु इनके भी काल और स्थान का ज्ञान नहीं हो पाता। ग्रन्थ बनाने का प्रयोजन बताते हुए इन्होंने लिखा है कि क्षीण, दुर्बलाग्नि और भेषज से द्वेष करनेवाले रोगियों के लिये स्वादु, अल्पमात्रा में और लघुपाकी होने के करण लोह देना ही हितकर होता है। इसका वीर्य उग्रतर होता है, अतएव व्याधि को शीघ्र ही शान्त कर देता है। सुश्रुत हारीत, और व्याडि एवं नागार्जुन आदि आचार्यों ने जिन लोहतन्त्रों का व्याख्यान किया है उन्ही के आधार पर इस लोह सर्वस्व[1] की रचना की जा रही है।

---

१. तत्र नानारुजाक्रान्तशरीराणां शरीरिणाम्।
क्षीणानां दुर्बलाग्नीनां भेषजद्वेषिणामपि ॥ ४ ॥
स्वादुत्वात् स्वल्पमात्रत्वात् लघुपाकितयाऽपि च।
प्रत्युग्रतरवीर्यत्वाल्लोहमेव प्रशस्यते ॥ ५ ॥
इति सुश्रुत-हारीत-व्याडिनागार्जुनादिभिः।

यद्यपि लोह ८ हैं किन्तु इनमें तीक्ष्ण लोह, अभ्रक, स्वर्ण और ताम्र, इन चार पर ही विवेचन किया गया है। प्रत्येक की उत्पत्ति, उनके लक्षण, शोधन तथा सिद्ध योगों का वर्णन है। ग्रन्थ कहीं कहीं पर खण्डित भी है। इस समय इसके ३१५ श्लोक मिलते हैं जिसका प्रकाशन आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के चौदहवें-पन्द्रहवें पुष्प के रूप में रसपद्धति के साथ-ही-साथ आचार्य यादव जी ने सन् १९२५, (सं० १९८१) में कराया है। उत्पत्ति परक वर्णन सभी धातुओं का ऐतिहासिक कथाओं के रूप में वर्णित है। लोह का या किसी भी धातु का पत्र बनाकर ही शोधन-मारण करना चाहिये। लोहमारक औषधियों का विवेचन तथा उसके मारण की विधि, मृतलोह की परीक्षा, पुटविधान, पुटके लिये भावन प्रदानार्थ प्रयोज्य वनस्पतियों का उल्लेक, प्रशस्त लोह भस्म का स्वरूप तथा सेवनविधि का वर्णन है।

इसीतरह से अभ्रक का शोधन, सत्त्वपातन, मारण तथा मारित अभ्रक सेवन विधि, सुवर्ण की उत्पत्ति, गुण, शोधन-मारण और मारित हेमगुण, ताम की उत्पत्ति, शोधन-मारण आदि का उल्लेख है। योगों में अलग-अलग ४ योग दो-दो को मिलाकर ६ योग तथा तीन-तीन को मिलाकर ३ योग बनाये गये हैं। औषधियों को मिलाकर मर्दन करते समय '(ॐ अमृतोद्भवोद्भवाय स्वाहा) मन्त्र'[1] बोलने का विधान किया गया है। योगों की प्रयोग विधि और अनुपान पथ्यादि का विस्तृत विवेचन किया गया है। लोह के योगों में नवायस, रसगर्भायस, अग्निमुख लोह, भल्लातक लोह, वासाद्य लोह, रोग-राजामृत, धात्रीलोह, विडंगाद्यलोह, चतुर्दशायस्, लोहाष्टक, धात्री खण्डायस, वासाखण्डायस, दार्वीलोह, बराद्यलोह, तिक्ताद्यलोह, त्रिफलायस, पथ्यायस, वचायस, कृष्णायस, यष्ट्याद्यलोह, शम्बूकायस, कुटजायस, अभ्रक के योगों में गन्धाभ्रक, सप्ताभ्रक, योगसाराभ्रक, त्रिनेत्र, तुरङ्गाभ्रक, ब्रिकलाभ्रक स्वर्ण के योगों में अमृतप्राश, प्रयोगामृत, हेमनवक, मृत्युञ्जय, त्रिशक्तिकाञ्चन, पौष्टिक, और सिद्धरसायन तथा ताम्र के योगों में त्रिफलार्क, उदयभास्कर, और त्र्यम्बक का वर्णन है। ये एकाकी योग हैं।

प्रोक्तानि लोहतन्त्राणि समालोक्य सुरेश्वरः ॥ ६ ॥
ब्रवीति लोहसर्वस्वं श्रीमद्भद्रेश्वरात्मजः ॥

१. रक्षामन्त्र—ॐ अमृतोद्भवाय फट्।
बलिमन्त्र—ॐ नमश्चण्डवज्रपाणये महायक्षसेनाधिपतये सुरु-सुरु महाविद्याबलाय स्वाहा।
प्राशनमन्त्र—ॐ अमृते हुम्।

दो दो धातुओं को मिलाने पर गगनायस, चतुर्मुख, गगनामृत, गगनार्क, चतुःसमक, व्योममार्तण्ड, कनकाम्बुद, चतुर्भुज, हेमाम्बुद, काञ्चनार्क, कनकार्क, चतुःसागर, काञ्चनायस, जातरूपायस, हेमायस, चतुर्भद्र, तपनायस, लोहभास्कर तथा चातुर्भद्र का उल्लेख है। तीन-तीन के योग से हेमाम्बुद लोह के दो योग, पञ्चभद्रक, हेमार्द लोह के दो योग, पञ्चसार, अर्कहेमाम्बुद, अर्कलोहाभ्रक, पञ्चानन, वारिद भानुहेम, हेमघनार्क और पञ्चगर्भक। सभी को मिलाकर चतुरङ्ग लोह, पञ्चाङ्गलोह, पञ्चामृतलोह, षण्मुखलोह, षडङ्ग-लोह, सप्तायस, सप्ताङ्गलोह।

इन योगों[1] का दोष, बल, काल और वय का विचार करके सभी रोगों में अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिये। मात्रानिर्धारण का भी उपर्युक्त वातों पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

पारदयोगशास्त्र—इस ग्रन्थ की रचना श्रीमद्रसायनाचार्य शिवराम योगीन्द्र ने की है जिसका प्रकाशन श्रीमद् दैवज्ञरत्न पण्डित जीवानन्द जी के पुत्र प्राणाचार्य श्रीसदानन्द शर्मा के सम्पादकत्व में हुआ। संवत् १९८० में पंजाब संस्कृत पुस्तकालय के अध्यक्ष मोतीलाल बनारसी दास ने इसको अपने मुद्रणालय में छापा। इस ग्रन्थ में उपलब्ध साहित्य को देखने से यह नहीं विदित हो पाता कि ये आचार्य कब हुए और किस स्थान के निवासी थे।

यह ग्रन्थ भी शिव-पार्वती संवाद के रूप में उपनिबद्ध है जिसमें कुल ग्यारह पटल हैं। कुछ २६२ श्लोकों में विरचित (क्रमशः ९०+२६+२८ +२४+१५+७+१८+१६+१७+११+१३) इस तन्त्र का संशोधन सम्यग् रूपेण न हो सका ऐसा सम्पादक ने भी स्वीकार किया है इसीलिये कुछ स्थल दुर्बोध बने हुए हैं, प्रथम पटल अन्य सभी से विस्तृत है, इसमें षण्मित्रक्षार, शुक्तितोय, करर्क-सिद्ध-गीर्वाण-सुधा और हेमङ्गवाख्य पारद, गन्धक-गौरीपाषाण-दरद-मनःशिला-ताल और शङ्खपाषाण को अग्निस्थायी बनाने का विधान तथा वंगभस्म बनाने का उल्लेख है। द्वितीय पटल में गन्धक के दोष, उसका शोधन, सिद्ध गन्धक और गन्धक तैल बिधि बताई गई है। तीसरे पटल में दारिद्रय भञ्जिनी सिद्धि का शातक विधान और शातकी कलंक विधान द्वारा उपदेश किया गया है। चतुर्थ पटल में पारद की

---

१. एतेषु दोष बल काल वयोनुरूपं बुद्धया विकल्प्य सकलान्यपि भेषजानि।
योगप्रपञ्चनिचये रचनासु मात्रावैचित्र्यमत्र विदधीत विशालबुद्धिः॥ ३१४॥
एतत् सुरेश्वर कवीश्वर वाग्विलास लासण्य धन्यपदपद्धति सिद्धरूपम्।
भूयाद् भवाय विभवाय चिराय लोह सर्वस्वमुज्वलधियां विपुलश्रिये च॥ ३१५॥

वेधिनीशक्ति को बढ़ाने वाले संस्कारों का वर्णन है। पञ्चम पटल में महीनग प्रयोग तथा वेधन के अन्य विशिष्ट संस्कारों का वर्णन है। षष्ठ पटल में स्वर्ण सिद्धि के अन्य प्रयोग बताये गये हैं। संक्षेप में ३ से ६ पटलों में हेमकृष्टि का विवेचन है। सप्तम पटल में वर्णोत्कर्ष करने वाले योग हैं।

अष्टम पटल में स्वर्ण वेध (मायाबीज के प्रभाव से) तथा अभ्रसिन्दूर निर्माण का प्रकार बताया गया है नवम पटल में सर्वसाधारण कलङ्क विधान दशम पटल में शतवेधी वैक्रान्त रस निर्माण और एकादश पटल में वङ्गस्थापन प्रकार तथा कर्पूरद्राव विधान का उपदेश है।

रसपद्धति—इस ग्रन्थ की रचना भिषग्वर बिन्दु ने[1] की है। इस पर इनके पुत्र श्री महादेव पण्डित ने टीका बनाई है जिसमें ग्रन्थान्तर से भी विषयों का उपनिबन्धन किया गया है। ये लोग महाराष्ट्र देश के निवासी थे क्योंकि औषधियों का परिचय इन्होंने महाराष्ट्रीय भाषा में प्रचलित शब्दों द्वारा ही किया है। आयुर्वेद प्रकाश और रसकामधेनु आदिग्रन्थो में इसके पाठ का उद्धार किया गया है अतएव प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ उनसे प्राचीन है।

इसमें कुल २३१ श्लोक हैं जिसमें १८६ श्लोकों तक ही टीका उपलब्ध होती है। दैवी, मानवी और आसुरी—इस प्रकार चिकित्सा के तीन भेद और दैवी बताने के पश्चात् पारद का स्वरूप उसके सप्तदोष और उनसे उत्पन्न होनेवाले रोग, स्वेदन-मर्दन-मूर्च्छन-अधःपातन-तिर्यक् पातन रोधन-संयमन और सन्दीपन प्रभृति अष्ट संस्कार, अष्ट संस्कार न कर सकने की अवस्था में स्वल्प शोधन प्रकार, हिङ्गुलोत्थ पारद के निर्माण की विधि, लोह-ताम्र आदि धातुओं का शोधन, मारण और उसके आमयिक प्रयोग, उपरसों का वर्णन, पारद के अन्य संस्कार, रस सिन्दूर एवं रस कर्पूर निर्माण, रत्नों का वर्णन, रक्तपित्त-श्वास-कास-हिक्का-राजयक्ष्मा की निदान-चिकित्सा, नव ज्वर के लिये भैरवी वटी, चन्द्रवटिका, ज्वरहर रस, अष्ट याम गुटिका, आतङ्क रस, नवज्वर मुरारि रस, ज्वर प्रोत्थित रस, नवज्वरहरी वटिका, नव्यचन्द्राभिध रस, मृत्युञ्जय रस चिन्तामणि रस, विद्याधरी गुटिका, त्रैलोक्यतापहर रस, इन रसों का पुराण ज्वर अथवा अन्य रोगों में भी देने का निर्देश, अन्य ज्वरहर

---

१. नत्वा निष्कपटं निरञ्जनधिया निर्विघ्नमीशश्रिया-
मायुर्वेदविदां मुदे सुभिषजामेषा मया बिन्दुना।
ग्रन्थेभ्यः परिगृह्य सारमखिलं सूत्रैश्चिकित्सा सखी,
वृक्षेभ्यः स्रगिव प्रसूननिचयैः संग्रथ्यते पद्धतिः॥ १॥
इति श्री बिन्दुविरचिता रसपद्धतिः सम्पूर्णा,
इति श्री महादेव पण्डित कृता रसपद्धति टीका संपूर्ण।

योग यथा स्वच्छन्दगोलाख्य रस, महाज्वराङ्कुश, सूतेश, एक सूतेश्वर रस, शीतादि रस, ज्वरान्तक रस, अर्धनारीश्वर रस, कुष्ठादि वटी, चिन्तामणि तैल, कालानल रस, अश्वानल रस, ज्वरारि रस, शीतज्वरारि, ज्वररिपु, चातुर्थिकेभाङ्कुश, मालिनी बसन्त, सुधापिप्पली योग, लघुमालिनी बसन्त, पञ्चामृत पर्पटी, मुक्ताराजमृगाङ्क, महामृगाङ्क के दो योग, नवरत्नमृगाङ्क, मुक्तामृगाङ्क, सर्वेश्वर रस, चतुर्मुख रस, त्रैलोक्य चिन्तामणि रस, बसन्त राज रस, महालक्ष्मी विलास, लक्ष्मी विलास के दो योगों तथा कामदेव रस के दो योगों का इस ग्रन्थ में वर्णन है।

रस प्रदीप—इस ग्रन्थ का निर्माण कब और किसके द्वारा हुआ, ऐसा प्रतीत नहीं हो पाता। ग्रन्थ का प्रकाशन खेमराज श्री कृष्णदास जी के लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस से सन् १९३५ ई० (सं० १९९२, शाके १८५८) में हुआ है। इस पर बेरी ग्राम निवासी श्री शिवसहाय जी के पुत्र श्रीयुत् रविदत्त शास्त्री ने भाषा टीका की है। टीकाकार ने भी इससे अधिक अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया।

इस ग्रन्थ में प्रारम्भ में बहुत से योगों की निर्माण विधि और आगे चलकर भस्मों के निर्माण का विधान बताया गया है। यह इस बात का द्योतक प्रतीत होता है कि पहले ग्रंथकार का विचार योगों के ही संकलन का रहा था। कुल ग्रंथ २८२ श्लोकों में समाप्त हुआ है। कल्पतरु रस, भैरव रस, सूर्यशेखर रस, चन्द्रशेखर रस, मृतसञ्जीवनी गुटिका, कनक रस, सन्निपातानल रस, सन्धिकारि रस, पञ्चवक्त्र रस, मृतसञ्जीवन रस आदि ज्वराधिकार में; आनन्दभैरव रस, अग्निकुमार रस, ग्रहणीकपाट रस का ग्रहणी में, नित्योदित रस का अर्श में, चिन्तामणि रस का आध्मान में, राजवल्लभरस का अजीर्ण में, सन्निपात-गजांकुश रस, उन्मत्त रस, मार्तण्ड रस का सन्निपात ज्वर में, क्रिमिकुठार रस का क्रिमिरोग में, क्षयकेशरी रस का क्षयरोग में, भूतांकुश रस का वातज कास में, कासकर्तरि और श्वासकासारि रसों का श्वासकास में, श्वासहेमाद्रि रस का महाश्वास में, वातरक्तरि रस और अर्केश्वर रस का वातरक्त में और समीरपन्नग रस का वातव्याधि में, सोमातिसृत्य रस का सोमरोग में, पाषाणभेदक रस का अश्मरीरोग में, चन्द्रकला वटी, हरिशङ्कर रस और प्रमेहारि रस का मेह रोग में, पारदादि रस, षट्कद्वादि चूर्ण का मेदोरोग में, वङ्गेश्वर और इच्छाभेदी रस का गुल्म, उदर आदि में, वातरक्तारि रस का वातरक्त में, गुञ्जाभद्र रस का अरुस्तम्भ में, आमवातारि रस का आमवात में, शूलान्तक रस, सर्वशूल-कुठार रस का शूल में, शूलनिकृन्तन रस का उदरशूल में लेप लगाने के लिये, शिखिवाडव रस, वासुकीभूषण रस का गुल्म में, गण्डमालाकण्डन रस का गण्ड-

माला में, व्याधिहरसूत का रसायन के रूप में, विजयेश्वर रस का श्वेत कुष्ठ में, लोह रस का वातरक्त आदि में प्रयोग करने का विधान और उनके घटक, निर्माणविधि आदि का वर्णन किया गया है।

सुवर्ण भस्म बनाने की ४ विधि, रौप्य की दो, ताम्र-पित्तल और कांस्य की एक, नाग की दो, वंग की एक, लोह की चार, और सभी धातुओं के मारणार्थ एक विधि का उल्लेख मिलता है। सप्त उपधातुओं का शोधन मारण एवं सत्त्वपातन, रत्नों का शोधन मारण और शिलाजतु शोधन एवं मण्डूर के शोधन मारण का विधान बताया गया है। अन्त में प्रतिसार्य क्षार, ज्वरांकुश रस, ज्वरारि रस, शीतारि रस, ज्वरविभञ्जनीगुटिका ज्वर में; लोकनाथ रस का क्षयज अतीसार में बनाने और प्रयोग करने का विधान बताया गया है।

इस ऊहापोह से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के संग्रहकर्ता ने उन्हीं योगों और विधियों का संकलन किया है जो शतशोऽनुभूत हैं।

रसमञ्जरी—इस ग्रन्थ के रचयिता श्री वैद्यनाथ के पुत्र श्री शान्तिनाथ[1] हैं। इनके भी स्थान और काल का निर्णय कर सकना बड़ा मुश्किल है क्योंकि संपूर्ण ग्रन्थ में किसी प्रकार का ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर कुछ अनुमान लगाया जा सके। पुस्तक का प्रकाशन श्री गङ्गाविष्णु श्री कृष्णदास जी ने सं० १९८४ (शक १८४९) में लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस से किया है। इस पर मथुरा तिवासी मुखिया जी रघुनाथ जी श्रीकृष्णलाल की भाषा टीका है। सम्पूर्ण पुस्तक में कुल १० अध्याय और एक परिशिष्ट है। परिशिष्ट पीछे से जोड़ा लगता है जिसमें बहुमूत्रहर अर्क, गर्भकारक योग, बाजीकण योग, प्रदरहर योग, प्लीहहर योग और अश्मरीहर योग का वर्णन है।

प्रथम अध्याय में रसशोधन प्रकरण है। मङ्गलाचरण, ग्रन्थकर्ता परिचय, पारद प्रशस्ति,[2] गुरुशिष्य लक्षण वर्णनोपरान्त पारद के दोष और उनसे मुक्तिपाने के प्रकार का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में पारद के जारण और मारण की विधि बताई गई है। यहाँ भी उमामहेश्वर संवादात्मक क्रम है। सुपर्णजारण रसमारण और रससिन्दूर तथा रसकर्पूर बनाने की विधि बताई गई है। तृतीय अध्याय में उपरसों के शोधन मारण की विधि बताई गई है। चतुर्थ अध्याय में विषों का शोधन मारण, पञ्चम अध्याय में अष्ट धातुओं

---

१. श्री वैद्यनाथतनयः सुनयः सुशीलः श्री शान्तिनाथ इति विश्रुतनामधेयः।
तेनावलोक्य विधिवद् विविधप्रबन्धानारभ्यते सुकृतिना रसमञ्जरीयम्॥ ३॥

२. हरति सकलरोगान् मूर्च्छितो यो नराणां वितरति किल बद्धः खेचरत्वं जवेन।
सकलसुरमुनीन्द्रैर्वन्दितं शम्भुबीजं स जयति भवसिन्धोः पारदः पारदोऽयम्॥ ५॥

का शोधन मारण का विधान बताया गया है। ये सभी विधान अनुभूत से प्रतीत होते हैं।

छठवें अध्याय में व्याधिहर योगों का वर्णन है जिनमें रत्नगर्भपोटलीरस, मृगाङ्करस, लोकनाथ पोट्टलीरस, लोकेश्वर पोट्टलीरस, राजमृगाङ्करस, रत्नगिरिरस, हिङ्गुलेश्वररस, शीतभञ्जीरस, शीतारिरस, ज्वरराजरस, अमरशीत भज्जी रस, महाज्वराङ्कुश रस, प्राणेश्वर रस, नवज्वरेभसिंह रस, पञ्चानन ज्वराङ्कुश, पञ्चानन रस, मृतसञ्जीवन रस, रविसुन्दर रस, सन्निपातभैरव रस, भस्मेश्वर रस, प्रतापलङ्केश्वर रस, महोदधि रस, उन्मत्ताख्य रस, संज्ञाकरण रस, चन्द्रशेखर रस, कनकसुन्दर रस, रामबाण रस, चन्द्रप्रभावटी, चित्राम्बर रस, ग्रहणीकपाट रस, वज्रकपाट रस, अपर ग्रहणीकपाट, विजयभैरव रस, आनन्द भैरव रस, मेघडंबर रस, त्रिगुणाख्य रस, बातारि रस, वातगजाङ्कुश रस, अम्लपित्त नाशक रस, अग्निकुमार रस, लीलाविलास रस, मन्थान भैरव रस, लघु अग्निकुमार रस, क्रव्याद नामा रस, अग्नितुण्डी वटी, आनन्दोदय रस, महोदधिवटी, चिन्तामणि रस, राजवल्लभ रस, त्रिनेत्राख्य रस, मेहवज्र रस, इन्द्रवटी रस, रसेन्द्रमङ्गल रस, सर्वेश्वर रस, तालेश्वर रस, स्वर्णक्षीरी रस, शूलराज केशरी रस, द्वितीय तालेश्वर रस, ब्रह्म रस, शशिधर रस, पारिभद्र रस, श्वेतारि रस, कालाग्निरुद्र रस, मकरध्वज रस, मदनकामदेव रस, पूर्णेन्दु रस, कामिनी मदभञ्जन रस, मदनोदय रस, अनङ्गसुन्दर रस, कामेश्वर रस, अजीर्णकंटक रस, उदयभास्कर रस, रौद्ररस, नित्योदित रस, अर्शःकुठार रस, विद्याधर रस, वंगेश्वर रस, उदरारि रस, नाराच रस, इच्छाभेदी रस का वर्णन है।

सातवाँ अध्याय रसायनाधिकार है। क्षेत्रीकरण का विधान, गंधामृत रसायन, हेमसुन्दर रस, मृतसंजीवनी गुटिका, वीर्यरोधनी गुटिका का इसमें उल्लेख है। आठवें अध्याय में नेत्ररोग की चिकित्सा का वर्णन है। बर्ति बनाने की विधि तथा कतिपय योग चन्द्रोदयावर्ति, अञ्जन, केशरञ्जन तथा केशशुक्लीकरण के योग बताये हैं। नवें अध्याय में वीर्यस्तंभन, लिङ्गस्थूली करण, ध्वस्तकरण, षण्ढत्वहरण, षण्ढत्वनाशन, स्त्रीद्रावण, स्त्रीवशीकरण, स्त्रीकर्षण, वशीकरण, भगसङ्कोचन, लोमशातन, विद्वेषकरण, स्तनदृढीकरण, वन्ध्या करण, वन्ध्यात्वनिवारण, गर्भस्तम्भन, सुखप्रसवोपाय, बालतन्त्र आदिका वर्णन है। दशवें अध्याय में कालज्ञान अर्थात् दूत, शकुन अरिष्ट और छाया पुरुष का वर्णन है।

रसाध्याय—इस ग्रन्थ का अन्तिम भाग त्रुटित है, अतएव न इसके कर्ता का ही नाम, काल, स्थान आदि ज्ञात हो पाता है और न टीकाकार का ही।

इस पर संस्कृत में एक टीका है जिसके देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कुल इक्कीस अधिकार हैं। इसका उपदेश श्री कङ्कालय योगि[१] ने जो रस और गुटिकाओं के योग्य ज्ञाता थे, अपने शिष्य को दिया। इस रसतत्त्व को शिष्य ने परोपकारार्थ उपनिबद्ध किया।

पहले अधिकार में शृङ्खलारस का विधान किया गया है, अर्थात् क्रमशः अष्टादश संस्कार करके सूत को लोहदेहवेधी बनाना चाहिए। सप्त कञ्चुक, पाँच दोष, दोषोत्पन्न विकार, और उनको दूर करने के लिए पाट सारण, मर्दन, मूर्च्छनोत्थापन, पातन उत्थापन, स्वेदन, नियामन, रोधन, मुखप्रसारण, जारण-गगनग्रास जारण, लोह जारण, प्रकाश राजिजारण, हेमराजि जारण, गन्धक जारण, शिलासत्त्व जारण, खर्पर सत्त्व जारण, अन्नपथ हीरक जारण और जीर्णाजीर्णत्व ज्ञानोपाय, ग्यारहवें जारण संस्कार के बाद बारहवाँ बंध संस्कार, तदनन्तर सारण, मारण, प्रतिसारण, क्रामण, बेत्र और अन्त में उद्घाटन करने से सूत लोह वेधी हो जाता है और सभी रोगों का शमन करने योग्य होता है।

इसमें चार राजि हेमराजि, नागराजि, व्योषराजि और माक्षिक राजि बनाने का द्वितोय अधिकार है। तृतीय अधिकार खर्पर सत्त्वपात विधि का, चतुर्थ मनः शिला सत्त्वपातन विधि, पञ्चम षड् लोह द्रुतिकरण विधि, षष्ठ षड् लोह मारण विधि, सप्तम त्रिधा अन्नपथ हीरक जारण, आठवाँ पञ्चधा हीरक भस्मीकरण, नवाँ गन्धक शोधन, दसवाँ गन्धक पिष्टी निर्माण के दो प्रकार, ग्यारहवाँ अधिकार गन्धक तैल बनाने का, बारहवाँ गन्धक तैल से त्रिधा हेम कर्म, गन्धक तैल से सहस्रवेधी रस बनाने का तेरहवाँ अधिकार, गन्धक वारि (द्रुति) बनाने का चौदहवाँ अधिकार, इसके बाद गन्धक द्रुतिपीठी का कर्म, सोलहवाँ अधिकार तालक शोधन, सतरहवाँ इसका कर्म, अठारहवाँ त्रिधा अभ्रक द्रुति, उन्नीसवें अधिकार में अभ्रक द्रुति का कर्म विवेचन, बीसवें अधिकार में भूनाग सत्त्वपातन और इक्कीसवें अधिकार में बाल वादिनी गुटिका निर्माण करने का विधान बताया गया है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन चौखम्बा संस्कृति सिरीज आफिस से सन् १९३० ई० में पण्डित रामकृष्ण शर्मा के सम्पादन में हुआ।

---

१. रसगुटचञ्जनाभिज्ञः श्रीकङ्कालय योग्यभूत्।
तेन स्वशिष्यशिक्षार्थं रसतत्त्वं निवेदितम् ॥ ८ ॥
श्री कङ्कालय शिष्योऽपि स्वान्योपकृतये कृती।
एकविंशत्यधीकारं रसाध्यायं निबद्धवान् ॥ ९ ॥

रसरत्नाकर—इस ग्रन्थ का निर्माण श्री पार्वती पुत्र नित्यनाथ सिद्ध ने ५ खण्डों—रसखण्ड, रसेन्द्रखण्ड, वादिखण्ड, रसायन खण्ड और मन्त्रखण्ड—में किया है। इनमें से रसखण्ड, रसेन्द्रखण्ड और रसायनखण्ड का प्रकाशन हो चुका है, ऐसा आचार्य यादव जी के लेख से प्रतीत होता है। मुझे रसायन खण्ड ही देखने को मिला जिसका प्रकाशन आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के दशम पुष्प के रूप में उनके द्वारा सन् १९१३ ई० में किया गया।

रसायन खण्ड में रसायन और वाजीकरण इन दो तन्त्रों का उपदेशों के रूप में विवेचन किया गया है। प्रथम उपदेश में मङ्गलाचरण, देहसिद्धि की प्रशंसा, रसायन योगों के सेवन से पूर्व वमनविरेचन कराने का निर्देश, पथ्यव्यवस्था रसयोग सेवन से उत्पन्न व्यापत्तियों की चिकित्सा, पारद के मारण की ११ विधियों का उल्लेख है। वज्र, अभ्रक आदि अष्ट लोहों का मारण रसखण्ड और वादिखण्ड में बताया गया है। द्वितीय उपदेश में सेवन से पूर्व अभ्रक का प्रयोग कर शरीर के क्षेत्रीकरण का विधान है। इसके पश्चात् योगों यथा वज्रपञ्च रस, वज्रेश्वर रस, वज्राधार रस, भैरव रस, शिलावीर रस, अमृतार्णव रस, उदयादित्य रस, गगनेश्वर रस, वटेश्वर रस, अचलेश्वर रस, परमेश्वर रस, गन्धामृत रस, कालकण्टक रस, अमृतेश रस, रसवीर महारस, काञ्चायन रस, परानन्द रस, महाकाल रस, हेमपर्पटक रस, श्रीकण्ठ रस, खेचरबद्ध रस, स्वयमग्नि रस, कक्षपुट रस, महाशक्ति रस, नाटकेश्वर रस, बालसुन्दर रस, ब्रह्मपञ्ज रस और शिवामृत रस बनाने का विधान बताया गया है। ये सभी योग क्रामणार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं।

इसके पश्चात् दिव्य योग और गुटिका रसायन का प्रतिपादक तृतीय उपदेश है। इसमें मृतसञ्जीवनी गुटिका, वज्रेश्वरी गुटिका, हेमसुन्दरी गुटिका, व्योमसुन्दरी गुटिका, हाटकेश्वरी गुटिका, अर्कप्रभावटी गुटिका, वज्रतुण्डा वटिका, कामसुन्दरी गुटिका, गान्धारी गुटिका, मार्तण्डी गुटिका, तारकेश्वरी गुटिका, विद्यावागेश्वरी गुटिका, वज्रतुण्डा वटिका, गगनेश्वरी गुटिका, आनन्द वज्रखेचरिका वटिका, रत्नेश्वरी गुटिका, दिव्यखेचरी वटिका, स्वर्ण वैक्रान्त बद्धरस, वैक्रान्तवटिका, दिव्यखेचरी गुटिका, प्रचण्डखेचरी गुटिका, कङ्काल गुटिका, कालविध्वंसिका वटिका, पञ्चानन गुटिका आदि योगों तथा कालांतर सिद्धिकरण प्रकार का उल्लेख है।

चतुर्थ उपदेश में देहसिद्धिकर रसायनों यथा कान्तादि महारसायन, अभ्रक के रसायन योग, रसायन कान्त योग, ब्रह्मवृक्षकल्प, श्वेत पालाश कल्प, मुण्डीकल्प, देवदाली कल्प, श्वेतार्क कल्प, हस्तिकर्ण कल्प, रुदन्ती कल्प, निर्गुण्ठी कल्प, कतिपय रसायन योग, शुनकशाल्मलिका कल्प, त्रिफलादि

योग, मूलिका कल्प, रसायन कल्प आदि के योग तथा यन्त्र बताये गये हैं।
रसायन सेवन विधि का वर्णन है।

पञ्चम उपदेश में वली-पलितनाशार्थ पारदाद्युद्वर्तन, बज्रकापालिनी मूलद्युद्व-
र्तन उत्पलाद्युद्वर्तन, द्वितीय पारदाद्युद्वर्तन और गन्धक योगका विधान, रसायनार्थ
कुष्ठ योग, पलितनाशनार्थ कान्तपाषाणादि योग और सीसकादि योग, केश-
रञ्जनार्थ नीलिकादि योग, गुञ्जादि योग, हस्तिदन्तादि योग, त्रिफलादि योग,
लोहकिट्टादि योग, सिन्दूरादियोग, शतपुष्पादि योग, चूर्णादि योग, नील्यादि
योग, अपरचूर्णादि योग, कुरण्टपत्रादि योग, आम्रास्थादि योग, काकमाच्यादि
योग, केशरञ्जनघृत नस्यार्थ, जपापुष्परसायन, त्रिफलादि तैल, काकतुण्डयादि
योग, भृंगराजादि योग, त्रिफलादि योग, कृष्णजीरक योग, नील्यादि योग और
सीसकादि योग हैं। केशशुक्लीकरण के भी योग बताये गये हैं।

षष्ठ उपदेश में बाजीकरण योगों यथा मकरध्वज रस, मदनोदय रस,
मदनेश्वर रस, कामकलाख्य रस, कामदेव रस, रतिकाम रस, मदवर्धन रस,
अनङ्गसुन्दरी वटिका, काम नायक रस, पूर्णेन्दु रस, मदनकाम रस, अभ्रक के
योग, धात्री लोह, पुनर्नवादि योग, वाजीकर वटक, बालुकामत्स्य योग, वाजी-
कर नाभिलेप, वाजीकरमाष योग, मदनानन्दमोदक आदि वीर्यवर्धक योग हैं।
सातवें उपदेश में वीर्यस्तम्भक योगों यथा ब्रह्माण्ड वटिका, स्तम्भक लिङ्ग
लेप, दीप, इन्द्रवारुणिका मूलाद्या वटी, रक्तापामार्गमूल योग, पादलेप, कटि में
सर्पास्थिधारण, नाभिलेप के दो योग, कोकिलाक्षादि वटी, श्लेष्मातकादि योग
सूरणादि योग, मार्जारनखादि बन्धन, पादलेप, लिङ्गलेप, गुटिका धारण,
मुद्रिका धारण, स्थलमीन योग आदि का उल्लेख है। वनिताद्रावणार्थ कतिपय
जलौका योगों और लिङ्गवर्धन योगों का वर्णन है।

अष्टम उपदेश में श्रीशैल पर देहसिद्धि प्राप्त करने के उपाय बताये गये हैं।
ये श्री नित्यनाथ सिद्ध किस जनपद के निवासी थे यह कहना बड़ा कठिन है।
समय के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि इनका काल भारत में
यवनों के आक्रमण के पश्चात् और वाग्भट से पूर्व (लगभग बारहवीं शताब्दी)
है क्योंकि स्थलमीन योग इन्होंने यवनों से लिया है। यवनों का राज्य भारत
में सन् ११९४ ई० के लगभग स्थापित हो चुका था और तेरहवी शताब्दी में
हुए रसरत्नसमुच्चयकार वाग्भट ने इनका नामोल्लेख किया।

रसरत्नाकर की एक दूसरी पुस्तक भी देखने को मिली जिसपर श्री शालि-
ग्राम जी ने प्रदीपिका नामक हिन्दी भाषा टीका की है। इसमें रस खण्ड के
दश उपदेशों तक तो उपसंहार का प्रदर्शन किया गया है जिससे प्रतीत होता
है कि यहाँ तक रसखण्ड चल रहा है किन्तु इसके बाद रोगों का प्रकरण शुरू

कर दिया गया है और उपसंहार का ठीक उल्लेख नहीं किया गया है रसायन खण्ड का उपर्युक्त वर्णन भी कुछ मिलता है और कुछ नहीं मिलता। इसलिए इस विषय में कुछ अधिक नहीं लिखा जा सकता। पुस्तक का प्रकाशन लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस से सं० १९८२ (शाके १८४७) में हुआ है।

रसेन्द्रचिन्तामणि—इस ग्रन्थ का निर्माण आचार्य कालनाथ के शिष्य श्री ढुण्ढुकनाथ ने किया है। किन्तु इसका कब निर्माण हुआ और ये ग्रन्थकर्ता किस देश के निवासी थे? इसका कुछ भी ज्ञान पुस्तक के देखने से नहीं हो पाता। डा० पी० सी० राय ने अपनी पुस्तक में इनको १३वीं और चौदहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ माना है। इस ग्रन्थ पर वैद्य श्री मणिराम शास्त्री जी ने 'मणि-प्रभा' नामक की संस्कृत भाषा में एक टीका बनाई है। जिसका प्रकाशन उन्होंने अपने व्यय से कराया है।

इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि ग्रन्थकार ने इसमे उन्हीं प्रयोगों का उपनिबन्धन किया जिसको उन्होंने स्वयं अपने हाथ से करके सिद्धि[1] प्राप्त की है, अन्य ग्रन्थों से केवल संग्रह करने का ध्यान नहीं रक्खा गया है। इसीलिये गुरु के लक्षण बताते समय इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि केवल श्लोकों का अर्थ बता देने से कोई गुरु नही हो सकेगा, उसे तो प्रयोग करके दिखाना चाहिये। इसी प्रकार शिष्य को केवल प्रयोग सम्पन्न होता देखकर सन्तोष कर लेना उचित नहीं, प्रत्युत अपने हाथ से उसको करना चाहिये और यदि कहीं कोई बाधा आवे तो उसका गुरु से निराकरण[2] करा लेना चाहिये। यही प्रक्रिया टीकाकार ने भी अपनाई है। जहाँ तक उन्होंने प्रयोग करके सिद्ध किया वहाँ तो वैसा लिखा अन्यथा स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि अब इसके बाद में केवल अर्थ ही बता रहा हूँ, प्रयोग मैने नहीं किये हैं। यदि इस प्रकार का साहस किया जायेगा तभी आयुर्वेद का पुनरुत्थान सम्भव होगा।

इस ग्रन्थ में कुल ९ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में शास्त्र का अवतरण वर्णित है। द्वितीय अध्याय में इसकी मूर्च्छना का प्रकरण वर्णित है जिसमे बताया गया है कि षड्गुणगन्धक जारित सूत ही रोग हर हो सकता है। इसी

१. अश्रौषं बहुविदुषां मुखादपश्यं शास्त्रेषु स्थितमकृतं न तल्लिखामि।
यत्कर्म व्यरचयमग्रतो गुरूणां प्रौढानां तदिह वदामि वीतशङ्कः ॥४॥

२. अध्यापयन्ति यदि दर्शयितुं क्षमन्ते सूतेन्द्रकर्म गुरवो गुरवस्त एव।
शिष्यास्त एव रचयन्ति गुरोः पुरो ये शेषाः पुनस्तदुभयाभिनयं भजन्ते ॥५॥
(प्रथमाध्याये)

प्रकार अभ्रक और सुवर्ण चारित पारद ही रसायन[३] कर्म के योग्य होता है। इस क्रिया को सम्पन्न करने के लिये कज्जली निर्माण प्रक्रिया तथा बालुका यन्त्र का वर्णन है। रसकर्पूर बनाने की प्रक्रिया द्वयका उल्लेख भी है। तृतीय अध्याय में बन्धन का विधान बताया गया है। इसमें पारद के उन्नीस संस्कार करने के योग, विधि और संस्कृत पारद के गुण-धर्मो का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ अध्याय में ग्रहण योग्य अभ्रक के लक्षण, अभ्रकसत्त्व पातन, उसका पारद के द्वारा ग्रास, मारण, अभ्रकद्रुति तथा अन्य रत्नों की द्रुति का उल्लेख है। पाँचवें अध्याय में गन्धक शोधन उसके खराब गन्ध का नाशन और तैल बनाने की विधियों का वर्णन है। छठवें अध्याय में लोहों के शोधन मारण की विधि बताई गई है। सातवें अध्याय में विषों और उपरसों के शोधन मारण आदि का क्रम बताया गया है।

आठवें अध्याय में इन औषधियों का विविध रोगों में प्रयोग करने के लिये योगों का निर्माण बताया गया है। यहाँ पर ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यदि चरकादि[४] आचार्यो द्वारा प्रोक्त जाङ्गमौद्भिद पार्थिवादि औषधों को इस योगों में संयुक्त करके दिया जाय तो उसका रोगहरण बहुत शीघ्र और शतप्रतिशत उपयोगी होता है। इसका कारण यह है कि विकाशवाद के सिद्धान्तानुसार समय बीतने के साथ साथ पृथिवी की शक्ति का ह्रास होता जाता है अतएव उसके बाह्य स्तर पर उत्पन्न होने वाली औषधियों की शक्ति का भी ह्रास हुआ। इस बात को चतुर्थ शताब्दीभव आचार्य वाग्भट ने स्वयं स्वीकार किया है। किन्तु उसमे आभ्यन्तर में रहने वाले खनिजों की शक्ति में अभी ह्रास नहीं हो पाया। इस तथ्य की ओर बौद्ध सिद्धचार्यों नागार्जुन, यशोधन, व्याडि प्रभृति ने ध्यान दिया और इसी दृष्टिकोण से उन्होंने इस शास्त्र का अवलम्बन किया, उसमें खोज शुरू की और इतने महान प्रयोग करके इस शास्त्र को जन्म दिया। बौद्धकाल तक काष्ठौषधियों की शक्ति कम हो गई थी किन्तु खनिजों में विद्यमान थी। अब उनकी भी शक्ति का ह्रास होने लगा है किन्तु जैविकी औषधियों (antbiotics) में अभी शक्ति सम्पन्नता है अतएव वे त्वरित गति से क्रिया करती हैं। इस दिकाशवाद के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए हमको उन्हें अपनाने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। नवें

---

३. रसगुणबलिजारणं विनाऽयं न खलु रुजाहरणक्षमो रसेन्द्रः।
न जलद-कलधौतपाकहीनः स्पृशति रसायनतामिति प्रसिद्धिः॥५॥
(द्वितीयेऽध्याये)

४. साग्रीनां चरकमतं फलमूलाद्यौषधं यदविरुद्धम्।
तद्यदि रसानुपीतं भवेत् तदा त्वरितमुल्लाभः॥३॥ (अष्टमाध्याये)

अध्याय में माधव निदान के क्रम से रोगों की चिकित्सा का रसौषधियों के माध्यम से वर्णन किया गया है।

रसेन्द्रभास्कर—इस ग्रन्थ का निर्माण वि० सं १९५२ में आश्विन शुक्ल दशमी के दिन वशिष्ठ गोत्रोद्भव आदि गौड़ ब्राह्मण पं० लक्ष्मीनारायण शर्मा ने किया। ये मत्स्य देश (राजस्थान) अन्तर्गत जयपुर राज्य में बाणगङ्गा तटवर्ती धौल नामक ग्राम के निवासी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने श्रीमान् १२१ श्री सवाई माधवसिंह जी के आग्रह अथवा निर्देश पर इसकी रचना की हो। पण्डित जी के पुत्र श्री शिवप्रसाद शर्मा ने इस पर प्रभा नामक भाषाटीका बनाई है। इसका प्रकाशन सेठ क्षेमराज श्रीकृष्णदास के श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस से सं० १९६७ (१८३२ शाके) में हुआ।

इसमें कुछ १२ मयूख हैं जिनमें रस, उपरस, धातु, उपधातु, रत्न, उपरत्न, विष और उषविषों का २ से लेकर ९ तक प्रकरणों में वर्णन है। दशवें मयूख में रत्नों के निर्माण का विधान बताया गया है। ग्यारहवें भयूख में विविध योगों के बनाने की विधि, उनके गुण और विविध अनुपानों से संयुक्त करने पर व्याधिहरत्व का वर्णन किया गया है। बारहवें मयूख में सोमल, गुग्गुल आदि के शोधन और प्रयोग का वर्णन है।

रसेन्द्रपुराण—इसकी रचना पटियाला राज्यान्तर्गत टकसाल निवासी पटियाला के राजवैद्य वैद्यरत्न पं० रामप्रसाद जी वैद्योपाध्याय ने की है। इसके प्रथम खण्ड का सं० १९८३ वि० (१८४८ शाके) में लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस से प्रकाशन हुआ। ग्रन्थकार ने इसे प्रायः तीन भागों में सम्पूर्ण करने का निर्णय किया है।

प्रथम भाग में ३० अध्याय हैं, जिनमें रसोत्पत्ति, यन्त्रों का वर्णन, पारद के संस्कार उसका मारण, हिङ्गुल, गन्धक, अभ्रक, हरिताल, अञ्जन आदि का शोधनादि कर्म, उपरसों, धातुओं, मिश्रधातुओं, रत्नों, उपरत्नों, विष, उपविषों आदि पर प्राचीन आचार्यों की शैली के अनुसार बहुत ही विद्वत्ता-पूर्ण वर्णन किया गया है। द्वितीय, तृतीय भाग देखने का अवसर मुझे न मिल सका।

रसामृत—इस ग्रन्थ का निर्माण सुप्रसिद्ध वैद्य श्री यादव जी त्रिकमजी आचार्य ने अनेक रसग्रन्थों तथा चरक सुश्रुतादि से विषयों का संग्रह करके किया है। इसका प्रकाशन श्री मोतीलाल बनारसी दास के द्वार। सं० २००८ वि० (सन् १९५१ ई०) में किया गया। इसका सङ्कलन आचार्य जी ने पाठ्य पुस्तक के दृष्टि कोण से किया है अतएव सभी प्रमुख बातों का इसमें संग्रह हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ को ९ अध्यायों और नव परिशिष्टों में पूरा किया गया है।

प्रथम अध्याय रसविज्ञानीय और द्वितीय गन्धक विज्ञानीय है। तृतीय अध्याय में धातुओं (खनिजों) का वर्णन है। सुवर्ण, रजत, ताम्र के प्रकरण में ही पित्तल, कांस्य, सुवर्ण माक्षिक, तुत्थ और जंगाल का, वङ्ग नाग के प्रकरण में सिन्दूर, मृद्दार संग, सफेदा और अञ्जन का, यशद के प्रकरण में पुष्पाञ्जन और खर्पर का, अयस् के प्रकरण में मण्डूर, विमल, कासीस, गैरिक, अभ्रक, अयस्कान्त और शिलाजतु का वर्णन कर दिया गया है।

चौथा अध्याय मल्ल विज्ञानीय है, जिसमें संखिया, हरिताल और मनःशिला का, पाँचवें (सुधाविज्ञानीय) में चूना, खटिका, गोदन्ती और सफेद सुरमें का, छठवें सिकता विज्ञानीय अध्याय में सिकता, दुग्धपाषाण (संगेजराहत), कौशेयाश्म, जहरमोहरा, और हज्रुलयहुद् का वर्णन है। सातवें क्षार विज्ञानीय में लवणों और क्षारों का, आठवें रत्न विज्ञानीय में रत्नोपरत्नों के साथ ही साथ संगेयशव, अकीक और कहरवा का भी वर्णन है। नवें रसयोग विज्ञानीय में ६६ योगों का वर्णन है।

प्रथम परिशिष्ट में भस्म बनाने और पुटदेने विषयक आवश्यक सूचनाओं का, द्वितीय में चपल का, तृतीय में शिलाजतु का और चतुर्थ में माक्षिक और विमल का विशेष वर्णन है। पाँचवें में रसाञ्जन पर विमर्श किया गया है। छठवें में अशोधित और असम्यक् बने भस्मों के दोष, सातवें में सत्त्वपातन, आठवें में विषशोधन, और नवें में चरकसुश्रुत आदि में रस शास्त्रोल्लिखित द्रव्यों के प्राप्ति का निर्देश किया गया है।

रसरत्नसमुच्चय- इस ग्रन्थ के कर्ता का नाम भी वाग्भट है। इनके पिता का नाम भी सिंह गुप्त ही था, (क्वचित् क्वचित् संघगुप्त भी लिखा है) अतएव स्वाभाविक है कि नामसाम्य को देखकर कुछ आचार्यों ने इस तन्त्र के कर्ता वाग्भट और अष्टाङ्ग संग्रह-हृदय के कर्ता वाग्भट को एक ही मान लिया है। किन्तु सम्यक् पर्यालोचन से यह बात जँचती नहीं। ये दोनों आचार्य एक दूसरे से लगभग ८-९ सौ वर्ष के अन्तर से उत्पन्न हुए। इस प्रसङ्ग में यह निर्देश कर देना उचित प्रतीत होता है कि भिषगाचार्य हरिशास्त्री पराड़कर वैद्य ने ८ वाग्भट नामधारी प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है। रसरत्न समुच्चयकार इसवी सन् की १३वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए ऐसा कविराज गणनाथ सेन, डा० पी० सी० राय प्रभृति का मत युक्तियुक्त एवं ग्राह्य है।

रसरत्नसमुच्चय में रक्तवात-शीतवात-सोमरोगादि का जो वर्णन मिलता है उसका संग्रह या हृदयग्रंथ में कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता और जिन प्राचीन रोगों श्वित्र, किलास आदि का इस ग्रन्थ में श्वेत कुष्ठ नाम दिया गया है वह

नूतन संज्ञा अभिनव कालिकता का ही संकेतक है। इन प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि दोनों वाग्भट दो व्यक्ति हैं।

यह एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें कुल तीस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में लगभग २७ रससिद्धों[1] तथा १७ रसग्रन्थों एवं ८ रसवैद्यों का निर्देश किया गया है, जिनके उपदेश के आधार पर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ। रसहृदय तन्त्र से लगभग २७ आर्याओं (३३ से ५९ तक) का थोड़े बहुत परिवर्तन से ग्रहण किया गया है। रसोत्कर्ष[2] रस की उत्पत्ति, भेद, निरुक्ति, संस्कार करने की आवश्यकता आदि का भी वर्णन है। द्वितीय अध्याय में ८ महारसों, तृतीय अध्याय में उपरस और साधारण रसों, चतुर्थ अध्याय में मणियों और पञ्चम अध्याय में लोहों का वर्णन है।

छठवें अध्याय में शिष्योपनयन, गुरु-शिष्य-सहायक आदि के गुण, रस

---

१. आदिमश्चन्द्रसेनश्च लंकेशश्च विशारदः।
कपाली मत्तमाण्डव्यौ भास्करः शूरसेनकः ॥ २ ॥
रत्नकोशश्च शंभुश्च सात्विको नरवाहनः।
इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्वलिर्व्याडिरेव च ॥ ३ ॥
नागार्जुनः सुरानन्दो नागबोधिर्यशोधनः।
खण्डः कापालिको ब्रह्मा गोविन्दो लम्बको हरिः ॥४॥
सप्तविंशति संख्याका रससिद्धिप्रादायकाः ॥
रसांकुशो भैरवश्च नन्दी स्वच्छन्दभैरवः।
मन्थानभैरवश्चैव काकचण्डीश्वरस्तथा ॥ ५ ॥
वासुदेवः ऋष्यश्रृङ्गः क्रियातन्त्रसमुच्चयी।
रसेन्द्रतिलको योगी भालुकी मैथिलाह्वयः ॥ ६ ॥
महादेवो नरेन्द्रश्च वासुदेवो हरीश्वरः।
एतेषां क्रियतेऽन्येषां तन्त्राण्यालोक्य संग्रहः ॥ ७ ॥
रसानामथ सिद्धानां चिकित्सार्थोपयोगिनाम्।
सूनुना सिंहगुप्तस्य रसरत्नसमुच्चयः ॥ ८ ॥
इति श्री वैद्यसिंहगुप्तस्य सूनो वग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये ..

२. शताश्वमेधेन कृतेन पुण्यं गोकोटिभिः स्वर्णसहस्रदानात्।
नृणां भवेत् सूतकदर्शनेन यत् सर्वतीर्थेषु कृताभिषेकात् ॥ २२ ॥

लिङ्गबनाने की विधि[1], अर्चना का प्रकार, पुनः रससिद्धों[2] का उल्लेख तथा पारद सिद्धि के लिये योग्य गुणों का वर्णन किया गया है। सातवें अध्याय में रसशाला निर्माण, उपकरण संग्रह, तथा कर्मचारियों के गुणों का उल्लेख है। आठवें अध्याय में विविध पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण है। नवें अध्याय में यन्त्रों का, दशवें में मूषा, कोष्ठी, पुट, तथा औषधि गणों का निर्देश है। ग्यारहवें अध्याय में परिभाषा कथन के पश्चात् पारद के १८ संस्कारों का वर्णन है।

बारहवें[3] अध्याय में रोगों की चिकित्सा का प्रकरण प्रारम्भ होता है। चिकित्सा से पूर्व रोगों के लक्षणों का भी संक्षेप में निर्देश कर दिया गया है।

---

१. निष्कत्रयं हेमपत्रं रसेन्द्रं नवनिष्ककम्।
अम्लेन मर्दयेद् यामे तेन लिङ्गं तु कारयेत्॥ १७॥
दोलायन्त्रे सारनाले जम्बीरस्थं दिनं पचेत्।
तल्लिङ्गं पूजयेत्तत्र सुशुभैरुपचारकैः॥ १८॥
लिंगकोटिसहस्रस्य यत्फलं सम्यगर्चनात्।
तत् फलं कोटिगुणितं रसलिंगार्चनाद् भवेत्॥ १९॥

२. व्यालाचार्यश्चन्द्रसेनः सुबुद्धिर्नरवाहनः।
नागार्जुनो रत्नघोषः सुरानन्दो यशोधनः॥ ५१॥
इन्द्रधूमश्च माण्डव्यश्चर्पटीशूरसेनकः।
आगमो नागबुद्धिश्च खण्डः कापालिको मतः॥ ५२॥
कामारिस्तान्त्रिकः शम्भुर्लङ्कालम्पट-शारदौ।
बाणासुरो मुनिश्रेष्ठो गोविन्दः कपिलो बलिः॥ ५३॥
एते सर्वे तु सूतेन्द्रा रससिद्धा महाबलाः।
चरन्ति सर्वलोकेषु रससिद्धि प्रदायकाः॥ ५४॥

३. ज्वरस्य रक्तपित्तस्य कासस्य श्वासहिध्मयोः।
वैस्वर्यस्य क्षयस्यापि तथारोचप्रसेकयोः॥ १॥
छर्दि हृद्रोगयोश्चैव तृष्णामद्योद्भवार्शसाम्।
उदावर्तातिसाराणां ग्रहण्यतिप्रवाहिणोः॥ २॥
विसूच्या वह्निमान्द्यस्य मूत्रकृच्छ्राश्मरीरुजाम्।
मेहस्य सोमरोगस्य पिटिकानां च विद्रधेः॥ ३॥
वृद्धिगुल्मादिरोगाणां शूलानामुदरस्य च।
पाण्डुशोफविसर्पाणां कुष्ठश्वित्रनभस्वताम्॥ ४॥
वातास्रस्यावृतानां च वन्ध्यानां गर्भिणीरुजाम्।
सूतिकाबालरोगाणामुन्मादापस्मृतावपि ॥ ५॥

औषधियों में केवल रसौषधियों का ही उल्लेख है। बारहवें अध्याय में केवल ज्वर चिकित्सा मे प्रयुक्त योगों का ही वर्णन है। मुख्य मुख्य योगों के सेवन के समय किस प्रकार का पथ्य सेवन करना चाहिये, इसका भी निर्देश कर दिया गया है। तेरहवें अध्याय में रक्तपित्त, कास, श्वास, हिक्काचिकित्सा का वर्णन है। चौदहवें अध्याय में राजयक्ष्मा की चिकित्सा का वर्णन है, प्रसङ्गोपात्त अन्य रोगों के यथा ग्रहणी, मदात्यय आदि के योगों का भी वर्णन है। पन्द्रहवें अध्याय में अर्श की चिकित्सा का, सोलहवें में उदावर्त, अतिसार, ग्रहणी, अजीर्ण चिकित्सा का वर्णन है। सतरहवें अध्याय में अश्मरी, प्रमेह चिकित्सा का, अट्ठारहवें में विद्रधि, वृद्धि, गुल्म, प्लीह रोग, शूल, कार्श्य, स्थौल्य, अम्लपित्त, पित्तरोग आदि की चिकित्सा का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय में उदर रोग, पाण्डु, शोथ, कामला, कुम्भ कामला, हलीमक आदि की, बीसवें में विसर्प, कुष्ठ, श्वित्र और क्रिमि को, इक्कीसवें में वातव्याधि (शीतवात, स्पर्शवात रक्तवात) अपस्मार, उन्माद एकाङ्गवात, सन्धिवात, वातरक्त आदि के लक्षणं, चिकित्सा योगों का वर्णन है। बाईसवें अध्याय में बन्ध्यात्व के लक्षण चिकित्सा के साथ ही साथ गर्भिणी रोग, मूढ़गर्भ, सूतिका रोग, योनिव्यापत्, बाल रोग के लक्षण चिकित्सा का वर्णन हैं। तेईसवें अध्याय में पुनः उन्माद, अपस्मार एवं नेत्र रोग के निदान लक्षण चिकित्सा का, चौबीसवें में कर्णरोग, मुख रोग और इसी के साथ दन्त रोग, शिरोरोग, केशप्रपतन, व्रण, भग्न, भगन्दर, अर्बुद आदि की चिकित्सा का वर्णन है।

पच्चीसवें अध्याय में क्षुद्र रोग, गुह्य रोग की चिकित्सा, छब्बीसवें अध्याय में रसायन प्रयोग, सत्ताईसवें में वाजीकरण का वर्णन है। अट्ठाईसवें अध्याय में धातुओं का मारण, उन्तीसवें में विषों का प्रयोग और तीसवें में पारद का विविध रोगों में प्रयोग करने का विधान बताया गया है।

इस ग्रन्थ का वैद्य समाज में खूब प्रचार हुआ, इसीलिये इस पर टीकायें भी खूब हुई। अधोलिखित टीकायें देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ—

१. **संस्कृतटीका**—पं० श्रीमद् आशुबोध विद्याभूषण तथा पण्डित श्रीमन् नित्यबोध विद्याभूषण विरचित 'रसरत्नसमुच्चय बोधिनी' टीका—सम्पूर्ण ग्रन्थ

नेत्ररोगे कर्णरोगे नासारोगास्यरोगयोः।
शिरःसञ्जातरोगेषु व्रणे भङ्गे भगन्दरे ॥ ६ ॥
ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे विषेषु च।
जरायास्त्वनपत्यानां बीजपोषणहेतवे ॥ ७ ॥
परिपाट्याऽनया सर्वरोगाणां हि चिकित्सनम्।
रसलोहविषैरत्र योगैर्वक्ष्ये यथागमम् ॥ ८ ॥

पर है और यथानाम तथा गुण युक्त है। कलकत्ता के वाचस्पति यन्त्रालय से सन् १९२७ में प्रकाशित हुई।

पं० हजारी लाल सुकुल विरचित दीपिका नामक संस्कृत टीका और लतिका नामक हिन्दी टीका साथ साथ १ से ११ अध्यायपर्यन्त सं० १९८६ वि० में प्रकाशित हुई। यह टीका भी बहुत उपादेय है। इसका प्रकाशन इन्होंने अपने खर्च से किया है।

श्री सदाशिव शास्त्री जोशी कृत टिप्पणी जो सं० १९८३ वि० (सन् १९३६ ई०) में चौखम्बा वाराणसी से प्रकाशित हुई।

२. **हिन्दी टीका**—पं० धर्मानन्द शर्मा विरचित तत्त्वार्थबोधिनी टीका, इसका प्रकाशन सन् १९४२ में श्री मोतीलाल बनारसी दास के द्वारा किया गया। यह उत्तमोत्तम है।

कविराज श्री अम्बिकादत्त शास्त्री विरचित सुरत्नोज्ज्वला टीका, जिसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय से सन् १९५१ ई० में किया गया है। यह भी अच्छी है।

वैद्यराज शङ्करलाल हरिशङ्कर कृत हिन्दीभाषा टीका जिसका प्रकाशन श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस के अध्यक्ष खेमराज श्रीकृष्णदास ने सं० २००६ में कराया। से सभी टीकायें सम्पूर्ण ग्रन्थ पर हैं।

प्रोफेसर दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी विरचित विज्ञानबोधिनी भाषा टीका, केवल १ से ११ अध्याय पर्यन्त है जिसमें वैज्ञानिक विवेचन बहुत ही उत्तमढंग से किया गया है। इसका प्रकाशन सं० १९९९ वि० में मेहरचन्द लक्ष्मणदास ने लाहौर से किया।

३. वैद्यराज जीवराम कालिदास कृत गुर्जर भाषा टीका, जिसका प्रकाशन श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस से मार्गशीर्ष सं० १९६५ (भाद्रकृष्ण ७ बुधवार सं० १९६४ वि०) को हुआ।

रसेन्द्रसारसंग्रह—इस ग्रन्थ के कर्ता श्री गोपाल कृष्ण भट्ट हैं। इन्होंने कहीं इस बात का निर्देश नहीं किया है कि ये किस स्थान के निवासी थे और किस समय में हुए हैं किन्तु इतिहासकारों का मत है कि इस ग्रन्थ का निर्माण तेरहवीं शताब्दी में हुआ होगा। यह भी एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, रससिद्धों आदि के ग्रन्थ से उत्तमोत्तम विषयों का संग्रह किया है गया। इसका प्रचार खूब हुआ, इसलिए इस पर हिन्दी भाषा में अनेक टीकायें बनी और कई मुद्रणालयों से विभिन्न विशेषताओं के साथ प्रकाशित किया गया।

इस ग्रन्थ में मुख्यतया दो अध्याय हैं। प्रयम अध्याय में रसों का शोधन मारणादि तथा दूसरे में रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। रोगों के क्रमनिर्धारण में माधवनिदान का ही अनुकरण किया गया है।

टीकायें—वैद्य घनानन्द पन्त विद्यार्णव की 'आनन्दी' नामक संस्कृत टीका और उनके पुत्र कविराज श्री राधावल्लभ पन्त भिषगाचार्य धन्वन्तरि की 'वल्लभी' नामक भाषा टीका है। आनन्दी टीका के अवलोकन से वास्तव में अपार आनन्द प्राप्त होता है। इसके बनाने में कितना परिश्रम हुआ होगा इसको इसीसे समझा जा सकता है कि इसमें लगभग ८७ ग्रन्थ प्रमाण तया-उपन्यस्त हैं।

श्रीपन्त जी ने अपने वक्तव्य में बताया है कि ग्रन्थकर्ता श्री गोपाल कृष्ण बङ्ग देशीय थे। इन्होंने स्वयमेव इस ग्रन्थ पर एक टीका बनाई थी। इसके बाद दो और टीकायें बनी, और चौथी अर्थबेधिनी' नामक टोका श्री रामसेन ने की। पाँचवीं टीका जीवानन्द जी की है जिसका खूब प्रचार हुआ। छटवीं टीका 'गूढार्थ सन्दीपनी' है, जो पूर्ण रूपेण मौलिक है। शेष में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का किञ्चित्-किञ्चित् परिवर्तन मात्र हैं।

श्री विद्याधर विद्यालङ्कार, वैद्य कविराज-आयुर्वेद शास्त्री की हिन्दी टीका, इसी को श्री जयदेव विद्यालंकार, आयुर्वेदाचार्य ने निगूढार्थप्रकाश के लिये 'सरला' नामक टीका से परिवर्धित किया।

चौखम्बा संस्था ने भी कई संस्करण इस ग्रन्थ के निकाले हैं जिनमें से दो मुख्य हैं—(१) पं० प्रयागदत्त शास्त्रि कृत रसचन्द्रिका हिंदी टीका और आयुर्वेदाचार्य पं० गिरिजादयालु शुक्ल कृत विमर्श (२) पं० अम्बिकादत्त शास्त्रि कृत गूढार्थसन्दीपिका संस्कृत टीका।

रसतरङ्गिणी—इसका निर्माण आधुनिक काल में धिल्डियालोपाह्व सदानन्द शर्मा ने किया। ये कविराज नरेन्द्र नाथ मित्र के शिष्य थे जिन्होंने इस ग्रन्थ को बनाने में बड़ा अच्छा मार्गदर्शन किया है। इस पुस्तक में नवीन रस शास्त्रीय विषयों का भी प्राचीन शैली के अनुरूप समावेश किया गया है। प्रायः सभी आयुर्वेदीय कालेजों में इसका पठन-पाठन होता है। अतएव इस पुस्तक के विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

इस पुस्तक पर भी हिन्दो भाषा में आयुर्वेदाचार्य पं० धर्मानन्द शास्त्री की 'रसविज्ञान' टीका है। इसका प्रकाशन वाराणसी से हुआ है।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह—इस ग्रन्थ का प्रकाशन कृष्ण गोपाल आयुर्वेद भवन-कालेड़ा (अजमेर) से हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दो खण्डों में समाप्त हुआ है। प्राचीनार्वाचीन ग्रन्थों के आधार पर इसका संग्रह किया गया

है जिसमें १३०० से अधिक योगों का सन्निवेश हो जाता है। उनके बनाने की विधि, मात्रा, अनुपान आदि का भी विवेचन है। पुस्तक संग्रहणीय और उपयोगी है। हिन्दी भाषा में होने से सबको आसानी से समझ में आ जाती है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९३२ ई० में निकला, तब से लेकर अब तक अनेक संस्करण निकल चुके। यही इसकी उपयोगिता का सबसे उत्तम प्रमाण है।

रसचिकित्सा—इसके लेखक कविराज डा० श्री प्रभाकर चटर्जी, एम० ए० हैं। पुस्तक का प्रकाशन चौखम्बा विद्याभवन, बनारस से सन् १९५६ में हुआ है। इसकी भूमिका में रसशास्त्र के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला गया। औषधियों के शोधन मारण के साथ-साथ उनका आजकल के प्रचलित रोगो में किस प्रकार उपयोग किया जाय, इस पर भी उत्तम ढंग से प्रकाश डाला गया है।

रसकामधेनु—इसके संग्रहकर्ता श्री चूड़ामणि मिश्र[1] हैं जो भिषग्वर बलभद्र मिश्र के पौत्र और पं० हरिराम मिश्र के पुत्र थे। ये शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। किन्तु किस स्थान में और किस काल में पैदा हुए, इसका इन्होंने कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। इस ग्रन्थ का संग्रह उस काल में प्रचलित अनेक रस ग्रंथों यथा रसार्णवतन्त्र, रसेन्द्रचूड़ामणि, रसपद्धति और रस पद्धति टीका, रससार, रसरत्न समुच्चय, रसरत्नाकर, रसेन्द्र चिन्तामणि, देवेन्द्रगिरि-देवेन्द्रगिरि संग्रह या रसायन संग्रह, देवीयामलतन्त्र, रसहृदयतंत्र (रसपद्धति टीका), शैवाल भक्ष (मत), त्रिलोचन, रसमार्तण्ड, भावचिन्तामणि, अभिधान कामधेनु, रसमञ्जरी, रस सङ्केत कलिका, निघण्टुराज, अजीर्णमञ्जरी, रसराजलक्ष्मी, रसचिन्तामणि, रसामृत, लोहपद्धति, धन्वन्तरीय, रसदर्पण, रसरत्न, आयुर्वेदप्रकाश, वैद्यकल्पतरु, सोमनाथसंग्रह, वैद्यकल्पद्रुम, रसरत्नप्रदीप, लोहशास्त्र,

---

१. श्रीप्रसादवरारूढो जयति त्रिपुराप्रियः ।
नित्यानन्दमयो नाथो गुरुर्नारायणः स्वयम् ॥ १ ॥
उपकरण धातुसंग्रह सूतकर्म चिकित्साचतुष्पादैः ।
जयति रसकामधेनुश्चूडामणि संगृहीतेयम् ॥ २ ॥
शाकद्वीपज विप्रमुख्य सुभिषक् संख्यापदाख्यातमत्
मिश्र श्रीबलभद्र सूनु हरिरामस्यात्मसंभूतिना ।
श्रीचूडामणिना कृते सुकृतिना सूतोपचर्याख्यको
ग्रन्थेऽस्मिन् रसकामधेनुकथिते पादोऽयमाद्यो मतः ॥
...... लोहादिसंस्कारवान् ...... पादो द्वितीयो मतः ॥
...... सूतक्रिया संज्ञितो, ... पादस्तृतीयो मया ।

रसरत्नप्रदीपिका, पुरन्दररहस्य, गोरक्षमत, देवनाथमिश्र (मत), सुश्रुत, रुद्रयामलतन्त्र, रसराजहंस, रसरहस्य, रसालङ्कार, रसरत्नदीपिका आदि के आधारपर किया गया है। इन्होंने अभिधान चिन्तामणि और भावचिन्तामणि नाम से प्रसिद्ध दो और ग्रन्थ भी लिखें हैं किन्तु ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते।

रसकामधेनु में ४ पाद हैं—उपकरण पाद, धातुसंग्रहपाद, सूतकर्मपाद और चिकित्सापाद। प्रथम तीन पादों का एक भाग में आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के सोलहवें पुष्प के रूप में वैद्य जादव जी त्रिकमजो आचार्य के सम्पादन में सन् १९२५ में प्रकाशन हुआ। चतुर्थ चिकित्सापाद का प्रकाशन गोंडल निवासी रसवैद्य जीवराम कालिदास ने इससे कुछ पूर्व ही कर दिया है। इसप्रकार यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित हो चुका है।

प्रथम (उपकरण) पाद में सात अधिकार हैं—प्रथम यन्त्राधिकार, द्वितीय प्रकीर्णाधिकार, तृतीय औषधि-अधिकार, चतुर्थ विषादि अधिकार, पञ्चम बीजसाधन अधिकार, षष्ठ द्वन्द्व मेल क्रामण रञ्जनाधिकार, और सप्तम रससाधनोपाय कथनाधिकार। द्वितीय (धातुसंग्रह) पाद में ५ अधिकार हैं—प्रथम सर्व लोह विधानाधिकार, दूसरा मणिरत्नाधिकार, तीसरा महारसाधिकार, चौथा उपरसाधिकार, और पाँचवाँ लवणक्षाराधिकार। तृतीय (सूतक्रिया) पाद में प्रथम रसनामादि निरूपण, द्वितीय रससंस्कार निरूपण, तृतीय अष्टसंस्कार निरूपण, चतुर्थ सूतजारण विधान, पञ्चम दिव्यौषधि पुटाधिकार, षष्ठ रत्नादि जारणाधिकार, सप्तमबद्धजारणाधिकार, अष्टम गुटिकाधिकार, और नवम सारणाद्यधिकार है।

चौथे चिकित्सापाद में ५९ या साठ अधिकार हैं। इसमें ज्वर से लेकर विष चिकित्सा पर्यन्त रोगों का थोड़े में निदान लक्षण पथ्य किन्तु विस्तार से चिकित्सा में प्रयुक्त योगों का वर्णन है। प्रथम ज्वर, द्वितीय दाह, तृतीय तृष्णा, चतुर्थ मूर्च्छा, पञ्चम अपस्मार, षष्ठ उन्माद, सप्तम मदात्यय, अष्टम पाण्डुरोग, नवम रक्तपित्त, दशम छर्दि, एकादश अम्लपित्त, द्वादश अरोचक, त्रयोदश अग्निरोग, चतुर्दश संग्रहणी, पञ्चदश अतीसार, षोडश आनाह, सप्तदश उदावर्त, अष्टादश उरोग्रह, एकोनविंश हृद्रोग, वीसवाँ कृमि, इक्कीसवाँ शूलपरिणामशूल अन्नद्रवशूल-जरत्पित्तशूल, बाईसवाँ गुल्म, तेईसवाँ उदररोग, चौबीसवाँ शोथ, पच्चीसवाँ श्लीपद, छब्बीसवाँ अण्डवृद्धि, सत्ताईसवाँ गलगण्डगण्डमाला-अपची-अर्बुद, अट्ठाईसवाँ मेदोरोग, उन्तीसवाँ प्रमेहपिडका और प्रमेहरोग, तीसवाँ मूत्रकृच्छ्र, इकतीसवाँ मूत्राघात के निदान चिकित्सा का ज्ञापक अधिकार है। इसके बाद अश्मरी का निदान है, अश्मरी चिकित्सा त्रुटित है। बत्तीसवाँ अधिकार क्षय रोग का है। इसका निदान किञ्चित् त्रुटित है,

शेष अंश अर्थात् लक्षण चिकित्सा आदि परिपूर्ण हैं। इसीको राजयक्ष्म चिकित्साधिकार भी कहा है।

तैंतीसवाँ कास, चौंतीसवाँ श्वास, पैंतीसवाँ हिक्का, छत्तीसवाँ स्वरभेद, सैंतीसवाँ वातव्याधि, अँड़तीसवाँ आमवात, उनतालीसवाँ वातरक्त, चालीसवाँ कुष्ठ, इकतालीसवाँ शीतपित्तादि, बयालीसवाँ मसूरिका, तैंतालीसवाँ क्षुद्ररोग, चौवालीसवाँ शूकरोग, पैंतालीसवाँ उपदंश, अँड़तालीसवाँ अर्श, उनचासवाँ भगन्दर, पचासवाँ विद्रधि, इक्यावनवाँ शारीर व्रण, बावनवाँ आगन्तुक व्रण, तिरपनवाँ नाड़ीव्रण, चौवनवां दग्धव्रण, छप्पनवाँ ऊर्ध्वजत्रुगत रोगाधिकार, सत्तावनवाँ स्त्रीरोगाधिकार, अट्ठावनवाँ बालाधिकार और इसके पश्चात् विषाधिकार है। आगे की पुस्तक इतनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है कि कुछ पढ़ा नहीं जाता है।

रसचिन्तामणि—इस ग्रन्थ की रचना श्री अनन्त देव सूरि ने की। ये कनकाचल के निवासी थे और भगवती त्रिपुरसुन्दरी के परमोपासक थे। इस ग्रन्थ की रचना कब हुई इसका उल्लेख नहीं मिलता किन्तु श्री काशिनाथ सदाशिवशास्त्री गानू द्वारा संशोधित प्रथम आवृत्ति श्री यज्ञेश्वर गोपाल दीक्षित बुधवार चौक पूना द्वारा सन् १९२५ मे प्रकाशित हुई। ग्रन्थ रचना बहुत प्रौढ भाषा में की गई है। इस पर मराठी में टीका भी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल ११ स्तवक हैं।

प्रथम स्तवक में मङ्गलाचरण, ग्रन्थपरिचय के पश्चात् रस को भस्म करने की बीस विधियाँ, गन्धकग्रास विधि तथा गुटिका बनाने का प्रकार निर्दिष्ट है। द्वितीय स्तवक रसक्रिया प्रकरण है, इसमें विविध योगों यथा सर्वाङ्ग सुन्दर रस, तालेश्वर, महातालेश्वर, वृद्धतालेश्वर, लघुतालेश्वर, श्वित्रारि योग, सूर्य सिद्धरस आदि के बनाने और प्रयोग करने का निर्देश मिलता है। तीसरे स्तवक में कुष्ठ चिकित्सा के विविध योगों का वर्णन है। चतुर्थ स्तवक में शोथनाशक तथा अन्य कतिपय योगों का वर्णन है।

पञ्चम स्तवक में पारद के विविध संस्कारों, षष्ठस्तवक में स्वर्ण और रौप्य-निर्माण की विधियों और इसके आगे रोगघ्न रसायन तथा वाजीकरण योगों का वर्णन है।

रसचण्डांशु या रसरत्न संग्रह—इस ग्रन्थ का संग्रह दत्त वैद्य ने किया है। प्रकाशक श्री यज्ञेश्वर गोपाल दीक्षित और संपादक वैद्यराज दत्तो बल्लाल बोरकर हैं। रसरत्नाकर, रसरत्नसमुच्चय, रसप्रकाश सुधाकर आदि ग्रन्थों से संग्रह करके इसको बनाया गया है। इस पर भी मराठी में टीका है जिसकी द्वितीय आवृत्ति सन् १९२८ में प्रकाशित हुई है। इसमें दो खण्ड हैं—पूर्वखण्ड

और उत्तर खण्ड, पूर्व खण्ड में रसोपरस, धतूपधातु आदि के शोधन मारण का विधान है। उत्तर खण्ड में ज्वरादि रोगों की चिकित्सा में प्रचलित योगों का संग्रह किया गया है।

अन्त में ग्रन्थ का परिचय दिया गया है। श्री दत्तवैद्य सारस्वत बोरकर वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम श्री बल्लाल देव और माता का नाम लक्ष्मी था। शक संवत् १८४१ में वैशाख शुक्ल पञ्चमी रविवार को यह ग्रन्थ पूर्ण किया गया।

रसरत्नदीपिका—यह भी संग्रह ग्रन्थ है, जिसका निर्माण शक संवत् १८५४ में कविराज हरिनाथ के शिष्य श्री बाणेश्वर भट्टाचार्य ने किया। इसमें रस स्वर्णादि धातुओं तथा गन्धक के शोधन मारणादि का विवेचन करने के अनन्तर ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, अग्निमांद्यादि माधव निदानोक्त रोगों के उसी क्रम के अनुसार चिकित्सार्थ प्रयुक्त विविध प्रकार के योगों का संग्रह किया गया है। अन्य प्रकरणों का भी विभिन्न रस ग्रन्थों के आधार पर सङ्कलन किया गया है जिनका उल्लेख माधवकर ने नहीं भी किया है।

बृहद्रसराजसुन्दर—इस रसग्रन्थ का संग्रह श्री युत माथुर कृष्णलाल पाठक के पुत्र पं० दत्तराम चौबे, मथुरा निवासी, ने अनेक रस और तन्त्र ग्रन्थों के आधार पर किया और स्वयं ही इसकी भाषा टीका भी लिखी है। इसका प्रकाशन पं० श्रीधर शिवलालात्मज पं० श्री निवास किशन लाल जी, अध्यक्ष-ज्ञान सागर प्रेस किशन गढ़, ने सं० २००७ वि० में किया।

इसमें कुल तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में पारदोत्पात्ति उसके संस्कार, चन्द्रोदय, रससिंदूर, रसकर्पूर आदि बनाने तथा भक्षण की विधियों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त गन्धक प्रकरण, धातु प्रकरण, उपधातु विष आदि के शोधन मारणादि का वर्णन है। मध्यम खण्ड में शिलाजतु, गुग्गुलु, रत्नों, विषोपविषों आदि का वर्णन है। उत्तर खण्ड में व्याधिहर योगों का वर्णन किया गया है। रसायन, वाजीकरण आदि योगों का भी इसी में सन्निवेश किया गया है। ग्रन्थ उत्तम है।

रसेन्द्रसम्प्रदाय—इस ग्रन्थ की रचना पं० हजारी लाल सुकुल ने की है जिसका प्रकाशन अपने ही मुद्रणालय में उन्होंने वि० सं० १०१२ में कराया। पुस्तक में क्रियात्मकता अधिक है, जो इसकी उपादेयता में चार चाँद लगा देती है। जो कुछ किया गया उसी का इसमें स्पष्ट और सीधे शब्दों में समावेश कर दिया गया है, यही कारण है कि आचार्य ब्रह्मदत्तशर्मा इसे 'केमिष्ट की डायरी' कहा करते हैं। इसमें पारद के संस्कार, गन्धक शोधन और द्रुति करण, धातु, रत्न, विषोपविषादि के शोधन मरणादि का विवेचन किया गया है।

आयुर्वेदीय खनिज विज्ञान—इस ग्रन्थ का निर्माण कविराज श्री प्रतापसिंह जी ने अनेक प्राच्य-पाश्चात्य ग्रन्थों का अवलोकन करने के पश्चात् किया है। इसमें पारद और उसके खनिजों तथा गन्धक और उसके खनिजों का उच्चकोटि का विवेचन है। इन दो द्रव्यों से बनने वाले सुप्रसिद्ध अनेक आयुर्वेदीय योगों का भी संकलन किया गया है। इस पुस्तक में सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वात् आफ्रे (Aufrect) के केटलागस केटलागॉरम (Cetalogus catalogorum) से रस ग्रन्थों की एक सूची उद्धृत की गई है। उसको भी यथा स्थान उद्धृत किया जायेगा। लेखक ने आशा की है कि इसी प्रकार की कोई सूची किसी भारतीय वैद्य के द्वारा भी बनाई जायेगी। देखें उनका यह स्वप्न कौन साकार करता है ?

काकचण्डीश्वर तन्त्र—इस ग्रन्थ का प्रकाशन पं० विश्वेश्वर दयालु जी वैद्यराज वरालोकपुर—इटावा निवासी ने 'भारतीय रसायन शास्त्र' के अन्तर्गत किया है इस ग्रन्थ के प्रकाशन का उद्देश्य अन्य धातुओं को सुवर्ण में परिवर्तन करने की प्रक्रिया को प्रकाश में लाना है किन्तु इसी प्रसंग में विलुप्त हो रहे एक तन्त्र को भी उन्होंने सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दिया। श्लोकों की संख्या देखने से प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण तन्त्र ३ भाग में विभक्त होगा जिसमें कुल श्लोकों की संख्या २७५ (९७+१००+८८) है किन्तु इन भागों का निर्देश संपादक ने नहीं किया है, इससे यह भी आशङ्का होती है कि अपने मूल उद्देश्य (धातुवाद) से सम्बद्ध अंश को ही उन्होंने प्रकाशित किया और शेष को छोड़ तो नही दिया ? काकचण्डीश्वर तन्त्र उमामहेश्वर संवादात्मक है।

इस तन्त्र के अतिरिक्त रसप्रकाश सुधाकर आदि ग्रन्थों से भी हेमकरण की विधियों का 'भारतीय रसायनशास्त्र' में संग्रह किया गया है। इसकी द्वितीयावृत्ति जो वैद्यराज जी के प्रबन्ध से श्री हरिहर प्रेस, इटावा में सन् १९३८ में मुद्रित हुई, मुझे देखने को मिली थी। उसी के आधार पर उपर्युक्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

रसकौमुदी—इसके कर्ता श्रीमद् भिषग्वर सर्वज्ञचन्द्र के पुत्र आचार्य ज्ञानचन्द्र शर्मा हैं। इन्होंने कब इसका निर्माण किया या किस देश के रहने वाले थे, ऐसा कुछ उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। इस ग्रन्थ में कुल पाँच अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में २० श्लोक हैं जिसमें रसोत्पत्ति का वर्णन किया गया है। द्वितीय अधिकार में ३० श्लोक हैं जिनमें पारद के ९ दोष और उनको दूर करने के लिए किये जाने वाले संस्कारों का विवेचन है। तृतीय अधिकार में ९३ श्लोक हैं जिनमें लोहों की शुद्धि, मारण सत्त्वपातन आदि का

उल्लेख है। चतुर्थ और पञ्चम अधिकार में रसयोगों का उल्लेख है। जगन्मोहन रस, षण्मुखरस, सार्वभौमरस, नवग्रहरस, लोकोत्तररस, ग्रहणीवेला रस, विश्वम्भररस, पञ्चबाण रस, ब्रह्मास्त्ररस, महाकालानलरस, आग्नेयरस, संशोषणरस, रसमात्रा गुटिका, त्रैलोक्य चिन्तामणिरस आदि का वर्णन है। ऐसा सुना जाता है कि एक अन्य रसकौमुदी आचार्य शालि बल्लभ विरचित भी है किन्तु वह मुद्रित नहीं है।

इसका सम्पादन श्री सदानन्द शर्मा प्रणाचार्य के द्वारा और प्रकाशन मोतीलाल बनारसी दास के द्वारा सं० १९८० में किया गया। सम्पादक ने भूमिका में कुछ रससिद्धों और रसतन्त्रों का उल्लेख किया है जिनको उपादेय समझकर अनुदित किया जाता है।

रसतन्त्रकार—श्रीशङ्कर, नदीश्वर, भैरव, ब्रह्मा, विष्णु, दत्तात्रेय आदि देवता; अगस्त्य, कपिल, भालुकि, व्याडि, माण्डव्य आदि महर्षि; चन्द्रसेन, लंकेश, विशारद, कपालि, मत्त, भास्कर, शूरसेन, रत्नकोश, स्वच्छन्द भैरव, मन्थान भैरव, नरवाहन, काकचण्डीश्वर, कापालिक, रसेन्द्र तिलक, सुरानन्द, यशोधन, गोमुख, नरेन्द्र, मैथिल, स्कन्द, भगवत् गोविन्द पाद प्रभृति प्राचीन रससिद्ध, नागार्जुन, नागबोधि, भैरवनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्र नाथ, गोरखनाथ, चर्पटी-नाथ, आदि अन्य प्रसिद्ध रससिद्ध।

रसतन्त्र—रसेन्द्रसंहिता, दत्तात्रेय संहिता, अगस्त्यसंहिता, नासत्य संहिता गोरक्षसंहिता, रुद्रयामलतन्त्र, महारसायनतन्त्र, कामधेनुतन्त्र, सिद्धलक्ष्मीश्वर-तन्त्र, लम्पटतन्त्र, सिद्धतन्त्र, रुद्रतन्त्र, मन्थान भैरवतन्त्र, नागार्जुनतन्त्र, बालतन्त्र, रसहृदयतन्त्र, काकचण्डीश्वरतन्त्र, महारसाङ्कुश, देवीशास्त्र, लोह शास्त्र, रस कल्पद्रुम, रसेन्द्र कल्पद्रुम, प्राणिकल्पद्रुम, रसानन्द कौतुक, रस-कौतुकी, रसकंकाली, रसेन्द्रचूड़ामणि, रसेन्द्र भैरव, रसराजमार्तण्ड, रसेन्द्र भास्कर, रसामृत, रसराजमंगल, सूतमहोदधि, रस पद्धति, रसेन्द्रमङ्गल, रस-मञ्जरी, रसकौमुदी, रसरत्नमाला, रसदर्पण, रसरत्नाकर, रसरत्नप्रदीप, रस-पारिजात।

रसजलनिधि—यह भी प्राचीन ग्रन्थों से संगृहीत एक रस ग्रन्थ है जिसका प्रणयन रसाचार्य कविराज भूदेव मुकर्जी एम० ए० ने किया है। इस पर स्वयं ही इन्होंने आंग्लभाषा में टीका लिखी है। समस्त ग्रन्थ ५ खण्डों में समाप्त हुआ है। प्रथम खण्ड में ८ अध्याय, द्वितीय खण्ड में ४ अध्याय, तृतीय खण्ड में ग्यारह अध्याय है। यहाँ तक रसोपरस धातुओं आदि के शोधन मारणादि विषयों का वर्णन समाप्त होता है। इसके बाद चतुर्थ खण्ड में रसशास्त्र के

विविध योगों का और पञ्चम खण्ड में रोगों का अधिकार वर्णित है। पुस्तक का मूल्य भी परिश्रम और सामग्री के अनुसार बहुत ही कम रक्खा गया है जो लेखक के औदार्य का द्योतक है। इसका प्रकाशन कल्यब्द ५०२७ (सन् १९२६ ई०) में हुआ है।

वैद्यक रसराज महोदधि—इस ग्रन्थ का निर्माण ५ भागों में है। इसके रचयिता ग्राम चकबढ़ बल, जिला जौनपुर निवासी, मुंशी भगवान प्रसाद के शिष्य, भगत भगवानदास जी है। इसमें हिन्दी भाषा में दोहा, छंद और चौपाई का आश्रय लेकर नाड़ी विज्ञान, रोगों का संक्षिप्त परिचय तथा चिकित्सा योगों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ग्रन्थ का प्रचार खूब हुआ। अतएव इसकी आवृत्ति भी निकली। प्रथम प्रकाशन सं० १९९७ (शाके १८६२) में श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई से हुआ। इसमें आयुर्वेदीय औषधों के साथ ही साथ यूनानी, मिसरानी और फकीरी जड़ी बूटियों तथा योगों का अपूर्व संग्रह किया गया है।

भारतीय रसशास्त्र—इस नाम से प्रकाशित दो पुस्तकें देखने को मिली प्रथम **गुजराती भाषा** में वैद्य बापालाल जी द्वारा लिखित। इसका प्रकाशन सन् १९४७ में हुआ है। इसमें कुल ६४ प्रकरण हैं जिनमें औषधियों के बनाने और उनके प्रयोग का विधान सरल रीति से समझाया गया है। दूसरी पुस्तक डा० वामन गणेश देसाई एम० बी० बी० एस, बी एस-सी (लन्दन) द्वारा लिखित, **मराठी भाषा** में है। इसका प्रकाशन सन् १९२८ में ही हुआ है। इससे स्थान स्थान पर प्रथम पुस्तक में भी उद्धरण दिये गये है। ग्रन्थ बहुत ही प्रमाणिक कोटि का है। लिखने की शैली आधुनिक है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद होना चाहिए जिससे अधिक से अधिक लोगों में प्रचार हो सके।

रसधातु प्रकाश—यह पुस्तक भी मराठी भाषा में है और इसके लेखक हैं वैद्य पं० दामुले, प्राचार्य-विदर्भ आयुर्वेद महाविद्यालय अमरावती। ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९५६ में हुआ है। इसमें कुल ५६ अध्याय हैं जिनमें औषधों के बनाने और प्रयोग करने का विधान सविस्तर अनुस्यूत किया गया है।

आयुर्वेदीय खनिज विज्ञान से उद्धृत प्राचीन रसग्रन्थों की सूची

१ रस प्रदीप	रामचन्द्र कृत
२. रसचन्द्रिका	माधव कविकेन्द्र कृत
३. रसमञ्जरी	
४. रसमार्ग	
५. रसमुक्तावलि	
६. रसरत्नाकर	
७. रससंकेतकलिका	चामुण्डकायस्थ कृत
८. रससार	गोविन्दाचार्य कृत
९. रसार्णव	देवी भैरव संवाद
१०. रसेन्द्रचिन्तामणि	रामचन्द्रगुह कृत
११. रस चिन्तामणि	अनन्तदेव सूरि कृत
१२. रसदीपिका	
१३. रसनिघण्टु	गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास
१४. रसपद्धति	विन्दुकृत
१५. रसपारिजात	लक्ष्मीधर सरस्वती-कृत
१६. रसप्रकाश सुधाकर	यशोधर कृत
१७. रसप्रदीपिका	मंगलगिरि सूरि कृत
१८. रस प्रयोग	
१९. रसभेषजकल्प-दीपिका	सूर्यपंडित कृत
२०. रस मञ्जरी	कालीनाथ कृत
२१. रसमानस	दयाराम कृत
२२. रसमुक्तावली	
२३. रसरत्नप्रदीप	रामराज कृत
२४. रसरत्नसमुच्चय	वाग्भट कृत
२५. रसरत्नाकर	नागार्जुन कृत (वास्तव में नित्य-नाथ सिद्ध कृत)
२६. रसराज	
२७. रसराज लक्ष्मी	
२८. रसराज शंकर	रामकृष्ण कृत
२९. रस संग्रह	
३०. रससार समुच्चय	
३१. रससिद्धि प्रकाश	माधव भट्ट कृत
३२. रसहृदय	गोविन्दभिक्षु कृत
३३. रसालङ्कार	रामवीर भट्ट कृत
३४. रसेन्द्र कल्पद्रुम	
३५. रसेन्द्र चिन्तामणि	
३६. रसेन्द्र चूड़ामणि	नाकिञ्च देव कृत
३७. रसकंकालीय तंत्र	कंकाली कृत
३८. रस कल्पलता	
३९. रस कल्पलता	काञ्चीनाथ कृत
४०. रसकषाय	वैद्यराज कृत
४१. रसकौतुक	
४२. रसकौमुदी	
४३. रसकौमुदी	माधव कृत
४४. रसकौमुदी	शक्तिवल्लभ कृत
४५. रस गोविन्द	गोविन्द कृत
४६. रसचन्द्रिका	नीलाम्बर पुरोहित कृत
४७. रस दर्पण	
४८. रसदीपिका	आनन्दानुभव कृत
४९. रसदीपिका	रामराज कृत
५०. रसनिबन्ध	
५१. रसपद्धति	
५२. रसपद्यचन्द्रिका	
५३. रसपारिजात	
५४. रसप्रकाश सुधाकर	
५५. रस प्रदीप	प्राणनाथ कृत
५६. रसप्रदीप	रामचन्द्र कृत

५७. रसप्रदीप बैद्यराज कृत
५८. रसमस्मविधि
५९. रसभेषजकल्प सूर्यपंडित कृत
६०. रसभोग मुक्तावली
६१. रसमञ्जरी
६२. रसमञ्जरी शालिनाथ कृत (२०)
६३. रसमणि: हर कृत
६४. रसमुक्तावलि
६५. रसयामल
६६. रसयोग मुक्तावली नरहरिभट्ट कृत
६७ रसरत्न
६८. रसरत्न श्रीनाथकृत
६९. रसरत्न प्रदीप
७०. रसरत्नप्रदीपिका
७१. रसरत्नसमुच्चय नित्यनाथ-सिद्ध कृत (२४)
७२. रसरत्नाकर चक्रपाणि कृत
७३. रसरत्नावली गुरुदत्तसिंह कृत
७४. रसरसार्णव
७५. रस रहस्य
७६. रसराज (२६)
७७. रसराज लक्ष्मी (२७)
७८. रसराज शिरोमणि परशुराम कृत
७९. रसराज हंस
८०. रसवैशेषिक
८१. रसशोधन
८२. रससंस्कार
८३. रससंग्रह सिद्धान्त अचिन्त्य कृत
८४. रससागर
८५. रससार
८६. रससार संग्रह
८७. रससार समुच्चय
८८. रससिद्धान्त संग्रह
८९. रससिद्धान्त सागर
९०. रससिद्धि प्रकाश
९१. रससिन्धु
९२. रससुधाकर
९३. रससुधानिधि वृजराज कृत
९४. रससुधाम्भोधि:
९५. रससूत्रस्थान
९६. रसकेतु: रसतरंगिणीकीटीका
९७. रसहेमन् या कंकालीय रसहेमन्
९८. रसाकर
९९. रसादि शुद्धि
१००. रसाधिकार
१०१. रसाध्याय, कंकालाध्याय
१०२. रसामृत जयदेव कृत
१०३. रसायनविधान
१०४. रसायनविधि
१०५. रसार्णवकला
१०६. रसावतार

नोट—कुछ ग्रन्थ मुझे पुनरुक्त से लगे अतएव एक का क्रमांक दूसरे के आगे दे दिया है। मूलग्रन्थों को देखने के पश्चात् ही कुछ अन्तिम निर्णय हो सकेगा कि वस्तु स्थिति क्या है ?

माथुर वैश्यायुर्वेदोद्धारक शालग्राम लिखित रसरत्नाकर की भूमिका में रसग्रन्थ की जो सूची दी गई हैं, उसे साभार उद्धृत किया जा रहा है—

१. तन्त्रराज	जावलकृत
२. दत्तात्रेय संहिता	दत्तात्रेयकृत
३. दिव्य रसेन्द्रसार	धनपतिकृत
४. बालतन्त्र	कल्याणभट्टकृत
५. योगमाला	योगसिद्धकृत
६. रसकल्पलता	काशीनाथ कृत
७. रसचन्द्रिका	नीलाम्बर-पुरोहित कृत
८. रसेन्द्रचिन्तामणि	रामचन्द्र कृत
९. रसाधिकार	हरिहर कृत
१०. रसदीपिका	आनन्दानुभव कृत
११. रसमञ्जरी	सिद्धकालीनाथ कृत
१२. रसदर्पण	त्रिमल्लभट्ट कृत
१३. रसयोगमुक्तावली	नरहरिभट्ट कृत
१४. रसरत्न	श्रीनाथ कृत
१५. रसरत्नमाला	सिद्धनित्यनाथ कृत
१६. रसरत्नाकर	सिद्धदेवाचार्य कृत
१७. रसरत्नावली	गुरुदत्तसिद्ध कृत
१८. रसराजलक्ष्मी	रामेश्वरभट्ट कृत
१९. रससंग्रह	सिद्धान्ताच्युत कृत
२०. रससार संग्रह	पण्डितगङ्गाधरकृत
२१. रसराजसुधानिधि	वृजराजशुक्लकृत
१२. रसहेमन्कपाली	हेमन् कपाली कृत
२३. रसामृत	कामदेव कृत
२४. रसेन्द्रसार संग्रह	गोपालभट्ट कृत
२५. रसराज मृगाङ्क	भोजदेवकृत
२६. योगरत्नाकर	केशवदेव कृत
२७. भिषक् चित्तोत्सव	हंसराजकृत
२८. नवरत्नधातुविवाह	वलभद्रकृत
२९, ताम्रवन	मुण्डीकृत
३०. दत्तात्रेय तन्त्र	दत्तात्रेयकृत
३१. नागार्जुन तन्त्र	नागार्जुन कृत
३२. कुमार तन्त्र	लंकेशकृत
३३. रसकंकाली	कंकालीकृत
३४. रसकौमुदी	माधवकरकृत
३५. रसप्रकाश सुधाकर	यशोधरकृत
३६. रसेन्द्र चूड़ामणि	सोमदेवकृत
३७. रसभैषज्यावलि	सूर्यकविकृत
३८. रसरत्नावलि	कविचन्दराजकृत
३९. रसदीप	सिद्धप्राणनाथकृत
४०. रसगोविन्द	गोविन्द कृत
४१. रसविश्वदर्पण	हरिहर कृत
४२. रसरत्नाकर	चक्रपाणिकृत
४३. रसरत्नसमुच्चय	शंकरजी कृत
४४. रसानन्द कौतुक	नरवाहनकृत
४५. रससार	गोविन्दाचार्यकृत
४६. रससारतिलक	रसेन्द्र तिलक योगिकृत
४७. रसहृदय	गोविन्दाचार्यकृत
४८. रसामृत	जयदेवकृत
४९. रसेन्द्रकल्पद्रुम	राजकृष्णभट्ट कृत
५०. रसराज मार्तण्ड	भोजराजकृत
५१. सिद्धतन्त्र	केशवदेव कृत
५२. योगमाला	योगसिद्धकृत
५३. योगासन	वररुचिकृत
५४. योगामृत	गोपालदासकृत
५५. कामरत्नतन्त्र	सिद्धनित्यनाथकृत
५६. नागार्जुनीय	सिद्धनागार्जुनकृत
५७. पञ्चसायक	कवि शेखर ज्योतीश्वरकृत

५८. रसराज शिरोमणि परशुरामकृत
५९. रससंकेतकलिका चामुण्ड कृत
६०. कौतुकचिन्तामणि प्रतापरुद्रदेव कृत
६१. रसेन्द्रशूरप्रभा शूरसेनकृत
६२. आयुर्वेदरसायन भोजराज कृत
६३. सन्निपातकलिका शम्भुनाथकृत
६४. क्षेमकौतूहल क्षेमराजकृत
६५. सन्निपातकलिका रुद्रनाथ कृत
६६. महारसांकुश रसांकुशकृत
६७. रससारामृत रामसेन कृत
६८. रसवारिधि माण्डवकृत
६९. मण्डूकब्राह्मीकल्प ब्रह्माचार्य कृत
७०. काकचण्डेश्वरी तन्त्र काकचण्डेश्वरकृत
७१. रसेन्द्रचिन्तामणि ढुंढनाथकृत
७२. रससंजीवनी हरीश्वरकृत
७३. कामरत्नतन्त्र श्रीनाथभट्टकृत
७४. योगसुधा निधि बन्दी मिश्र कृत
७५. रसकषाय वैद्यक वैद्यराज कृत
७६ रसराजशिरोमणि देवणकृत
७७. रसविद्यारत्न शिवनन्दन गोस्वामीकृत
७८. गोरक्षसंहिता गोरक्षनाथ कृत
७९. आयुर्वेद रसशास्त्र माधवकृत
८०. आयुर्वेद सर्वस्व भोजराजकृत
८१. रसराज शंकर शंकरजीकृत
८२. चिकित्सा मृग गणेशजीकृत
८३. रसचन्द्रोदय चन्द्रसेनकृत
८४. रसराज महोदधि कपालीकृत
८५. रससर्वेश्वर वासुदेवकृत
८६. रसेन्द्रभैरव भैरव कृत
८७. मन्थान भैरव भैरव कृत
८८. रसेन्द्र भास्कर सिद्धभास्कर कृत
८९. रसेन्द्रभाण्डागार रसेन्द्रकृत

ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों का उन्होंने अवलोकन किया है, क्योंकि अनुपलब्ध (नामशेष) ग्रन्थों की एक दूसरी सूची भी उन्होंने दी है जो अधोलिखित है—

रसपारिजात, रसपद्मचन्द्रिका, रसभस्मविधि, रसराजहंस, रसरहस्य, रससुधाकर, रससिद्धान्तसागर, तन्त्रोद्धार।

महादेव (शिव) निर्मित ग्रन्थ—रसमंगल, रसेन्द्रसंहिता, रसार्णव, महारसायन विधि, रुद्रतन्त्र।

वीरभद्रनिर्मित योग – अमृतार्णव, ऐश्वर्य भास्कर, अमृतेश्वर, कामेश्वर, तांबेश्वर, पञ्चानन, नीलकंठ, वज्रेश्वर, प्रचण्डभैरव, भूतभैरव, त्रिनेत्रनागेश्वर, वंगेश्वर, मृत्युञ्जय, उदयभास्कर, चन्द्रोदय, प्राणेश्वर, चन्द्रामृत, अग्निकुमार, वसन्तकुसुमाकर, राजमृगांक, महामृगांक, कालान्तक, लोकेश्वर, काकधेनु रस, मकरध्वज; सर्वाङ्गसुन्दर, महालक्ष्मी विलास, विजयभैरव रस, भूताङ्कुश, सोमेश्वर, नाराचरस, उड्डाम्बर रस, भस्मसूत्र, सूर्यावर्त, चिन्तामणि रस, गुञ्जाभद्ररस, हरिशंकर रस, पञ्चवक्त्ररस, पाषाणभेद रस, सूर्योदयरस, सर्वतोभद्ररस (४२ योग)

जामनगरस्थ महाराजा जुवानसिंह जी लाइब्रेरी एवं संग्रह स्थान में प्राप्त रसग्रंथों की सूची—

१. रसरत्नाकर
२. रसहृदयतन्त्रम्[1]
३. काकचण्डेश्वरी मततन्त्र
४. रसेन्द्रचूड़ामणि
५. रसप्रकाश सुधाकर
६. रसचिन्तामणि
७. रसकल्प
८. रसराजलक्ष्मी
९. रसनक्षत्रमालिका
१०. रसरत्नाकर
११. धातुरत्नमाला
१२. रसप्रदीप
१३. धातुक्रिया वा धातुमञ्जरी
१४. सुवर्णतन्त्र
१५. कुब्जिकातन्त्र
१६. रसार्णव
१७. रसरत्न समुच्चय
१८. रससार
१९. शार्ङ्गधर संग्रह
२०. रसेन्द्रसार संग्रह
२१. रसेन्द्रकल्पद्रुम
२२. रसकौमुदी
२३. लोहपद्धति
२४. अर्कप्रकाश
२५. रसेन्द्ररत्न कोष
२६. रसकल्प
२७. रसालंकार
२८. रसचन्द्रोदय
२९. रसायनप्रकाश
३०. रसदर्पण
३१. रससागर
३२. रसदीप
३३. रसामृत
३४. रसदीपिका
३५. रसराजसुन्दर
३६. रससंग्रह सिद्धान्त
३७. रसक
३८. रसकंकाली
३९. रसकपूर
४०. रसकसाय वैद्यक
४१. रसकुदुक
४२. रसमङ्गल
४३. रसमञ्जरी
४४. रसामृत
४५. रसराजमहोदधि
४६. रसराजमृगांक
४७. रससञ्जन
४८. रसरत्न
४९. रसरत्न प्रदीप
५०. रसरत्नावली
५१. रससर्वेश्वर
५२. रसविश्वदर्पण
५३. रसयोग मुक्तावली
५४. रसेन्द्र भास्कर
५५. रसेन्द्रमंगल
५६. रससर्वेश्वर दर्शन
५७. रसेश्वर सिद्धान्त
५८. रसरत्नाकर

---

१. श्रीमद् गोविन्द भगवत् पाद विरचितम्—श्री चतुर्भुज मिश्र विरचिता मुग्धावबोधिनी व्याख्या ।

५९. रसार्णव
६०. रसप्रकाश सुधाकर
६१. अभ्रककल्प
६२. रसकंकालीय
६३. रसकल्पलता
६४. रसकामधेनु
६५. रसकिन्नर
६६. रसराज शंकर
६७. रसज्ञान
६८. रसराज शिरोमणि
६९. रसतरंगमालिका
७०. रसपारिजात
७१. रसचण्डांशु
७२. रसरत्नमणिमाला
७३. अष्टधातुमारण विधि
७४. आयुर्वेद रसशास्त्र
७५. आयुर्वेद सर्वस्व
७६. उपधातु मारण
७७. गन्धक रसायन
७८. तंत्रराज
७९. ताम्रवने मुण्डाकृति पाषाणकल्प
८०. धातुकल्प
८१. धातुमञ्जरी
८२. धातुमारण
८३. धातुरत्नमाला
८४. धातुशोधन
८५. नवरत्न धातुविवाह
८६. नागव्याधिनिर्णय
८७. नागार्जुन तन्त्र
८८. यन्त्रोद्धार
८९. रत्नदीपिका
९०. रत्न परीक्षा
९१. रत्नप्रदीप निघण्टु
९२. रत्नावली
९३. रत्नसार चिन्तामणि
९४. रत्नाकर
९५. रसकल्पलता
९६. रसकषाय
९७. रसकौतुक
९८. रसकौतुकाख्य
९९. रसकौस्तुभ
१००. रसकलिका
१०१. रसगोविन्द
१०२. रसचन्द्रिका
१०३. रसतत्त्वसार
१०४. रसदर्पण
१०५. रसदीपिका
१०६. रसनिबन्ध
१०७. रसपद्धति
१०८. रसपद्य चन्द्रिका
१०९. रसप्रकाश
११०. रसभस्मविधि
१११. रसभेषज कल्प
११२. रसभोग मुक्तावलि
११३. रसमणि
११४. रसयामल
११५. रसरत्न
११६. रसरत्नप्रदीपिका
११७. रसरत्नमाला
११८. रसरत्नाकर
११९. रसरत्नाकर
१२०. रसरत्नाकर
१२१. रसरहस्य
१२२. रसराजसुन्दर
१२३. रसराज हंस
१२४. रसवैशेषिक

१२५. रसशोधक
१२६. रससंस्कार
१२७. रससंकेत
१२८. रससंकेतकलिका
१२९. रससागर
१३०. रससार
१३१. रससार संग्रह
१३२. रससारामृत
१३३. रससिद्धान्त संग्रह
१३४. रससिद्धान्त सागर
१३५. रससिद्धि प्रकाश
१३६. रससिन्धु
१३७. रससुधाकर
१३८. रससुधानिधि
१३९. रससुधाम्भोनिधि
१४०. रससूत्रस्थान
१४१. रसहेमज
१४२. रसाद्विशुद्धि
१४३. रसाधिकार
१४४. रसाध्याय
१४५. रसामृत
१४६. रसायनतरंगिणी
१४७. रसायन निपान
१४८. रसार्णवकला
१४९. रसालंकार
१५०. रसेन्द्र
१५१. रसोपरसशोधन
१५२. लोहरत्नाकर
१५३. लोहशास्त्र
१५४. लोहप्रदीप
१५५. वंगसेन
१५६. सिद्धयोगमाला
१५७. सूतमहोदधि
१५८. सूतार्णव

रसयोग सागर—वैद्यराज पं० हरिप्रपन्न जी, श्री भास्कर औषधालय, मुंबई के प्रयत्न और प्ररिश्रम से इस ग्रन्थ रत्न के प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १९२० में हुआ। इसमें अ से लेकर त तक वर्णों से प्रारम्भ होने वाले योगों का संग्रह है। साथ में १०४ पृष्ठों के आंग्ल भाषा में और १७८ पृष्ठों में संस्कृत भाषा में उपोद्घात लिखा गया है जो वैदिक काल से लेकर अब तक के आयुर्वेदीयेतिहास पर प्रकाश डालता है। प्रथम भाग में १८०० रसयोगों का संग्रह किया गया है।

द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् १९३० ई० में हुआ। इसमें २०८२ योग है। साथ ही दक्षिण भारत में प्रचलित सिद्ध सम्प्रादाय के योगों और आन्ध्र प्रदेश में प्रचलित सिद्ध रसों का भी संग्रह कर दिया गया है। परिशिष्ट भाग में छूटे हुए रसों और अनेक पर्यायवाची शब्दों, मानपरिभाषा आदि का खुलासा किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी एवं संग्राह्य है।

भारत भैषज्य रत्नाकर—रसवैद्य श्री नगीनदास छगनलाल शाह, अध्यक्ष ऊँझा आयुर्वेदिक फार्मेसी गुजरात के सत् प्रयत्न से इस महान् ग्रन्थ का ५ भागों में और २९०० बड़े-बड़े पृष्ठों में प्रकाशन हो पाया। इसका द्वितीय संस्करण जो सन् १९४३ में निकला अतीव उपादेय एवं संग्राह्य है। वास्तव

में देखा जाय तो यह स्वयं में एक पुस्तकालय है जिसने आयुर्वेदीय जगत के एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। इसकी हिन्दी टीका पं० गोपीनाथ जी गुप्ता भिषग् रत्न द्वारा प्रारम्भ की गई और कविराज गजानन जटाशङ्कर त्रिवेदी द्वारा पूर्ण की गई।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में लगभग १० हजार योगों का समावेश है जो अकारादि क्रम से क्वाथ, चूर्ण, अवलेह, गुटिका, घृत, तैल रसादि के रूप में संगृहीत किये गये हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक-एक योग के कितने पाठभेद किन-किन ग्रन्थों में मिलते हैं। ग्रन्थकार द्वारा प्रदत्त अग्निकुमार रस का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा जिसके उन्होंने ३८ पाठ संग्रह किये हैं। चिकित्सा पथ प्रदर्शिनी और भी उपादेय है।

A History of Hindu chemistry—इसके लेखक सर प्रफुल्लचन्द्र राय D. Sc., Ph. D. हैं। दो भागों में सन् १९०४ में इसका परिवर्द्धित रूप प्रकाशित हुआ। इसमें आरम्भिक काल से लेकर १६ वीं शताब्दी के मध्य तक का भारतीय रसायन भेषज का इतिहास सन्निहित है। लेखक ने बताया है कि सभ्य कहलाने वाले सभी देशों में भेषज योगों का सम्बन्ध खनिजों के उत्पादन, उनके शोधन आदि से सम्बद्ध तरीकों तथा एक धातु को दूसरे धातु में परिवर्तित करने के प्रयत्न से सम्बद्ध रहा है। भारतवर्ष में रसायन शास्त्र का जन्म चिकित्सा शास्त्र के उपबृंहणार्थ ही हुआ है। औषधियों और देवताओं के सम्बन्धों की कल्पना की गई है। ऋग्वेद कालीन अश्विनी कुमारों की समानता यूनानी देवता डियास (Diosthouroi) से मिलती जुलती है। इस समय के अन्य देवता अग्नि, वायु आदि भी प्राकृतिक तत्वों के प्रतिनिधि हैं। सोम नामक औषधिराज की भी यही स्थिति है और यहीं से भारतीय रसायन का प्रारम्भ होता है। किन्तु अथर्ववेद के काल मे इस मान्यता का परिवर्तन हो जाता है। अब लोग औषधियों का रोगहरत्व की दृष्टि से अध्ययन करने लगते हैं। किन्तु अब भी तन्त्र-मन्त्र का प्राधान्य तो रहता ही है। इस तरह ऋग्वेद के काल तक भारतीय भैषज्य परम्परा का चिह्न ढूँढ़ा जा सकता है।

अथर्ववेद के समय में भूत विद्या और तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग बढ़ जाता है। इसी तरह की भावनायें प्राचीन काल में मिस्त्रियों और यूनानी समाज में भी प्रचलित थीं। इसीलिए स्मृतियों (मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, आपस्तम्ब आदि) ने इसके वेदत्व पर शंका प्रकट की है। अथर्ववेद में 'भैषज्यानि' और 'आयुष्याणि' इस प्रकार औषधियों के दो वर्ग गिनाये गये हैं। आयुष्याणि के अन्तर्गत मुक्ता, सुवर्ण, जैसी वस्तुओं का उल्लेख है अतएव इसको रसायन या रसशास्त्र का प्रतिनिधित्व करने वाला माना जा सकता है। इस तरह वनौषधियों का

ऋग्वेद काल से और रसायन (Alchemy) का अथर्ववेद के समय से आरम्भ माना जा सकता है।

संहिताकाल में भेषजशास्त्र को वैज्ञानिक आधार पर संकलित किया गया। अथर्ववेद और चरक के काल में कम से कम १ हजार वर्ष का अन्तर होना चाहिये। फ्रेंच विद्वान् सिल्वियन लेवी के मतानुसार द्वितीय शताब्दी के कनिष्क के राजदरबार में चरक रहते थे और इस तरह से उन्होंने भारतीय चिकित्सा पद्धति पर यूनानी प्रभाव के पड़ने का उदाहरण इकट्ठा किया है जो उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि वेदों में चरकशाखाध्यायी ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। पाणिनि ने भी इसका उल्लेख "कठचरकाल्लुक्" (४।३।१०७) सूत्र से किया है। पतञ्जलि (द्वितीय शताब्दी इसवी पूर्व) ने चरक संहिता का भाष्य लिखा है जिसका उद्धरण नागेश भट्ट ने लघुमञ्जूषा में (आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्, रागादिवशादपि नान्यथावादि यः स इति चरके पतञ्जलिः) किया है। इसी आधार पर चक्रपाणि ने इन्हें नमस्कार भी किया है। ये सभी प्रमाण चरक का बुद्ध को अपेक्षा पूर्ववर्ती होना सिद्ध करते हैं।

यदि हम चरकसंहिता से आभ्यन्तर प्रमाणों के बारे में विचार करें तो प्रतीत होगा जिस प्रकार सुश्रुत ने एक विषय को एक ही स्थान पर उपनिबद्ध किया है, वैसी प्रणाली चरकसंहिता में नहीं दृष्टिगोचर होती। यहाँ पर एक ही विषय अनेक स्थलों पर विविध प्रसंगों में वर्णित है। स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक प्रसंगों की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त न्याय और वैशेषिक शास्त्र के सिद्धांतों की चर्चा भी प्रकीर्ण रूप में मिलती है। गौतम ने न्याय-शास्त्र में पदार्थ के १६ भेद बताये हैं तो चरक ने (वि. ८।२२ में) ४४ भेद बताये हैं। दूसरे चरक में वैदिक मन्त्रों का वर्णन मिलता है–पौराणिक मन्त्रों का नहीं। अस्थिगणना के प्रकरण में ३६० की संख्या का उल्लेख भी वैदिक मतानुयायित्व का ही प्रतिपादक है। जिस प्रकार पाणिनी व्याकरण अपने पूर्व-वर्ती यास्क, शाकल्य, शाकटायन, गार्ग्य आदि वैयाकरणाचार्यों के मतों को सुबद्ध और सुसंस्कृत रूप में प्रस्तुत करता है उसी प्रकार दृढ़बलपूरित अद्यतनीन चरकसंहिता भी अपने पूर्ववर्तियों के द्वारा विरचित अनेक ग्रन्थरत्नों के प्रति-बिम्ब का प्रतिनिधित्व करने वाला संग्रह मात्र है।

यूनानी चिकित्सा विज्ञान में हिपोक्रेट्स के पूर्व यही दशा थी। ड्रेपर का मत है कि अनेक ग्रन्थों को हिपोक्रेट् द्वारा या उसके शिष्यों द्वारा विरचित माना जा सकता है किन्तु इनके अतिरिक्त बहुत से ग्रन्थ टोलेमी ने पैसे दे-दे कर बनवाये और उनके लेखकों के बारे में कुछ कह सकना बड़ा मुश्किल है।

चरक में लिखे हुए गद्यांशों की शैली ब्राह्मणग्रन्थों से मिलती जुलती है। जो बहुत ही सरल और विवेचनपरक है। इसके विपरीत द्वितीय शताब्दी के गिरिनार और नासिक के शिलालेखों की भाषा उपमानोपमेय पूर्ण और सप्तम शताब्दी की बाण और सुबन्धु की गद्यरचना आलंकारिक और कृत्रिमता पूर्ण है। अथर्ववेद और चरक के बीच के काल में कई चिकित्साग्रन्थ बने होंगे जो अपने-अपने समय (ब्राह्मण, उपनिषद् और बुद्ध काल) की विद्या और प्रगति को सूचित करने वाले होंगे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। चरक के समय में ही कम से कम ६ पुस्तकें—अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, हारीत, पाराशर और क्षारपाणि की अवश्य उपलब्ध थीं। चरक की रचना केवल अग्निवेश तन्त्र के आधार पर हुई, तथापि इन्होंने इसको नये रूप में संक्षेप-विस्तार करके समाज के सामने रखा। अन्य ५ संहितायें नष्ट-भ्रष्ट रूप में ही सही वाग्भट के समय तक अवश्य मिलती रही हैं।

चरक के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय में चिकित्सकों की सार्वदेशिक सभायें हुआ करती थीं जिसमें बाह्लीक (Bartiana-बल्ख) जैसे सुदूर देशों से काङ्कायन आदि विद्वान् आये और वहाँ पर जो चर्चायें हुईं उसके प्रतिवेदन के रूप में अनेक अध्यायों का निर्माण हुआ। उस समय (ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही) अध्यक्ष ने अनेक विवादास्पद विषयों का समाधान भी किया है जिसका स्पष्ट उल्लेख विविध प्रसंगों में मिलता है। इससे भी चरक संहिता का बुद्ध काल से पूर्वभवत्व प्रतिपादित होता है।

सुश्रुत की भाषा सामान्य, शुद्ध और प्रसङ्गानुकूल है। डल्लन के मतानुसार यह उत्तर तन्त्र के रूप में नागार्जुन द्वारा प्रतिसंस्कृत भी है। नागार्जुन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और बौद्धमतानुयायी रससिद्ध थे। कई स्थानों पर इन्होंने चरक के प्रसङ्गों का शब्दशः संकलन किया है। महाभारत में तथा वार्तिककार कात्यायन ने अपने ग्रन्थ में (४ सौ वर्ष ई० पू०) सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र माना है। ईसा की ५ वीं शताब्दी में वृद्ध सुश्रुत नामक एक ग्रन्थ भी प्रचलित था। डा० हार्नले के मतानुसार बावर की पाण्डुलिपि को ४ थी और ५ वीं शताब्दी के बीच में लिखा गया है जिसमें सुश्रुत, हारीत, भेल, पराशर आदि के उल्लेख मिलते हैं। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि चरक, सुश्रुत, नावनीतकम् और अष्टाङ्गहृदय आदि की रचना एक से ही सिद्धान्तों के आधार पर की गई है जो इसी बात की पुष्टि करते हैं कि उनमें बतायी गई बातें उनसे पहले के समय से चली आ रही थीं और उसी का तत्तद् ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है।

वाग्भट ने चरक और सुश्रुत के ही आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना की

है। अतएव ये ग्रन्थ ९ वीं शताब्दी तक उसी रूप में मिलते होंगे जैसे आज हमको प्राप्त हो रहे हैं। माधव विद्वान् ने सुश्रुत उत्तर तन्त्र से अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है और इस निदान का बगदाद के खलीफा ने अपनी भाषा (अरबी) में अनुवाद कराया जो ८ वीं शताब्दी में इस ग्रन्थ की स्थिति और प्रचार होने का प्रमाण देता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस समय चरक सुश्रुत का प्रचार केवल कुछ विद्वानों में ही अवशिष्ट रह गया था अतएव सामान्य जनता के लाभार्थ इनकी (संग्रहग्रंथों की) रचना की गई। इसीलिए वाग्भटोक्ति का यही अर्थ लगाया जा सकता है कि उन्होंने प्राचीन आयुर्वेदिक विषयों को अधिक सुनियोजित और वैज्ञानिक रूप में रखने का प्रयास किया है। समय बीतने के साथ-साथ सुश्रुत के पाठों में अनेक विकल्प आते गये अतएव डल्लन ने कहीं जेज्जट के पाठ को (अनार्षोऽयं योगः जेज्जटाचार्येण नोक्तत्वात्, चि० ७।३) तो कहीं गयदास के पाठ को ही आर्ष माना है।

हास (Haas नामक अंग्रेज विद्वान् का मत है कि सुश्रुत शब्द सुकरात (Sokrates) का अपभ्रंश है जो इसी के अपभ्रंश (बुकरात-हिपोक्रेट का अरबी) से बना है और इस तरह यह पुस्तक यूनानी के आधार पर रची गई है। किन्तु यह विचारक तो वाग्भट, माधव और शार्ङ्गधर को ही चरक, सुश्रुत का पूर्ववती मानता है और बताता है कि आयुर्वेद का अभ्युदय १० वीं और १६ वीं शताब्दी के बीच हुआ जो वास्तव में आयुर्वेद का ह्रास काल है। एक दूसरे विद्वान् राथ (Roth) का कहना है कि चरक का निर्माण ईडिस (Eides of Aes culapius) नामक यूनानी पुस्तक के आधार पर हुआ है और त्रिदोष सिद्धांत ग्रीकों के रस-सिद्धान्त (Humoral theory) पर आधारित है। ऐसी बातें केवल कोरी कल्पना ही हैं।

वास्तव में देखा जाय तो त्रिधातु विज्ञान का उदय ऋग्वेद से हुआ। बौद्ध साहित्य महावग्ग ने भी सुश्रुत के विषयों का अनुकरण किया गया है। पाणिनी के व्याकरण में अनेक आयुर्वेदीय शब्दों के नाम आते हैं। कात्यायन के वार्तिक में (४-३ शताब्दी ई० पू०) त्रिदोष का उल्लेख मिलता है। विनय पिटक में त्रिदोषवाद की चर्चा है। अतएव हास आदि के विचार कि यूनानी से आयुर्वेद का उदय हुआ मात्र हास्यास्पद ही है।

दक्षिण भारत में वाग्भट विरचित अष्टाङ्गहृदय का ही प्रचार है, चरक, सुश्रुत का पठन-पाठन सीमित रूप में ही मिलता है। अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय की रचना प्रधान रूप से चरक- सुश्रुत के आधार पर हुई किन्तु कहीं-कहीं हारीत, भेल आदि से भी कुछ अंश लिए गये हैं। हाँ शल्यशास्त्र के यन्त्रों और क्रियाओं में कुछ परिवर्तन अवश्य किया गया है। इसी तरह

औषधि निर्माण की विधि को भी किसी रूप में परिष्कृत किया गया है। दक्षिण भारतीय विद्वानों का कहना है कि वाग्भट वास्तव में ब्राह्मण था किन्तु वृद्धावस्था में बोद्धमातनुयायी हो गया।

वृन्द और चक्रपाणि दत्त ने भी बौद्धाचार्यों द्वारा कथित अनेक योगों का अपने संग्रहों में उल्लेख किया है। इसी तरह औषध प्रदान करते समय या निर्माण करते समय तान्त्रिकमन्त्रों के बोलने का भी उल्लेख मिलता है। बौद्ध मठों में चिकित्सालय होते थे जहाँ मनुष्य और पशुओं की समान चिकित्सा की जाती थी। सामान्य रोगों की राम बाण औषधियों को स्तम्भों और शिलाओं पर खुदवा दिया जाता था। अलबरूनी को यूनानी रसायन शास्त्र और ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था। उसका कहना है कि (११ वीं शताब्दी के) भारतीय लोगों में इस समय धातुवाद का अच्छा प्रचार था और वे स्वर्ण हरिताल आदि का रसायन के रूप में प्रयोग करते थे।

यद्यपि अन्य देशों में धातुवाद का प्रयोग सोना बनाने के लिए किया जाता था किन्तु भारत में ज्योतिष, गणित, रसायन आदि सभी शास्त्र धर्म के प्रतिपादनार्थ ही व्यवहृत किये जाते थे। अथर्ववेद के जानने वालों को अन्य वैदिकों की अपेक्षा इसीलिए जनता ने अधिक सम्मान प्रदान किया कि उन्होंने उसकी रक्षा रोगों से की। तथापि धातुवाद की परम्परा का विकास अधिक तर तन्त्रशास्त्रों में ही हुआ। यद्यपि सातवीं शताब्दी के आस-पास से ही बौद्धधर्म का पतन प्रारम्भ हो गया था फिर भी वह ११वीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में इस देश में वर्तमान अवश्य रहा। इस तरह ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही धर्मानुयायियों ने तन्त्रशास्त्र के विकास में योग दिया। शैवमतानुयायी पार्वती परमेश्वर को और बौद्ध गण किसी तथागत या अवलोकितेश्वर को इसका आचार्य मानते रहे हैं। कुछ तन्त्र दोनों सिद्धान्तों के मतों के समन्वय से बने। उदाहरणार्थ रसार्णव तन्त्र शैव मत वालों के और नागार्जुन कृत महाकाल तन्त्र और रसरत्नाकर समन्वयवादी दृष्टिकोण के प्रतिपादक हैं। रसहृदय तन्त्र भी हर गौरी (Mercury and mica) सृष्टि संयोग से मोक्षप्राप्ति का उपदेश करता है। रसेश्वरसिद्धांत में अनेक सिद्धाचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है।

विजयनगर के राजा प्रथम बुक्क के मन्त्री माधवाचार्य सन् १३३१ में शृंगेरी मठ के शंकराचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने सर्वदर्शनसंग्रह नामक पुस्तक लिखी है। इनके जीवनकाल (अर्थात् १४वीं शताब्दी) में १६ प्रकार के दर्शनों का प्रचलन था। उन्हीं में से एक रसेश्वरदर्शन भी है। इसमें रसार्णव का उल्लेख आता है, अतएव सहज ही अनुमान निकाला जा सकता

है कि इस ग्रन्थ के निर्माण का काल कम से कम १२वीं शताब्दी अवश्य होगा। सन् १००० में लिखित अमरकोष में चपल, रस, सूत आदि पारद के पर्याय मिलते हैं। किन्तु महेश्वर रचित विश्वकोश (सन् ११८८ ई० में) हर-बीज भी इसके नाम के रूप में परिगणित है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पारद को बीज (generative principle) मानने वालेतंत्रों का अभ्युदय ११वीं और १२वीं शताब्दो के बीच में हुआ। यद्यपि इस तरह से सामान्य रसायन शास्त्र और कीमियागरी बहुत समय से साथ-साथ प्रचलित हो सकते हैं। जैसे ऋग्वेद और अथर्ववेद थे। किन्तु कीमिया को महत्व इसी समय (११-१२वीं शताब्दी में) मिला ऐसा पाश्चात्य ऐतिहासिकों का मत है जो स्वयं माधवाचार्य द्वारा उद्धृत रसार्णव तन्त्र, लंकावतार तन्त्र (८-९ ई०) तथा अन्य प्रथम और द्वितीय शताब्दी में पाये जानेवाले तन्त्रों के आधार पर खण्डित हो जाते हैं। वाराहमिहिर कृत वृहत् संहिता (५८७ ई०) में पारद के रसायन-वाजीकरण गुणों का उल्लेख है।

रसार्णव हमारे लिए राष्ट्रीय विरासत के समान है। इसके आधार पर ही रसरत्न समुच्चय, रसेन्द्रचिन्तामणि आदि की रचना हुई। इसकी पांडुलिपियाँ कश्मीर और मद्रास पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं। संभव है रसावर्णवकार ने अपने पूर्ववर्ती रसरत्नाकर (नागार्जुनकृत) से प्रेरणा ली हो। रसरत्न समुच्चय में द्रव्य-गुण, रसशास्त्र और चिकित्सा तीनों ही शाखाओं का वैज्ञानिक रूप में संकलन किया गया है। इसके रचयिता ने अपना नाम वाग्भट बताया है जो यूरोप के मध्यकालीन गेबर (Gaber) की याद दिलाता है। वहाँ भी इस नाम के कम से कम २ आचार्य हुए हैं जो एक दूसरे में काफी समय का अन्तर रखते हैं। इस ग्रन्थकर्ता ने अपने से पहले होने वाले २७ रससिद्धों के नाम गिनाये हैं, यन्त्राध्याय में रसार्णव को उद्धृत किया है, १६ वीं शताब्दी में पाये जानेवाले फिरङ्ग रोग और चोबचीनी का वर्णन नहीं किया है और अहिफेन का प्रयोग नहीं किया है। अतएव अनुमान होता है कि इन का समय १३वीं या १४वीं शताब्दी होना चाहिए। इस तरह इस काल (Iatrochemical period) में रसशास्त्र, चिकित्सा का अभिन्न अङ्ग हो गया।

नागार्जुन जिन्होंने कक्षपुटतन्त्र, रसरत्नाकर और आरोग्यमञ्जरी का निर्माण किया, २७ सिद्धों में आते हैं। अल्वरूनी के अनुसार इनका समय ८वीं या नवीं शताब्दी है। इसने इनको सोमनाथ के पास दैहक का निवासी बताया है। ह्वेनसांग (६२९ ई०) ने नागार्जुन को बौद्ध सन्यासी माना है जो कौशल के (उड़ीसा के पास महानदी के किनारे) राजा शतावाहन के मित्र और रस सिद्ध थे। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार नागार्जुन प्रथम शताब्दी में हुए, जिन्होंने

माध्यमिक दर्शन का सम्पादन किया। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार शाक्य सिंह के बौद्ध भिक्षुक बनने के १५० वर्ष बाद (ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम और तृतीय ई० पू० के आदि भाग में) नागार्जुन नामक आचार्य हुए। इस तरह से मालूम होता है कि इस नाम से कई आचार्य हुए हैं।

इसी तरह का भ्रम पतञ्जलि के विषय में भी होता है। इस नाम से एक आचार्य ईसवी सन् पूर्व की द्वितीय शताब्दो में हुए हैं जिन्होंने पाणिनि के व्याकरण पर भाष्य लिखा। शिवदास सेन ने पतञ्जलि को लोहशास्त्र का आचार्य माना है और चक्रपाणि ने इनको चरक का कर्ता ही माना है। भोज ने न्याय-वार्तिक में इनको शारीरमानसव्याधि चिकित्सक माना है। पातञ्जल योग सूत्र में रसायन सेवन को मोक्ष प्राप्ति में सहायक माना गया है और इस तरह कुछ लोग इन्हें रससिद्ध भी मानते हैं।

रस सम्प्रदाय के प्रचार का समय (१३वीं-१४वीं शताब्दी) यूरोप में भी भारत के समान हो चमत्कार पूर्ण माना जाता था। रोजरबेकन (१२९४ ई०) ने पारस (Philospher's stone) की कल्पना की जो लोहे को स्वर्ण में परिवर्तित करता है। इसो तरह रसायन सेवन से आयु ४ सौ वर्ष की हो जाती है ऐसा भो ये लाग मानते थे।

इस बात को मानने में कोई संदेह नहीं है कि १२ वीं १३वीं शताब्दी का और उससे पहले का भारतीय विद्वानों का ज्ञान यूरोपीयों की अपेक्षा श्रेष्ठ और परिष्कृत था। वे खनिजों से धातुओं को प्राप्त करते थे। ज्वाला के रंग से धातु को पहचानते थे। ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान यूरोपीय लोगों को १६ वीं शताब्दी तक भी प्राप्त नहीं हो सका था। औषधि निर्माण की कला तो भारत की और भी उत्कृष्ट थी। चरक-सुश्रुत इसके उदाहरण हैं। सुश्रुत ने क्षार को लौह पात्र में रखने का निर्देश किया है। इसी तरह जो लोग यह कहते हैं कि भारत में औषधालयों और चिकित्सालयों का प्रचार मुसलमानों ने किया वे यह भूल बैठे कि बौद्ध काल में सारे देश में इनका एक जाल सा बिछा हुआ था। सोलहवीं शताब्दी में यूरोपीय रसायनशास्त्र दो दिशाओं में प्रगतिमान हुआ—एक तो एग्रि-कोला के नेतृत्व में धातु-निर्माण की ओर ओर दूसरा गेलन, अवेसीना और पैराक्लीज के निर्देशन में चिकित्सा की ओर। पैराक्लीज (Paracelsus) ने सर्वप्रथम पारद का (१४९३–१५४१ ई० में) चिकित्सा में व्यवहार किया। कज्जली का आभ्यन्तर प्रयोग भारत में १० वीं शताब्दी से ही प्रचलित था। यहाँ तक कि हकीम भी उनका इस्तेमाल नहीं करते थे। बल्कि फ्रांस की पर्लियामेण्ट

ने सन् १५६६ में पैराक्लीज की औषधियों का प्रयोग कानूनन बन्द करा दिया था।

भारतीय विज्ञान के पश्चिमी देशों में प्रचारक अरब लोग थे। जब यूनानी सभ्यता केवल कन्दराओं में निवास कर रही थी और सारा यूरोप अज्ञान तिमिराच्छन्न था, पूर्व ने उसे प्रकाशित किया। १०वीं शताब्दी के मध्य भाग में एक लेखक ने किताब-अल-फिहरिस्त बनाई जिसमें भारतीय विज्ञान का वर्णन है। १३वीं शताब्दी के हाजी खलीफा और इब्न अबू उसाइबिया ने लिखा है कि खलीफा हारून और मंसूर ने चिकित्सा, द्रव्य गुण और रसशास्त्र की अनेक पुस्तकों का संस्कृत से अरबी में अनुवाद कराया। किताब अलफिहरिस्त के आधार पर फ्लूगल (Flugel) का कहना है कि सरसद (सुश्रुत) का मंख नाम के भारतीय ने अनुवाद किया जिसने हारूँ अलरशीद की चिकित्सा भी की थी। मंख ने ही एक द्रव्य गुण भी बनाया। चरक का भी अरबी में अनुवाद किया गया। मुसलमान छात्र भारत में विद्याध्ययन हेतु आते भी थे। इसी तरह माधव निदान और अष्टाङ्ग संग्रह आदि भी अरबी में अनूदित किये गये।

अल्बरूनी भारत में १०१७ ई० से १०३० ई० तक रहा है। यह गजनी के सुलतान महमूद का दरबारी था। जब मुसलमान भारत को लूट रहे थे तो वह यहाँ पर भारतीय दर्शन का अध्ययन कर रहा था। उस समय बगदाद में आयुर्वेद और यूनानी दोनों ही चिकित्सा पद्धतियों का प्रचार साथ-साथ हो रहा था। चरक को वे लोग सरक कहा करते थे। इसी तरह सुश्रुत को सरसद, निदान को बदान और अष्टाङ्ग को असङ्कार। यह परिवर्तन भ्रष्ट उच्चारण होने का ही प्रमाण देता है। प्रो० सचाऊ (Sachau) ने अल्बरूनी का अनुवाद किया है और उन्होंने भी स्वीकार किया है कि भारत से सभ्यता बगदाद पहुँची थी।

आयुर्वेदीय जगत में संहिता काल का आरम्भ बुद्ध के पूर्व में हुआ जो लगभग ८०० ई० तक चलता रहा। इस समय में सांख्य और वैशेषिक सिद्धान्तों का चिकित्सा क्षेत्र में भी उपयोग किया गया। इन्हीं सिद्धान्तों का उपयोग हिपोक्रेट ने भी किया। कणाद के परमाणुवाद का (वैशैषिक) अनेक अंशों में यूनानी दार्शनिक डेमोक्रिटस (Demcri tus) से मेल खाना बड़ा ही विचित्र सा प्रतीत होता है। शब्द के तरङ्ग वीचि न्याय और कदम्ब मुकुल न्याय से प्रवाहित होने के सिद्धांत और प्रकाश और ऊष्मा को एक ही द्रव्य के रूप में मानना आज भी वैज्ञानिकों को आश्चर्य चकित कर देता है। कणाद ने अपने सिद्धान्तों को कपिल के सांख्य सिद्धांतों की भित्ति पर प्रतिष्ठित किया।

पञ्चतन्मात्राओं के सिद्धान्त का श्री कोलब्रुकने बड़ी बारीकी से अध्ययन

किया। उनका कहना है कि इनकी उत्पत्ति अहङ्कार (Conscious principle) से होती है और ये पञ्चभूतों को उत्पन्न करती हैं। भूतों से द्रव्य बनते हैं। कणाद ने सभी पदार्थों को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—६ भागों में विभक्त किया है। द्रव्यों के ९ भेद हैं। हर एक द्रव्य परमाणुओं का एक पुञ्ज होता है। सर्वप्रथम २ अणुओं का परस्पर संयोग होकर द्वयणुक बनता है। ३ द्वयणुक के मिलने पर द्रव्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप बन जाता है क्योंकि इससे लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई की प्राप्ति हो जाती है। द्रव्यों में ही गुणोत्पत्ति होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि कणाद का अणु और सांख्य की तन्मात्रा एक ही द्रव्य के दो नाम है। यूनानी विद्वानों ने त्र्यणुक से आगे की कल्पना भी नहीं की है। इसी तरह वायु के संबन्ध में कणाद और एम्पीडोक्लीज (Empedocles) के विचारों में असमानता है।

श्री मैक्समूलर ने ऐसा विचार उपस्थित किया है कि आस्तिक दर्शनों का काल नास्तिक दर्शनों (जैन-बौद्ध आदि) से पहले का होगा। इस तरह उन्होंने ५वीं शताब्दी ईसा पूर्व का इन्हें माना है। उपनिषद और वेदान्त के सिद्धान्तों से ईलियट (doctirnes of eleaties) के सिद्धान्तों से मेल बैठता है। सांख्य के सत्कार्यवाद और परमाणु को अनश्वरता का एम्पिडोक्लीज (Empedocles) से भी सामञ्जस्य होता है। यूनानियों के मतानुसार थेलस, एम्पीडोक्लीज, अनाक्सेगोरस, डेमोक्रिट्स आदि ने दर्शनों का अध्ययन करने के लिए पूर्वी देशों की यात्रा की थी। पाइथा गोरस के द्वारा उपनिबद्ध सभी सिद्धान्त ईसवी पूर्व की ६वीं शताब्दी में भारत में प्रचलित थे। ये बातें मिश्र देशवाशियों का अविदित थीं।

यद्यपि चरक के ही समय में जाङ्गमौद्भिदपार्थिव औषधियों में धातुओं का प्रयोग मिलता है किन्तु सुश्रुत ने अयस्कृतियों का निर्माण करके उसमें एक प्रकार की नवीनता ला दी है। यद्यपि प्राचीन काल में धातुओं को घोलने वाली तेजाबों (mineral acids) का ज्ञान नहीं था किन्तु इस कमी को वे विडों के साथ धातुओं को भस्म करके पूर्ण कर लेते थे और वे धातुएँ आक्साइड क्लोराइड या आक्सीक्लोराइड में बदल जाती थीं। इसी प्रकार के विवरण, यूनानी और मिस्र देश के साहित्य में भी मिलते हैं। बावर की पांडुलिपि में भी यवक्षार (Pot. bicarb), सर्जिक्षार (sodi bicarb) आदि का वर्णन मिलता है। वाग्भट ने भी धातुओं के भस्म का कुछ प्रकार बताया है। अतएव संहिता काल और संग्रह काल एक दूसरे से ओतप्रोत मिलते हैं। फिर भी संग्रहकाल को ८ सौ ईसवी सन् से लेकर ११ सौ ईसवी तक माना गया है।

वृन्द ने सर्वप्रथम (९ सौ ई० के लगभग) पर्पटी बनाने (Scaled prarpation of the metals) के विधान का उल्लेख किया है। इसके बाद चक्रपाणि (१०६० ई०) ने कज्जली बनाने को विधि का उल्लेख किया। अब तान्त्रिक युग का उदय होता है जो इतिहासकारों के मतसे १००० ई० से १३०० ई० तक हैं। इस समय में रसार्णव आदि रसग्रन्थों में धातुओं के शोधन मारण आदि सम्पादन करने के लिए बहुविध यन्त्रादि का आविष्कार किया गया। उन्होंने धातुओं के ज्वालाओं का भी वर्णन किया, जैसे ताम्र की नील ज्वाला। शुद्ध धातु के लक्षणों कोनिश्चित किया। यद्यपि धातुओं की भस्म को चिकित्सा कार्य में पहले से ही प्रयुक्त किया जाने लगा था तथापि ऐतिहासिकों के मत से यह समय (Iatrochemical period) १३०० से १५५० ई० तक माना गया है। रसरत्नसमुच्चय इस काल का प्रमुख ग्रन्थ है।

यद्यपि रसक्रिया का वर्णन सुश्रुत (सू।३६।१९) में भी मिलता है किन्तु वह क्वाथों के घनीकरण से सम्बद्ध प्रक्रिया मात्र है। परवर्ती काल में रस शब्द का प्रयोग पारद के लिए प्रधान रूप से और उसके संयोग से बने औषध के लिए गौण रूप से होने लगा। रसों में पारद के अतिरिक्त अन्य ताम्र, अभ्रक, आदि धातुओं के साथ, उपरसें-यथा गन्धक, तुत्थ, स्फटिका आदि का भी विकास किया गया। रत्नों, उपरत्नों, लौहों और मिश्रलोहादि का चिकित्सार्थ उपयोग होने लगा।

लोहों (metals) में सुवर्ण और रजत का वैदिक काल में भी आभूषण बनाने तथा अयस् ताम्र आदि कठोर धातुओं का कवच, शिरस्त्राण, अस्त्र-शस्त्र बनाने में उपयोग होता था। छान्दोग्योपनिषद् में ऐसे मन्त्र मिलते हैं जो इङ्गित करते हैं कि उस काल में लोग एक धातु को दूसरे में जोड़ने और मिलाने की प्रक्रियाओं से भी परिचित थे। मेगस्थनीज के लेखों के अनुसार भारतीयों के घर उस समय सोने चाँदी के आभूषणों, वर्तनों और अन्य साज-सज्जा से भरे हुए थे। लोहे के बने अस्त्र-शस्त्र, खम्भे आदि फौलाद बनाने की निष्णात बुद्धि के उदाहरण हैं। लौहस्तम्भ लगभग ४ सौ ईसवी के बने हैं और शुद्ध लोहे के होते हुए भी उनमें आज तक जंग नहीं लगा। शुक्रनीति में बारूद (gunpowder) बनाने की विधि का उल्लेख मिलता है। बन्दूक और तोप बनाने की विधि भी बतलायी गयी है। यही नहीं वारूद के कई घटकों को भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलाने से उनकी ज्वलनशक्ति में अन्तर आने का उल्लेख मिलता है।

द्रावकों या तेजाबों (mineral acids) का प्रथम आविष्कारक गेबर (Geber) माना जाता है। १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किसी ने गेबर

नाम से इसका वर्णन किया है ऐसा लोगों का अनुमान है। भारत में माधव रचित रसकौमुदी और गोविन्ददास विरचित भैषज्यरत्नावली में महाद्रावकों का उल्लेख मिलता है (ये संग्रह ग्रन्थ १६ वीं शताब्दी के है अतः इनका मूल ग्रन्थ पहले का होना निश्चित सा है) ऐनेस्ली ने लिखा है कि तामील वैद्य तेजाब बनाते हैं। ओशाधनेशी का भी यही मत है।

वात्स्यायन ने कामसूत्र में जिन ६४ कलाओं का वर्णन किया है उनमें से लगभग १० कलायें रसशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। उदाहरणार्थ—सुवर्ण-रत्न परीक्षा, धातुवाद (Chemistry and metallurgy), मणिरागाकर-ज्ञानम्, पाषाणधात्वादिहृतिस्तद्भस्मीकरणम्, धात्वौषधीनां संयोगक्रिया-ज्ञानम्, धातुसाङ्कर्यपार्थक्यकरणम्, धात्वादीनां संयोगापूर्वविज्ञानम्, क्षार निष्कासनज्ञानम्। आगे चलकर के उच्च वर्ण के लोग इन कलाओं को हेय दृष्टि से देखने लगे। यद्यपि कुछ नीची जातियों के लोगों ने इनमें क्रियादक्षता अवश्य हासिल की किन्तु उसकी ऊहापोह और वैज्ञानिकता समाप्त होने लगी थी।

आयुर्वेद में धातुओं के मारण का जो विधान बताया गया है उस क्रिया से धातुएँ अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों में बँट जाती हैं। पारद भस्म (chlorides of mercury) का प्रयोग १२वीं शताब्दी से औषध के रूप में होता रहा है। चीन और जापान में भी पारद भस्म-रसकर्पूर (calomel) बनाने की प्रथा प्रचलित थी। ताम्र पर्पटी (sulphide of copper), और मण्डूर भस्म (Rust of iron) में धातु को सूक्ष्म कणों में परिवर्तित कर देने के साथ ही साथ नवीन यौगिकों का निर्माण होता है।

मज्झमनिकाय के संस्थापक आचार्य नागार्जुन महायान बौद्ध सम्प्रदाय के मानने वाले थे। इनकी उत्पत्ति महात्मा बुद्ध की मृत्यु के १५० वर्ष के भीतर ही भीतर हो गई। द्वितीय शताब्दी पूर्व के काल में कुषाण शासकों की भारतीय प्रजा हिन्दू, बौद्ध, यवन, शैव आदि धर्मों के सम्मिलन का सुख प्राप्त कर रही थी। नागार्जुन ने महायान सम्प्रदाय के 'सर्वं शून्यम्' उपदेश का प्रचार किया। इनकी ख्याति अपने जीवनकाल में इतनी बढ़ी कि मृत्यु के उपरान्त ईसवी सन् की ५ वीं शताब्दी में इनका चरित्र चीनी भाषा में नागार्जुन बोधिसत्त्व के नाम से अनूदित हुआ। कनिष्क के राज्यकाल में बौद्ध धर्म की तीसरी सभा में सम्भवतः नागार्जुन उपस्थित थे। इनके चरित्र के विषय में किंवदन्ती है कि विदर्भ के किसी ब्राह्मण को सन्तान न होती थी। एक दिन उसने स्वप्न देखा कि यदि वह १०० ब्राह्मण भोजन करावे तो उसे पुत्र प्राप्त होगा। तदनुकूल आचरण करने से उसे पुत्रोपलब्धि हुई किन्तु ज्योतिषियों ने

बताया कि इसकी आयुमात्र ७ दिन है। हाँ यदि १०० श्रमणों को भोजन कराया जाय तो बालक सम्भवतः ७ वर्ष तक जियेगा। माता-पिता ने वैसा किया किन्तु ७ वें वर्ष में वे लोग बड़े चिन्तित रहने लगे और अन्तिम समय में उसे एकान्त स्थान में रख दिया ताकि उनको मृत्यु देखना न पड़े। उस एकान्त वास में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर खसर्पण ने आकर बच्चे को कहा कि वह मगध के नालेन्द्र-विहार में चला जाय तो मृत्यु से बच जायेगा। बालक ने वैसा किया और विहार के बहिर्द्वार पर जाकर एक गाथा बोला जिसे सुनकर मठाधीश श्री सारभद्र आये। उसको बौद्धधर्म में दीक्षित किया।

एक बार वहाँ भयंकर अकाल पड़ा। भिक्षुगण अन्न के अभाव में परेशान हो गये तो किसी विद्या से धन प्राप्त कर अन्न खरीदा जाय इसके लिए ज्ञान सीखने नागार्जुन दो पत्र की सहायता से समुद्र लाँघ कर एक द्वीप में रहने वाले किसी महात्मा के पास पहुँचे। महात्मा ने विद्या तो सिखलाई किन्तु यह प्रतिज्ञा कराली कि इस विद्या का प्रचार वह जम्बूद्वीप में न करें। उन्होंने उसका एक पत्र भी ले लिया किन्तु नागार्जुन द्वितीय पत्र के सहारे ही आकाश मार्ग से उड़कर आये। यहाँ पर उन्होंने उस विद्या के प्रभाव से अनन्त सुवर्ण राशि बनाई और उससे भिक्षुओं का पालन पोषण किया। बाद में सारभद्र के मरने पर वे ही इस विहार के अधीश्वर बने। यह कथा तिब्बती अनुवादों में मिलती है जिसे श्री तारानाथ राय ने सन् १६०८ ई० में लिया है।

एक दूसरे तिब्बती लेख और उसके चीनी अनुवाद के अनुसार नागार्जुन आन्ध्र के शासक उदयन (सातवाहन) के मित्र थे। रसरत्नाकर में श्री शैलपर नागार्जुन, शातवाहन और देवी रत्नघोषा एवं माण्डव्य के संवाद को देखकर यह माना जा सकता है कि यह काल १७२ से २०२ ई० के बीच रहा होगा। जिस प्रकार मिश्र देश में पिरामिडों के साथ स्कूल होते थे उसी तरह प्राचीनकाल में भारत में भी ५वीं शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक पाटलिपुत्र, नालन्दा, विक्रम शिला आदि के विहारों के साथ ऐसे विद्यालय थे जिनमें रसतन्त्र और धातुवाद की शिक्षा दी जाती थी।

नैपाल में कुब्जिका तन्त्र की उपलब्धि (जो गुप्तकालीन लिपि में है और अपने से पूर्व के अनेक तन्त्रों को स्मारित कराता है) इस बात का द्योतक है कि इस दिशा में शैव और बौद्ध दोनों समुदाय मिलकर काम करते थे।

रसरत्नसमुच्चय में (१३वीं या चौदहवीं शताब्दी में निर्मित) यन्त्राध्याय सोमदेव विरचित रसेन्द्रचूड़ामणि में अक्षरशः उद्धृत किया गया है। सोमदेव ने यह प्रतिज्ञा की है कि उन्होंने यन्त्रों का निर्माण अपने पूर्ववर्ती तन्त्रकारों

(नन्दी के आधार पर कोष्ठी, नागार्जुन दण्डी, शम्भु, ब्रह्मज्योति) के तन्त्रों के विवरण के आधार पर किया। ये करवाल भैरव नगर के अधिपति थे और १२वीं या १३वीं शताब्दी में हुए थे। दूसरे ग्रन्थकार यशोधर थे जिनके रसप्रकाश सुधाकर से रसरत्न समुच्चयकार ने काफी अंशों में उद्धरण दिये हैं। यशोधर ने यशदभस्म की प्रक्रिया का सर्वप्रथम विवेचन किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती तन्त्रकारों में नागर्जुन देवीशास्त्र (सम्भवत: रसार्णव), नन्दी, सोमदेव, स्वच्छन्द भैरव और मन्थान भैरव का नाम उद्धृत किया है। अतएव यशोधर को सोमदेव का परवर्ती (१३वीं शताब्दी का) माना जाना चाहिए।

रसकल्प नामक ग्रंथ का निर्माण १३वीं शताब्दी में हुआ होगा। इसको शिव और चण्डिका को प्रणाम करके प्रारम्भ किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह रुद्रयामलतन्त्र का ही एक अंश है। इसमें आचार्य गोविन्द भगवत् पाद तथा स्वच्छन्द भैरव का नामग्राहेण और अन्यों का ऐसे ही उल्लेख किया गया है और ग्रन्थकार ने यह बताया है कि इसमें का प्रत्येक प्रयोग उसके द्वारा किया हुआ है। इसमें निर्माण विधि का ही वर्णन है उनके आमयिक प्रयोग नहीं बताये गये हैं।

रसराजलक्ष्मी नामक तन्त्र के रचयिता विष्णुदेव राजा बुक्क के दरबार में रहते थे। इससे निश्चित होता है कि इसका निर्माण चौदहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ होगा। इसमें तन्त्रकार ने रसार्णव, काकचण्डीश्वर तन्त्र, नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द, दामोदर, वासुदेव और गोविन्द भगवत् पाद के साथ ही साथ चरक, सुश्रुत, वाग्भट और हारीत आदि का भी स्मरण किया है।

सन १३५० ई० के बाद रसशास्त्र में एक विशिष्टकाल का अविर्भाव होता है जिसमें अहिफेन के योगों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इसमें लगभग १५०० ई० के करीब मालवा नरेशके चिकित्सक मंथान सिंह द्वारा लिखी 'नक्षत्र मालिका' उल्लेखनीय है। इसके बाद पार्वतीपुत्र नित्यनाथ लिखित रसरत्नाकर का स्थान आता है। इसमें भी लेखक ने स्वनिर्मित प्रयोगों का ही विवरण दिया है और शिव विरचित रसार्णव, नागार्जुन, सिद्ध चर्पटी, वाग्भट, सुश्रुत, चक्रपाणि और रसेन्द्रचूड़ामणि तक को उद्धृत किया है। औषधियाँ भी वही उद्धृत की गई हैं जो उपलभ्य हो सकती हैं। अनुपलब्ध को ग्रन्थकार ने छोड़ दिया है।

इसके पश्चात् रसेन्द्र चिन्तामणि का निर्माण हुआ। इसकी कई पाण्डुलियाँ देश के सुदूर भागों यथा काशी, काश्मीर आदि में मिलती हैं और श्री उमेश चन्द्र गुप्त ने ३-४ पाण्डुलिपियों के आधर पर इसे प्रकाशित भी कराया है किन्तु

इन सभी प्रतियों में इतने पाठभेद मिलते हैं कि वे इसी अनुमान को पुष्ट करते हैं कि प्राचीन काल से अब तक सारे हिन्दू शास्त्रों में अनेक परिवर्तन हुए। उदाहरणार्थ—इसके निर्माता के ही बारे में मतभेद है। किसी में इसे कालनाथ के शिष्य ढुण्ढुक नाथ द्वारा निर्मित बताया है तो किसी में रामचन्द्र द्वारा। इसी तरह एक स्थान पर रसार्णव से विस्तृत उद्धरण देते-देते यह लिखा है कि मैंने उन्हीं प्रयोगों का लिखा है जिन्हें बनाया है। यह वाक्य इस स्थान पर असंगत रूप में मिलता है जो काशी और काश्मीर की पाण्डुलिपियों में अनुपस्थित है। रसार्णवोक्त पारद की श्वेत भस्म को इसमें रसकर्पूर (Colomel) के नाम से उद्धृत किया गया है किन्तु इसके योग में परस्पर मतभेद है। ये सब बातें कालक्रमानुसार उपलब्ध होने वाले प्रतिसंस्कारों और पाठभेदों की द्योतक हैं। इसमें रसार्णण, नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ, सिद्ध लक्ष्मीश्वर, त्रिविक्रम भट्ट और चक्रपाणि तक को उद्धृत किया गया है।

इसके बाद गोविन्दाचार्य विरचित रससार का स्थान आता है। इनके समय में भारतवर्ष में धातुवाद का प्रचार लुप्त हो रहा था अतएव इन्होंने इसका अध्ययन करने के लिए तिब्बत की (भाटदेश) यात्रा की। इसमें पारद के अष्टादश संस्कारों का वर्णन है। यहाँ पर अहिफेन का वर्णन बड़ा ही विचित्र रूप का मिलता है। इसे ग्रन्थकार ने सर्प का या समुद्री विषमत्स्य का फेन माना है जो श्वेत, रक्त, कृष्ण और पीत वर्ण का माना गया है। यह ग्रन्थ भी १३वीं शताब्दी का प्रतीत होता है।

शार्ङ्गधर संहिता में भी क्वाथचूर्णादि के साथ ही साथ ७ धातुओं और दो मिश्र धातुओं का वर्णन मिलता है। इसका निर्माण राघवदेव के पौत्र, दामोदर सूनु द्वारा सं० १४२० (१३३६ ई०) में किया गया। इस पर आढमल्ल ने टीका लिखी है। गोपाल कृष्ण विरचित रसेन्द्रसार संग्रह में रसमञ्जरी और चन्द्रिका नाम ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिनसे इस ग्रन्थकार ने चिकित्सा योगों का संग्रह किया है। इसके अनेक योग रसेन्द्रचिन्तामणि के योगों से अक्षरशः मिलते हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि इन दोनों ही ग्रन्थकारों ने किसी तीसरे एक ग्रन्थ से ही उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। क्योकि ये दोनों ही ग्रन्थकार समकालिक रहे हैं। इस पर रामसेन कवीन्द्र मणि ने अर्थबोधिका टीका बनाई है जो इससे पहले बनी ३ टीकाओं पर आधारित है। इस पुस्तक का बंगाल में खूब प्रचार है।

रसेन्द्र कल्पद्रुम भी इसी काल का एक ग्रन्थ है जो रसार्णव, रसमंगल, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय के आधार पर संगृहीत है। धातु रत्नमाला में सप्त धातुओं के मारण का विधान है। इसमें खर्पर को यशद का पर्याय माना

गया है। इसे गुजरात के देवदत्त ने संग्रहीत किया है किन्तु बनारस की पाण्डुलिपि में इस के श्लोक को तोड़-मोड़ कर इसे अश्विनी कुमार संहिता का रूप दे दिया गया है जो उत्तरकालीन लेखकों की देन माना जा सकता है और शास्त्रों में भ्रामक सम्मिश्रण का द्योतक है।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के बीच रसशास्त्र के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ता है। इस समय फिरङ्ग और उसकी चिकित्सा के लिए रसकर्पूर एवं चोबचीनी का व्यवहार प्रारम्भ होता है। इसी समय (१५३५ ई०) के लगभग रस प्रदीप की रचना हुई जिसने शङ्खद्रावक (mineral acids) के निर्माण की विधि बताई। भावप्रकाश मे जिसका निर्माण रस प्रदीप के पश्चात् हुआ, शङ्खद्रावक का वर्णन नहीं मिलता। इसके बाद माधव ने रस-कौमुदी की रचना की जो रस प्रदीप के समान विषयों का ही विवेचन करती है। इसी काल विरचित भावप्रकाश में चरकादि (सुश्रुत, वाग्भट, हारीत, वृन्द, चक्रपाणि) के योगों के अतिरिक्त रसप्रदीप, रसेन्द्र चिन्तामणि और शार्ङ्गधर से भी रसौषधियों के मारणादिका प्रयोग उद्धृत किया गया है। भावमिश्र अकबर के शासनकाल में उत्तर प्रदेश में निवास करते थे अतएव इनके ग्रन्थ पर मुसलमानी प्रभाव (फिरंग-चोबचीनी आदि) भी दृष्टिगोचर होता है। इस काल में अहिफेन का उसके वास्तविक रूप में प्रयोग होने लगा (न कि रससार के समान काल्पनिक रूप में)। यशद भस्म अपने उचित स्वरूप का द्योतन करने लगी (खर्पर वा नहीं) और पातन आदि क्रियाओं के लिए ताम्रपात्रों का उपयोग होता था। सम्भवतः ये सब मुसलमानी प्रभाव के परिणाम हों।

इसके अतिरिक्त शालिनाथ कृत रसमञ्जरी, रसार्णव (द्वितीय), रसरत्नाकर (नित्यनाथ विरचित के अतिरिक्त) और कई अन्य ग्रन्थों की भी इसी समय में रचना हुई।

कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि भारतीय रसशास्त्र का विकास यूनानियों के आधार पर हुआ किन्तु इस मत के लिए हिन्दू ग्रन्थों में कोई आभ्यन्तर प्रमाण नहीं मिलता जो यह सिद्ध कर सके कि अमुक विषय को इस ग्रन्थ विशेष के आधार पर उपनिबद्ध किया गया है। यदि किसी स्थान पर भारतीयों ने किसी अधिकारी से कोई बात ग्रहण की है तो उसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है, जैसे वाराह मिहिर[1] ने कहा है कि यवनों को खगोल शास्त्र का ज्ञान अच्छा था।

---

१. म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजः॥

महाभारत में पुरोचन को वस्तुविद्याकुशल माना गया है। रसरत्नसमुच्चय में 'म्लेच्छसाधक' शब्द किरातों के लिए प्रयुक्त हुआ है, यूनानियों के लिए नहीं। क्योंकि धातुओं के सम्बन्ध में यूनानियों की मान्यता थी कि सप्त धातुओं की उत्पत्ति सातग्रहों से (शीसे को सैटर्न से, एलेक्ट्रम-सोने और चाँदी के संयोग से मिश्रित धातु की जूपिटर से, लोहे की मार्स से, ताम्रकी वीनस से, टिन की हर्मस से, सोने को सूर्य और रजत की चन्द्र से) हुई है। इसके विपरीत भारतीय रसशास्त्र केवल छः धातुयें ही मानता है। शार्ङ्गधर ने सात धातुएँ अवश्य माना हैं किन्तु उसने अपने ही ग्रन्थ में अन्यत्र ९ धातुओं का उल्लेख किया है जो "वदतो व्याधात" दोष से दूषित होता है।

अरबों और यूनानियों में ज्ञान का परस्पर आदान-प्रदान हुआ अतएव उन्होंने सप्तधातु-सप्तग्रहवाद को सीखा। इसके बाद मध्ययुग में मुसलमानों ने जब राजपूताने को विजय की तो वहाँ पर सप्तधातुवाद को फैलाया होगा और शार्ङ्गधर ने उनसे लिया हो यह सम्भावना की जा सकती है।

जो लोग यह कहते हैं कि रसरत्न समुच्चय में गिनाये सत्ताइस आचार्यों के नाम काल्पनिक हैं उन्होंने सम्भवतः उन आचार्यों की कृतियों को देखा ही नहीं अतएव उन पर ये लाञ्छन लगा सकते हैं। वास्तव में इनमें से एक-एक आचार्य एक-एक सम्प्रदाय का प्रवर्तक है जिसने अपने समय में रसशास्त्र में एक क्रान्ति की होगी।

'द्रव्यगुण' का स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकास

यों तो औषधियों के नाम-रूप और गुणों के ज्ञान की ओर प्रारम्भ से ही ध्यान दिया जाता रहा, किन्तु इनका वर्णन सम्पूर्ण ग्रंन्थ के एक भाग में ही होता रहा है। इनको स्वतन्त्र रूप से किसी अलग ग्रन्थ में उपनिबद्ध नहीं किया जाता था। किन्तु जबसे एक-एक विषयों के ग्रन्थ निर्माण की परिपाटी का प्रारम्भ हुआ तब इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि निघण्टुओं को अन्य विषयों से अलग करके उनके ऊपर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ बने। यद्यपि इस दिशा में पहले भी कुछ प्रयत्न किये गये थे किन्तु वह एक प्रकार से संग्रहात्मक प्रवृत्ति का ही परिचायक था, शोध और नवीनता का उसमें उतना खुलकर दर्शन नहीं होता। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयत्न वैद्य महामहोपाध्याय चरकचतुरानन श्री चक्रपाणि दत्त ने किया। इनको चरक सुश्रुतादि ग्रन्थों का बड़ा ही स्पष्ट ज्ञान था। चरक की टीका में इन्होंने स्पष्ट लिखा है कि आहार और औषध भेद से द्रव्य दो प्रकार का होता है। इन दोनों में आहारद्रव्य का उपयोग स्वस्थ और आतुर दोनों ही अवस्थाओं में होता है अतएव उनके गुणों के ज्ञानार्थ इन्होंने

द्रव्यगुण संग्रह नामक एक पुस्तक लिखी जिस पर श्री शिवदास सेन ने इसी नाम से (द्रव्यगुण संग्रह नामक ही) टीका बनाई। यह ग्रन्थ आचार्य श्री यादव जी महाराज के सम्पादन में निर्णय सागर प्रेस से सन् १९२२ में प्रकाशित भी हुआ है।

इस ग्रन्थ में चक्रपाणि ने कहीं-कहीं तो चरक-सुश्रुत आदि के वचनों का संग्रह किया है और कहीं-कहीं स्वकीय निर्मित श्लोकों को उपनिबद्ध करके द्रव्यगुण विज्ञान का वर्णन किया है। इसमें कुल १५ वर्ग हैं जिनके नाम क्रमशः धान्य - मांस - शाक - लवण - फल-जल-क्षीर-तैल-इक्षुविकार–मद्य-कृतान्न-भक्ष्य-अहारविधि-अनुपान और मिश्रक वर्ग है।

प्रथम धान्यवर्ग में कुल ४३ श्लोक हैं। प्रारम्भ में द्रव्यगुण विज्ञानोपयोगी रस-गुण-वीर्य-विपाकादि का वर्णन करके शालि, रक्तशालि, षष्टिक, व्रीहि के विविध स्थलों में उत्पत्ति के अनुसार गुणों के उत्कर्षापकर्ष का विवेचन है। गोधूम, यव, श्यामाक, मुद्ग, माष, राजमाष, चणक, तुवरी, मकुष्ठ, कुलत्थ, केवाँच, तिल आदि के सामान्य विशेष गुणों का वर्णन किया गया है। द्वितीय मांस वर्ग में हरिण, एण, शश, आज, मेष, माहिष, खङ्गि, लाव, तित्तिर, वर्तक, क्रकर, वर्हि, पारावत, काणकपोत, कुक्कुट, कुलिंग, हंस, गोधा आदि के मांसों के गुण धर्म का विवेचन किया गया है। शाकवर्ग में जीवन्ती तण्डुलीय, वास्तुक, चिल्ली, मूलक, हिलमोचिका, पालकी, कासमर्द, कलाय,सतीनक, चणक, पुनर्नवा, नाडीच, पटोल, सुवर्चला, राजक्षवक, विल्वन्यग्रोधाङ्कुर, अवल्गुज, वार्ताक, कारवेल्ल, कूष्माण्ड, एर्वारुक, त्रपुष, शतावरी-तरूटी-पिण्डालु-वज्रकन्द, वंशकरीर, ऐन्दक, सूरण,कदली कन्द, वाराहकन्द, तालशण पुष्प आदि के गुणों का वर्णन है।

लवणादि चतुर्थ वर्ग में सैन्धव, सामुद्र, विड, सौवर्चल, औद्भिद, रौमक, पाक्य आदि नमक; क्षार, आर्द्रक, पिप्पली, मरिच, जीरक, लशुन, पलाण्डु तथा गृञ्जन के गुणों का वर्णन है। पाँचवें फल वर्ग में दाड़िम, आमलक, कर्कन्धु, बदर, आम्र, आम्रातक, लकुच, करमर्द, प्रियाल, भव्य, अम्लवेतस, तिन्तिडीक, अम्लिका, लवलीफल, मातुलुङ्ग, मधुकुक्कुटी, कपित्थ, जाम्बव, तिन्दुक, राजादन, तोदन, अनुपाकि, क्षीरिवृक्षफल, परूषक, द्राक्षा, काश्मरी, खर्जूर, मधूकपुष्प, नारिकेल, कदलीफल, श्लेष्मातक, हरीतकी, भल्लातक, करञ्ज, विडङ्ग आदि के गुणों का उल्लेख है। छठवें जल वर्ग में पानी के धार, कार, तौषार और हैम—ये चार भेद, नदीजल, भौमजल, नादेय-नद-सारस-ताडाग-वाप्य-कौप-चौण्ड-नैर्झर-औद्भिद-वैकिर एवं केदारजल के गुण, पश्चिम और पूर्व समुद्र में गिरने वाली नदियों के गुण, चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न एवं

नारिकेल का जल, उष्णोदक, शृतशीत आदि के गुण और उपयोग का उल्लेख है। सातवें क्षीरवर्ग में गाय, बकरी, भेंड़, भैंस, घोड़ी और नारी आदि के दुग्ध में गुणों का उल्लेख है। दुग्ध के विभिन्न विकारों, विशिष्ट दुग्ध से बनाये गये दधि, सर, तक्र, कूर्चिका, पीयूष, मोरट, नवनीत, घृत, धृतमण्ड आदि के गुणों का वर्णन है। आठवें तैल (स्थावर स्नेह) वर्ग में तिल, एरण्ड, सर्षप, उमा, करञ्ज आदि से उत्पन्न तेलों के गुण और उपयोग का निर्देश है। नवें इक्षु-विकृति वर्ग में ईख के विभिन्न अवयवों के क्रियाविशेष से निकाले गये रस का गुण-धर्म, फाणित, गुड़, खण्ड, शर्करा, तवराज, मधु इत्यादि के गुणों का उल्लेख है। दसवें मद्य वर्ग में सुरा, कातोली, प्रसन्ना, वल्कली, कोहल, जगल, बक्कस, शीध्र (विभिन्न प्रकार से निर्मित), अरिष्ट, शुक्त, काञ्जिक, सौवीर, तुषोदक एवं प्रसङ्गात् मूत्रों का भी गुण वर्णन है।

ग्यारहवें कृतान्न वर्ग में ओदन, मण्ड, लाजमण्ड, यवागू—पेया, विलेपी, पायस, कृशरा, सूप, शाक, मांस के विविध प्रयोग, यूष, खड, काम्बलिक, राग, षाडव, रसाला, पानक, मन्थ आदि के गुणों का वर्णन है। बारहवें भक्ष्यवर्ग में पृथुक, धाना, शक्तु, दुग्धके भक्ष्य, घृतपूर, गौडिक, मधुशीर्षक, मोदक, पट्टक, विष्यन्द, फेनक, वेशवार, पालल, वैदल, कुल्माष, वाट्य, काञ्जिकवटक, तक्रवटक आदि के गुणों का उल्लेख है।

तेरहवें आहारविधिवर्ग में भोजन कैसे परोसना चाहिये, किस प्रकार के पात्र में कौन-सा पदार्थ रखने के लिए देवे, पहले क्या खाये, कितनी मात्रा में खाये, भोजनोत्तरकर्म, आहार का परिणाम तथा प्रसाद किट्ट विभाग, उससे धातुओं के पोषण आदि का वर्णन है। चौदहवाँ वर्ग 'अनुपान' नामक है। इसमें दोषानुसार अनुपान, उष्णोदक और शीतोदक का निर्देश, दुग्ध-मांस रस आदि कब लेना चाहिये, मांस भोजनान्तर क्या सेवन करे, रक्तपित्त-विष आदि में कौन-सा अनुपान हितकर है, एवं अनुपान के सामान्य गुणों का वर्णन है। पन्द्रहवें 'मिश्रक वर्ग' में नानाद्रव्याश्रित वीस गुर्वादि गुणों के कर्म का वर्णन है। पारिशेष्यात् दन्तकाष्ठ, जिह्वानिर्लेखन, स्नान, पूजन, व्यायाम, अंजन, उद्वर्तन, अभ्यंग, परिषेक, आलेपन, रत्नधारण, छत्रधारण, दण्डधारण, संवाहन, निद्रा, व्यजन, धूम, आतप, ज्योत्स्ना, देश, ऋतु, अध्ययन, ब्रह्मचर्य आदि के गुणों का वर्णन है।

श्री शिवदास सेन की टीका ने सोने में सुगन्ध का काम किया है। उन्होंने आहार-परिणाम और धातूत्पाद की व्याख्या को अनेक शास्त्रों का दृष्टान्त देकर बहुत ही सरल तथा साथ ही साथ प्राञ्जल भी बना दिया है।

श्री चक्रपाणि दत्त का द्रव्यगुण सम्बन्धी वर्गीकरण चरक सुश्रुत और वाग्भट के वर्णनों की अपेक्षा निराला है, उदाहरणार्थ चरक के 'पञ्चाशत्' (५०) महाकषायों के वर्णन में एक ही द्रव्य अनेक वर्गों में प्रविष्ट हो जाता है, सुश्रुत ने एक-एक व्याधि के हरणार्थ अनेक द्रव्यों का एक वर्ग बनाना चाहा किन्तु वह वर्ग अनेक व्याधिहर सिद्ध हुआ। वाग्भट ने चरक-सुश्रुत दोनों के वर्णनों को एक में मिलाकर अपने ढंग से सजाया जिसमें गुण और कर्म दोनों के वर्णन का ध्यान रक्खा गया। चक्रपाणिका वर्गीकरण इन तीनों की अपेक्षा विशिष्ट रहा। **'धन्वन्तरि निघण्टु'** कार ने इसमें भी विशेषता ला दी। इन्होंने यद्यपि चरक का ही अनुकरण किया किन्तु पुनरुक्ति न होने दी। इस ग्रन्थ में लगभग ३७३ औषधियो और अनेक धातुओं का वर्णन है।

द्रव्यगुण संग्रह पर पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने हिन्दी में टीका लिखी है, जिसका प्रकाशन सं० १९८२ वि० (शाके १८४७) में श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस से हुआ है। मिश्रजी के पिता जी का नाम पं० सुखानन्द मिश्र है। ये मुहल्ला दीनदार पुरा, शहर मुरादाबाद के रहने वाले हैं। टीका सरल और स्पष्ट है।

धन्वन्तरि निघण्टु—इस ग्रन्थ की रचना कब हुई और किसके द्वारा की गई, इस विषय में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसके रचयिता वही धन्वन्तरि हैं जो सुश्रुत संहिता के उपदेशक रहे हैं, किन्तु इस मत का खण्डन मङ्गलाचरण[1] के अधोलिखित श्लोक से ही हो जाता है। दूसरे आचार्यों का मत है कि विक्रम के दरबार में (ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व) रहने वाले धन्वन्तरि नामक नवरत्न ने इस ग्रन्थरत्न की रचना की किन्तु यह मत भी सङ्गत नहीं प्रतीत होता। स्वयं ग्रन्थकार ने भी किसी स्थल पर ऐसा निर्देश नहीं किया जिससे उसके काल या निवास स्थान का अनुमान लगाया जा सके। आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि के अन्तर्गत राजनिघण्टु के साथ धन्वन्तरि निघण्टु का प्रकाशन सन् १९२५ ई० में हुआ है। इसके देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें सात वर्ग हैं–गुडूच्यादि, शतपुष्पादि, चन्दनादि, करवीरादि, आम्रादि, सुवर्णादि और मिश्रकादि।

ग्रन्थ बनाने का प्रयोजन बताते हुए इस ग्रन्थकार ने कहा है कि स्थान और भाषा की दृष्टि से औषधि द्रव्यों के नाम और गुण के निर्वचन में विभेद देखा जाता है अतएव इस समय प्रचलित निघण्टुओं का आलोडन करके इस

---

१. नमामि धन्वन्तरिमादिदेवं सुरासुरैर्वन्दितपादपद्मम्।
लोके जरारुग् भय मृत्युनाश धातारमीशं विविधौषधीनाम्॥

ग्रन्थ का निर्माण इस लिये किया जा रहा है जिससे कि वैद्यों के प्रयोग में एक-रूपता आ सके। इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार का उद्देश्य बहुत उच्च था जिसकी प्राप्ति के लिये उन्होंने बड़ा श्रम किया। मूलग्रन्थ के विवेचन से पूर्व ग्रन्थोक्त द्रव्यों को एकत्र करके एक गण द्रव्यावलि बनाई गई है जिसमें रक्त-पित्त, ज्वर, वमन, विरेचन आदि के उपयोगी योगों का वर्णन किया गया है।

प्रथम गुडूच्यादि वर्ग में ८९ द्रव्यों का वर्णन है। इसे ऊर्ध्वाधोदोषहर और सर्वामय विनाशक बताया गया है। द्वितीय शतपुष्पादि वर्ग में ४२ द्रव्यों का संग्रह है, इसे कायाग्निदीपक, बल्य और वक्त्रसौगन्ध्यतीक्ष्णकृत् कहा गया है। तृतीय चन्दनादिवर्ग में ६४ वर्ग वाले और ६ वर्गेतर द्रव्यों का वर्णन किया गया है। ये सभी द्रव्य गन्ध वाले हैं। चौथे करवीरादि वर्ग में ५६ वर्गीय और चार वर्गेतर द्रव्यों का वर्णन है, इन्हें नाना व्याधि प्रशमक कहा है। पाँचवें आम्रादि वर्ग में ६१ वर्ग वाले और ४ वर्गेतर द्रव्यों का संग्रह है, इन्हें हर्षण आदि गुण युक्त बताया गया है। छठवें सुवर्णादि वर्ग में अनेक प्रकार के द्रव्यों यथा खनिज, चावल, दाल अर्थात् शूक-शमी धान्य, शाक, तैल, दुग्ध घृतादि का वर्णन है। यह बडा वर्ग है जिसमें ९४ वर्गीय और ३६ वर्गेतर द्रव्यों का वर्णन है। सातवें मिश्रक वर्ग में विभिन्न द्रव्यों को मिलाकर एक-एक योग जैसे त्रिफला, चातुर्भद्र, पञ्चकोल आदि बनाया गया है। इसमें इस प्रकार के ५२ संयोग (योग) बताये गये हैं। आगे औषध, पथ्य, वैद्य आदि के भी पर्यायों का विवेचन किया गया है। यह एक प्रकार से परिभाषा खण्ड जैसा ही है।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल मिलाकर लगभग साढ़े चार सौ द्रव्यों का वर्णन किया गया है। भाषा आदि को देखकर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ को रचना बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के मध्य किसी समय हुई होगी। विंध्य के दक्षिण के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का प्राचीन काल में प्रचार-प्रसार जितना अधिक था उतना उससे उत्तर के क्षेत्र में नहीं था यह भी अनुमान इस पुस्तक के देखने से सहज ही हो जाता है। इस ग्रन्थ में द्रव्यगुण-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों रस-वीर्य-विपाक आदि के दृष्टिकोण से ही द्रव्यों का वर्गीकरण और विवेचन किया गया है।

रसवैशेषिक दर्शन[1]—इसके कर्त्ता आचार्य भदन्त नागार्जुन बौद्ध सन्यासी थे

---

१. इति भदन्तनागार्जुनस्य प्रव्रजितस्य वैद्येन्द्रस्य रसवैशेषिकसूत्रस्य नरसिंहकृत भाष्यं समाप्तम्।

जो केरल प्रदेश के शेरतलल्ला तालुका के किसी विहार के निवासी थे। इनके काल के विषय में लोगों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी में मानते हैं तो अन्य लोगों के मत में इनका काल सप्तम शताब्दी कहा जाता है। यों तो नागार्जुन संज्ञा से लगभग ४ आचार्यों का उल्लेख मिलता है। ये सभी लोग बौद्ध सन्यासी थे किन्तु भदन्त विशेष्य इस बात की पुष्टि करता है कि इनकी दन्तपंक्ति बहुत ही प्रकाशमान थी। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य श्री वाराह् मिहिर कृत बृहज्जातक में भी 'भदन्त' का उल्लेख मिलता है। इस पर श्री नरसिंह ने भाष्य लिखा है। भायष्कार ने चरक, सुश्रुत, भारद्वाजसंहिता, औरभ्रसंहिता आदि से उद्धरण तो दिये हैं किन्तु वाग्भट के ग्रन्थों का कहीं उल्लेख नहीं किया, इससे प्रतीत होता है कि ये भाष्यकार भी वाग्भट के पूर्ववर्ती ही रहे हैं। क्योंकि केरल में वाग्भट के ग्रन्थ (अष्टाङ्गहृदय) का अधिक प्रचार है और भाष्यकार वहीं का रहने वाला होकर यदि इसका उद्धरण नहीं देता तो वह उसका औदासीन्य नहीं अपितु पूर्ववर्तित्व ही ख्यापित करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार और सूत्रकार में गुरु-शिष्य का संबंध था तभी इतनी प्राञ्जल व्याख्या हो सकी।

ब्रह्मसूत्र के ही समान इसमें भी ४ प्रधान सूत्र हैं जिनके आधार पर ही ४ अध्याय बनाये गये हैं और उनका आगे के सूत्रों में भाष्य किया गया है। प्रथम अध्याय में कुल १७१ सूत्र हैं जिसमें स्वास्थ्य और व्याधि के लक्षण उनके ४ भेद, उनकी उत्पत्ति में आहार, व्यायाम और ऋतुओं का प्रभाव आदि वर्णित है। द्वितीय अध्याय में १२३ सूत्रों में मूर्त और अमूर्त द्रव्यों, उनकी विविधता, परस्पर सम्बन्ध, गुण धर्म तथा प्रभाव आदि का विवेचन है। तृतीय अध्याय में ११९ सूत्र हैं। इसमें प्रारम्भ में रस को एक माना गया है किन्तु बाद में अनुभूति के आधार पर उसके ६ भेद किये गये हैं। रसों की उत्पत्ति, स्वभाव, द्रव्य से सम्बन्ध, रसदोष सन्निपात होने पर उनकी विशेष रूप में परिणति का विवेचन किया गया है। मधुर अम्ल और लवण रसों की वातघ्नता का बड़े विशद रूप में वर्णन किया गया है। इसी प्रकार का विवेचन पित्त के लिये तिक्त कषाय मधुर रसों का और कफ के लिये कटु, तिक्त कषाय रसों का है। चौथे अध्याय में ७३ सूत्र हैं जो द्रव्यों के वमन, अनुलोमन, दीपन आदि गुणों की व्याख्या करते हैं। विपाक पर विभिन्न मतमतान्तरों को प्रदर्शित किया गया है। इसी में प्रमाणों, और चिकित्साफल का भी विवेचन किया गया है।

मदन विनोद—इस निघण्टु का प्रणयन राजा मदनपाल ने विक्रम संवत्[1]

(१) अब्दे ब्रह्मजगद् युगेदुगणिते श्रीविक्रमार्के प्रभो
माघे मासि वलक्षपक्षललिते षष्ठ्यां सुधांशोर्दिने।

१४३० माघ शुक्ल षष्ठी, सोमवार को संपूर्ण किया। स्थान का नाम 'काष्ठनगर' के रूप में उल्लिखित किया है किन्तु इस नाम से किस स्थान का सम्प्रति अवबोध किया जाय यह कह सकना बड़ा कठिन है। यदि नैपाल देशस्थ काठमाण्डू लें तो वहाँ पर रत्नपाल, भरणपाल, हरिश्चन्द्र, सहजपाल आदि नृपति हुए नही हैं अतएव काठगोदाम (यू. पी.) के आसपास के स्थान का इससे ग्रहण किया जाना उचित है। फिर भी इस विषय की अधिक खोज होनी चाहिए, तभी कुछ निश्चित रूप में कहा जा सकता हैं। काशी के सुप्रसिद्ध वैद्य पं० त्र्यम्बक शास्त्रि द्वारा संशोधित मूलरूप में प्रकाशित एक पुस्तक देखने को मिली जिसमें १३ वर्ग हैं। एक 'मदनपालनिघाण्टु' का केवल हिन्दी अनुवाद १९३० में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से छपा हुआ देखने को मिला। इसमें औषधियों के संयोगवाचक और पर्यायवाचक नामों का १४वाँ वर्ग भी मिलता है।

प्रथम अभयादि वर्ग में हरीतकी, आमलक, विभीतक (त्रिफला), भूम्यामलको, जलामलकी, अडूसा, गुडूचो, बिल्व, अरणी, पाढल, गम्भारी (बृहत्पञ्चमूला) गोखरू, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, वृहती, कण्टकारी (लघुपञ्चमूल, दशमूल), ऋद्धि-वृद्धि काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा-महामेदा, जीवक-ऋषभक (अष्टवर्ग), जीवन्ती, मुलेठी, माषपर्णी, (जीवनीयगण), एरण्ड, सारिबा, यवासा, गोरखमुण्डी, महामुण्डी, अपामार्ग, कम्पिल्ल, दन्तो, जयपाल, मूर्वा, श्वेत निशोत, कृष्णा त्रिवृत्, इन्द्रवारुणो, आरग्वध, नीलिनी, कटुकी, अङ्कोट, सेहुण्ड, निम्ब, महानिम्ब, किराततिक्त, कुटज, इन्द्रयव, मदनफल, कंकुष्ठ, स्वर्णक्षीरी, सातला, अश्मन्तक, काञ्चनार, निर्गुण्डी, अजशृंगी, पुनर्नवा (श्वेत, रक्त) रास्ना, अश्वगन्धा, गन्धप्रसारणी, शतावरी, बला चतुष्टय, तेजबल, मालकांगनी, देवदारु, सरल, पुष्करमूल कूठ, काकड़ासिंगी, रोहिष, कटफल, भारङ्गी, पाषाणभेद, नागरमोथा, धव, माचिका (पटुवा), विदारीकन्दै, वाराहीकन्द, पाठा, मूर्वा, मञ्जिष्ठा, हरिद्रा, दारुदरिद्रा, चक्रमर्द, वाकुची, भृंगराज, पर्पट, शणपुष्पी, त्रायमाणा, सनाय, अतिविषा, काकमाची, काकजंधा, लौघ्र, विधारा, देवदाली, हंसपादी, नाकुली, वटपत्री, लज्जालु, सोमवल्ली, मुसली, कपिकच्छू, पुत्रजीव, बन्ध्या कर्कोटकी, विष्णुक्रान्ता, शङ्खपुष्पी,

---

दीनानां परितापपापदलनो ग्रन्थन्निघण्टुं किल,
श्रीदः श्री मदनो व्यधत्त चतुरः सच्चक्रचूड़ामणिः ॥
टीकान्वये महति भूमिभुजां विशुद्धे काष्ठेतिनामनगरं जगति प्रसिद्धम् ।
यद्वेधसाविहितमादरतः स्वसृष्टेरुत्कृष्टताऽतिशयपुञ्ज दिदृक्षयैव ॥ १ ॥
राजा राजेन्द्र लाल मित्र ने इस ग्रन्थ का काल बारहवीं शताब्दी माना है।

दुग्धिका, धाहुली, भल्लातक, चिरायता, द्रोणपुष्पी, ब्राह्मी, सुर्यमुखी, मत्स्याक्षी, जलपिप्पली, गोजिह्वा, नागदमनी, गुञ्जा, वेल्लन्तर, बन्दा, पिंडार, नकछिकनी, रोहितक, मोचरस, अजगन्धा, सैरेयक, कौवाठोठी, (श्वेतापराजिता), तालमखाना, कपास, कुकरौंधा (छोटा-बड़ा), बामी (हिलमोचिका) बलामोटा, (छोटो शमी), शरपुङ्खा, मोरशिखा, लक्ष्मणा, मांसरोहिणी, अस्थिसंहारक, मदार, करवीर, धत्तूर, कलिहारी, घृतकुमारी, भाँग, कांचनी, दूर्वा, गण्डदूर्वा, कुशनल, बांस, यवानी, पोस्तादाना, अहिफेन, और छिरहरा का वर्णन ।

द्वितीय शुण्ठ्यादि वर्ग के सोंठ, आर्द्रक, मरिच, पिप्पली, त्र्यूषण, चतुरूषण, पिपरामूल, चव्य, गजपिप्पली, चित्रक, पंचकोल, षडूषण, सौंफ, मिश्रेया, मेथी, अजमोदा, हिंगु, वंशलोचन, सेंधानमक, सौवर्चल, विड्नमक, सामुद्र, औद्भिद, सांभर नमक, क्षारनमक, काचनमक, यवक्षार, स्वर्जिका, टङ्कण, चूना तथा पलाश, तिल, कदली आदि से उत्पन्न क्षारों का वर्णन है ।

तृतीय कर्पूरादिवर्ग में कपूर, कस्तूरी, मार्जारी, श्वेत-रक्त-पीतचन्दन, कृष्णागुरु, केशर, शिलाजीत, एलुआ, जायफल, जातीपत्री, लवंग, शीतलचीनी, छोटीइलायची, दालचोनी, तेजपात, नागकेशर, त्रिजात, चातुर्जात, तालीसपत्र, सरल, श्रीवास सुगन्धवाला, जटामांसी, उशीर, रेणुका, प्रियङ्गु (फूल) मोथा, छरीला, लामज्जक, रूमी मस्तगी, गुग्गुलु, राल, स्थौणेयक, मुरा, चोरक, कचूर कपूर कचरी, कपूरी शाक (स्पृक्का) गठिवन, नलिका, पद्मकाष्ठ, पुण्डरीक, तगर, गोरोचन, नख, पत्तङ्ग, लाक्षा, पर्पटी, पद्मिनी, कुमुदिनी, स्थलकमल, श्वेतलाल और नीलकमल, कल्हार, पद्मकेशर, पद्मबीज, मृणाल, जाती (चमेली), मल्लिका (बेला), यूथिका (जूही), गुलाब, केतकी, नेवारी, और वननेवारी, मालती, चम्पा, पुन्नाग, मौलश्री, बुक (वगहुल) कुन्द, मुचकुन्द, बली, तिलक, गणेरी, दुपहरिया (बन्धुजीव), जपा, सदासोहागिन, तुलसी, मरुवा, दमना और ममरी का वर्णन है ।

चौथे सुवर्णादि वर्ग में सुवर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य, पित्तल, राँगा, सीसा, लोहा-मण्डूर, पारद, अभ्रक, गन्धक, माक्षिक, मनःशिला, हरताल, गैरिक, तुत्थ, कासीस, हिङ्गुल, सिन्दूर, सौवीराञ्जन, रसाञ्जन, पुष्पाञ्जन (जस्ते का फूल), शिलाजतु, बोल, फिटकिरी, समुद्रफेन, प्रबाल, मोती, माणिक्य, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, गोमेद, हीरक, नीलम, पन्ना (गारुत्मत्), मुक्ताशुक्ति, शङ्ख, कपर्द, शम्बूक, वराट, खटिका, बालू सिकता आदि, चुम्बक तथा काँच के गुणों का वर्णन है ।

पाँचवें वटादि वर्ग में बट, पीपल, पारीश पीपल, गूलर-कठगूलर, पाकर,

पंचक्षीरि, वृक्ष-पञ्चवल्कल, नन्दीवृक्ष, कदम्ब, अर्जुन, शिरीष, आर्तगल, बेंत, जलबेंत, हिज्जल (जलबेंत की एक जाति), लसोड़ा, पीलु, सागवान, सर्ज-रस, तमाल, खदिर, इरिमेद बब्बूल, विजयसार, तिनिश, भोजपत्र, पलाश, धव धन्वन्, रालवृक्ष, शाखोट, वरुण, जिङ्गिनी, शल्लकी, इंगुदी, कटम्भर, मुष्कक, पारिभद्र, शाल्मली, तून, सप्तच्छद, हारिद्रक, करञ्ज, वल्लीकरञ्ज, तिरिगिच्छ, शमी, जलशिरीष, रीठा, शीसम एवं अगस्त्य का वर्णन है।

छठवें द्राक्षादि वर्ग में मुनक्का (द्राक्षा), मृद्वीका (किसमिस), आम्र, आम्रबीज, जामुन, नारियल, खजूर, केला, सिलेमानी (छोहारा), अनार, बैर, खिरनी, चिरौजी, परुषक, तिन्दुक, किङ्किणी, आडू, महुवा, कटहल, लकुच ताड़, खबूंजा, सेव, बड़ासेव, अमरूद, बादाम, चिलगोजा, पिस्ता, एलान, आलूबुखारा, अंजीर, अखरोट, पालवत, सहतूत, गाङ्गेरुक, काजू, बीजपूर, मीठा नोबू, नारंगी, जम्बीरी नीबू, अम्लवेत, साराम्ल, नीबू, तिन्तिडीक, कमरक, इमली, करमर्द, कपित्थ, आम्रातक, चतुरम्ल-पंचाम्ल, कोशाम्र, सुपारी ताम्बूल और हरफारेवड़ी का वर्णन किया गया है।

सातवें शाक वर्ग में पत्र-पुष्प-फल-नाल और कन्दाश्रित शाकों का वर्णन विशेषतः जीवन्ती, सर्षप, कूष्माण्ड, कलिंग (तरबूज), लौकी, ककड़ी, खीरा, चिर्भट (फूट), हरी ककड़ी, पेठा, वनतरोई (कोशातकी) राजकोशातकी, महाकोशातकी, भण्टा, कुन्दरू (बिम्बी), करेला, खेखसा, (कर्कोटकी), डोंड़ी डिण्डिस, शिम्बी, वास्तूक, नोनी, कालशाक, चौराई, फोगो, परवल, चिचिड़ा, पालक, पोई, कुलफा, जंगली वथुआ, करेमू (सितवार), चना, कलाय, कासमर्द, मूली, करीरक, सहिजन, लशुन, पलाण्डु, गृञ्जन, सूरण, हरजोर, गृष्टिकन्द, मुसली, केबुआकन्द, कुकुरमुत्ता, मानकन्द, सिंघाड़ा, आलू, केलूट का वर्णन है।

आठवें पानीय वर्ग में जल के विविध भेदों और उनके गुणों के वर्णन के साथ ही साथ दुग्ध के भेद, दधि, तक्र, नवनीत, घृत, तैल, मद्य और मूत्रों के भी गुण धर्म का उल्लेख है। नवें इक्षुकादि वर्ग में इक्षुरस और इक्षुविकारों के साथ ही साथ मधु और मोम का भी वर्णन है। दशवें धान्य वर्ग में शालि, षष्टिक, व्रीहि, गोधूम, यव और शिम्बी धान्यों में मुद्ग, माष, राजमाष, मेथी, सेम, मटर, कलाय, चना, मसूर, कुलत्थ, अरहर, तिल, तीसी, कुसुम्भ (बर्रे) सरसो, शण और तृण धान्यों का भी वर्णन है। ग्यारहवें कृतान्न वर्ग में सिद्ध द्रव्यों यथा भात, यवागू, षाडव, शिखरण, पानक, सट्टक, मांसरस आदि के गुणों का वर्णन है। मांस वर्ग (बारहवें) में विविध आनूप-औदक पशु-पक्षियों के मांस के गुणों का वर्णन है। तेरहवें मिश्रक वर्ग में विविध दोषों में प्रयुक्त

अनुपान आदि का वर्णन है। श्री उदयचन्द्र दत्त के वचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रचार उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश में अधिक था जो स्थान अब पाकिस्तान में है।

महार्णव--इस पुस्तक का उद्धरण उस्मानिया मेडिकल कालेज से प्रकाशित होने वाली बुलेटिन में जुलाई १९६३ के अङ्क में दिया गया है। ज्वरणाण्डु रोग आदि के वर्णन को देखकर यह पुस्तक भी आयुर्वेद से संबद्ध प्रतीत होती है, और इससे राजा मदनपालके ऊपर काफी प्रकाश पड़ता है। इसमें जो वंशवृक्ष[1] दिया गया है वह रतनपाल-धर्मपाल-हरिश्चन्द्र--?—मदनपाल हैं। इनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम पृथ्वीमल्ल और कनिष्ठ का नाम मान्धात्रि बताया गया है। मान्धात्रि ने महार्णव या मदन महार्णव की रचना की। 'इसमें चतुर्वर्ग चिन्तामणि' का भी उद्धरण मिलता है। तेलगूलिपि में ताड़पत्र पर इसकी पाण्डुलिपि है। इसको तेरहवीं शताब्दी का बताया गया है। इसका प्रकाशन गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज में ११७ संख्या में हुआ है।

---

१. मदन विनोदोक्त वंशवृक्ष—

तत्र श्री रत्नपालः समजनि जननानन्द वृन्दैककन्दः
कुन्देन्दु स्वच्छ कीर्तिः परमददलनो दानदीक्षैकदक्षः।
यस्याकर्ण्य प्रभूतं प्रथितगुणगणं कर्णसाफल्यभाजो
दैवं निन्दन्तिलोका नयनविफलता खेदमावेदयन्तः ॥२॥

जननयन सुधांशुस्तस्य शुद्धस्तनुजो जगति भरणपालः क्षोणिपालो बभूव।
सकलमनुजवाञ्छा सिद्धि हेतोर्विधाता सुरतरुमिहचक्रे यत् करछद्मनैव ॥३॥

हरिश्चन्द्रस्तस्मात् समजनि जनानन्दजननो
हरिश्चन्द्रो लोकेऽपरइव परीतापदलनः।
परं विश्वामित्रेष्वहितमयमाधत्त महसा
वशिष्ठो नैतस्माज्जगतिमहितोऽन्यःसुकृतिनाम् ॥४॥

तस्मादभूदद्भुतकृत्यमान्यः साधारणो भूमिपतिर्वदान्यः।
दारिद्रयमुन्मूल्य पुनः स्ववैरिष्वस्यापि कामं कृपयैव येन ॥५॥

कामं सर्वमहीशमान्य उदयो नास्तंप्रयातः क्वचिन्नोदानं
मधुपप्रियं जनमनः सन्तापनुत् शूरता।
सच्चाक्रान्ति विचित्र मित्र सुखिता वृद्धिप्रदा चन्द्रता
चातुर्येणमहेन्द्रता कविमता किं किं न यस्याद्भुतम् ॥६॥

अजनि सहजपालस्तस्य पूर्वंस्तनूजस्तदनुमदनपालः पुत्ररत्नं बभूव।
अकृत सुकृतभाजा येन राज्ञा निघण्टु भिषगभिमत सिद्धयै कीर्ति सन्दोहभाजा ॥७॥

राजनिघण्टु—इसका दूसरा नाम 'अभिधान चूड़ामणि' है। यद्यपि ग्रन्थकार ने यही नाम ग्रन्थ को दिया है किन्तु इसका प्रथम नाम ही अधिक प्रचलित हुआ और मूलनाम गौण हो गया। ग्रन्थ के अध्यायान्तों में ग्रन्थकार ने अपना संक्षिप्त परिचय[1] दिया है जिसका सारांश यह है कि इस निघण्टु के रचयिता का नाम श्री नरहरि पण्डित है। इनके पिता का नाम श्रीमत् ईश्वर सूरि था। ये स्वयं वैद्य थे और इनको लोग चण्डेश्वर भी कहते थे। इनका निवास स्थान काश्मीर देश में सिंहपुर (श्री मठसिंह गुहा स्थान) था। ये नरहरि पण्डित शैव धर्मावलम्बी थे किन्तु किस समय में हुए, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ बता सकना असम्भव है। प्रो० एच० एच० विल्सन ने इनका काल बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच माना है। एक बात स्पष्ट है कि इन्होंने इस ग्रन्थ के निर्माण करने में जिन अन्यान्य ग्रन्थों[2] से मदद ली थी उसमें धन्वन्तरि— मदनादि निघण्टुओं और हलायुध, विश्वप्रकाश, अमरकोश और शेषराजकोष आदि का जो उल्लेख किया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ भी अभिनव ही है। बहुत प्राचीन नहीं है। इन सभी में धन्वन्तरि निघण्टु को ही इन्होंने प्रधानता दी है। साथ ही अन्य देशी भाषाओं में प्रचलित औषधि नामों का भी सङ्कलन किया गया है।

इस ग्रन्थ में २३ वर्गों का उल्लेख किया गया है। इसमें अनूपादि प्रथम वर्ग है जिसमें अनूप, जाङ्गल और साधारण देश के लक्षण, क्षेत्र के भेद तथा

---

१. इति काश्मीर मण्डल प्रसिद्ध वसति श्रीमठ सिंह गुहास्थान स्थित श्री नन्दी-स्फोट प्रसिद्ध महिमानन्द श्री सोमानन्दाचार्य वंशोद्भव चतुर्दश विद्याविनोद परिणत समागम द्विज वैराग्य योग्य श्री परमहंस जगदविज्ञान तिमिर मार्तण्ड श्री चण्डेश्वरापर-नामधेय श्री राजराजेन्द्र गिरि श्री पादपद्म सर्वशास्त्रमकरन्दामोदमुदित सद्वैद्य विद्या-विशारद मानसहितारिधुरंधर नानाधनग्रहण सत्त्वगुणसहज श्रीमदीश्वर सूरिसुनु श्रीमद-मृतेशानन्द चरणारविन्द मकरन्दानन्दित श्री नरहरि पण्डित विरचिते निघण्टु राजापर पर्यायवत्यभिधान चूडमणौ…

२. धन्वन्तरीय मदनादि हलायुधादीन् विश्व›काश्यमरकोश सशेषराजौ।
आलोक्य लोकविदतांश्च विचिन्त्य शब्दान् द्रव्याभिधानगण संग्रह एष सृष्टः॥
आयुः श्रुतीनामतुलोपकारकं धन्वन्तरिग्रन्थ मतानुसारकम्।
आचक्ष्महे लक्षण लक्ष्य धारकं नामोच्चयं सर्वरुजापहारकम्॥

× × ×

व्यक्तिः कृताम कर्नाटमहाराष्ट्रीय भाषया।
आन्ध्र लाटादिभाषास्तु ज्ञातव्यास्तद्द्वयाश्रया॥

लक्षण और उनके अधिष्ठातृ देवता का वर्णन है। सर्वत्र ग्रन्थकार ने अपने बनाये हुए सुन्दर-सुन्दर श्लोकों का सन्निवेश किया है, कहीं से उद्धृत नहीं किया है। श्लोकों की रचना भी बड़ी प्राञ्जल है। द्वितीय 'भूम्यादिवर्ग' है; इसमें भूमि के प्रकार, वृक्षों के भेद और उनके विविध अवयवों का परिचय, द्रव्यों के संग्रह की विधि, रस वीर्य विपाक आदि का वर्णन है। तृतीय गुडूच्यादि वर्ग में १७ औषधियों, चतुर्थ शताह्वादि वर्ग में २८ द्रव्यों, पञ्चमपर्पटादि वर्ग में २७ औषधों, षष्ठ पिप्पलादि वर्ग में मात्र ७ औषधियों और सप्तम मूलकादि वर्गमें ५१ द्रव्यों का वर्णन मिलता है। आठवें शाल्मल्यादि वर्ग में ३९ द्रव्यों का, नवे प्रभद्रादि वर्ग में १९ द्रव्यों का, दशवें करवीरादि वर्ग में २४ द्रव्यों का, ग्यारहवें आम्रादि वर्ग में ५ द्रव्यों का और बारहवें चन्दनादि वर्ग में मात्र १ द्रव्य का वर्णन है।

तेरहवें सुवर्णादि वर्ग में २१ धातुओं-रत्नोपरत्नो आदि का, चौदहवें पानीयादि वर्ग में गङ्गा आदि १७ नदियों के जलों का, पन्द्रहवें क्षीरादिवर्ग में १३ प्रकार के नवनीत और ग्यारह प्रकार के तैलों का, सोलहवें शाल्यादि वर्ग में १३ प्रकार के धान्यों का, सतरहवें मांसादि वर्ग में १९ प्रकार के मांसों का, अठारहवें मनुष्यादि वर्ग में स्त्री-पुरुष के विविध प्रकारों और अवयवो का वर्णन है। उन्नीसवें सिंहादिवर्ग में ४८ प्रकार के वन्य पशुपक्षियों का परिचय दिया गया है। बीसवें रोगादि वर्ग में ६६ रोगों के अतिरिक्त लगभग ३५ अन्य विषयों यथा पथ्य, रस आदि का वर्णन है। इक्कीसवें सत्वादि वर्ग में गुणों, काल, ऋतु, मान आदि का, बाईसवें मिश्रकादि वर्ग में संयोग से उत्पन्न संज्ञाओं यथा त्रिशर्करा, त्रिकण्टक, सप्तधातु, अष्टलोह, मूत्रदशक आदि २२ संज्ञाओं का विवेचन किया गया है। तेइसवें एकार्थादि वर्ग में एक शब्द के एक से लेकर बारह तक के अर्थों का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार २३ वर्गों में यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

राजवल्भ निघण्टु[१]—इस ग्रन्थ के कर्ता का नाम वैद्य राजबल्लभ है। किन्तु ये किस देश के निवासी हैं और इस ग्रन्थ की रचना इन्होंने कब की, इसका कुछ भी उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं मिलता। इस पर मुरादाबाद रामगंगातट निवासी श्री शालिग्राम वैश्य जी की द्रव्यचन्द्रिका नामक भाषाटीका मिलती

---

१. राजबल्लभवैद्येन निर्मितो राजबल्लभः।
द्रव्याणां गुणख्यातित्वाद् भिषजानां सुखावहः ॥ २
प्रभातप्राह्णमध्याह्नापराह्ण रजनीभवः।
इति पञ्च परिच्छेदाः षष्ठोप्यभौषधाश्रयः ॥ ३

है। जिसका प्रकाशन श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस से वि० संवत् १९५२ में हुआ है। इसमें ६ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद का नाम 'प्रभात' है। इसमें उठने के पश्चात् शौच, दन्तधावन, नेत्रप्रक्षालन, अञ्जन, कंघी करना, उष्णीषधारण, श्मश्रुनखादिच्छेदन, उषः जलपान, प्रभातकाल में द्रष्टव्य आदि का वर्णन है।

द्वितीय परिच्छेद में पौर्वाह्णिक कृत्यों का नानातन्त्रों के आधार पर सङ्ग्रह किया गया है। इसमें छत्रधारण, दण्डधारण, व्यायाम, संवाहन, चङ्क्रमण, पादुकाधारण, विविध दिशाओं के वात, व्यजन, विविध तैलों और उनसे अभ्यङ्ग मर्दन-अवगाहन, विविध जल के पान-स्नान, आलेपन आदि के गुणों का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में यद्यपि प्रतिज्ञा की गई है कि माध्याह्निक कृत्य का वर्णन होगा किन्तु वास्तव में उसमें द्रव्यगुण का वर्णन है। धान्य (चावल) के भेद और उनके गुण, गोधूम, शिम्बी धान्य, तैलवर्गीय धान्य, शाक, पुष्प, फल, मूल, पक्वफल, हरीतकी आदि औषधियों, विविध मत्स्य, पशु-पक्षियों के मांस, मद्य, मूत्र, मधु, दुग्ध, दधि तक्र, घृत, इक्षुविकार, हिंगु-जीरक आदि मसाले, लवण, क्षार, यवागू, यूष, रस, पक्वान्न आदि के गुणों का वर्णन है। आहार करने की विधि, भोजनोत्तर ग्रहण किये जानेवाले द्रव्यों-ताम्बूल आदि और कृत्यों का भी इसी परिच्छेद में वर्णन है।

चतुर्थ अपराह्ण परिच्छेद में अध्ययन, सद्यः बलकारक एवं बलहारक वस्तुओं, देशभेद, रस, वीर्य आदि का वर्णन है। पञ्चम परिछेद में वयोविभाग से स्त्रियों की संज्ञा, मैथुनकाल, शय्या, पुष्प आदि का उपभोग, अतिमैथुन और अमैथुन से उत्पन्न दोषों तथा निद्रा का वर्णन है।

षष्ठ परिच्छेद नानौषधि वर्ग के नाम से उल्लिखित है। इसमें दशमूल, बलाचतुष्टय, शतावरी, जीवन्ती, अष्टवर्ग, मुलेठी, अर्जुन, अस्थिसंहारक, भृङ्गराज, रुदन्ती, मुशली, द्रोणपुष्पी, कोयल, वृश्चिकाली, हिंस्रा, सुदर्शन, भार्ङ्गी, सूर्यावर्त, ज्योतिष्मती, ब्राह्मी, वचा, विजया, शंखपुष्पी, शिरीष, दूर्वा, हरिद्राद्वय, बाकुची, चक्रमर्द, करञ्ज और नीम के फल, विडंग, रेणुका, भूर्ज, शिंशपा, आस्फोता, धातकी, शाल, निम्ब, महानिम्ब, भूनिम्ब, पर्पट, पाठा, कुटज, इद्रयव ह्रीवेर, मुस्तक, विषा, आर्द्रक, कट्फल, कुष्ठ, शोभाञ्जन, यवासा, कुटकी, रास्ना, वरुण, पारिभद्र, वासा, गुड्ची, पिप्पलीमूल, चव्य, गजपिप्पली, चित्रक, दन्ती, स्नुही, अर्क, जयपाल, धत्तूर, भल्लातक, गुग्गुलु, त्रिवृत्, अमलतास, वृद्धदारु, अपामार्ग, सिन्दुवार, तुलसी, मूर्वा, वंशलोचन, स्वर्णक्षीरी आदि द्रव्यों के प्रधान-प्रधान गुणों का उल्लेख है। अन्त में चरकसंहिता के ऋतुचर्या प्रकरण (सू० ६ अध्याय) का भी संग्रह कर दिया गया है। यह ग्रन्थ प्रधानरूप से स्वस्थवृत्त परक है और आनुषङ्गिक रूप में द्रव्यगुण का भी उल्लेख कर दिया गया है। इस ग्रन्थ की रचना सन् १७६० ई० में हुई है।

राजवल्लभ निघण्टु का प्रचार बङ्गदेश में अधिक हुआ ऐसा श्री उदयचन्द्र दत्त का मत है। इसी तरह उड़ीसा में 'शतकण्ठ रत्नाभरण' का अधिक प्रचार हुआ। यह भी निघन्टु विषयक ग्रन्थ है।

निघण्टुरत्नाकर[१]—इस ग्रन्थ का प्रणयन मूलरूप में पं० विष्णु वासुदेव गोडबोले द्वारा शक संवत् १७८९ के मार्गशीर्ष मास शुक्लपक्ष में हुआ। इसका सम्पादन करके बाद में पं० कृष्णशास्त्री नवरे ने निर्णयसागर प्रेस से सन् १९३६ में प्रकाशित कराया। यह ग्रन्थ बहुत ही विस्तृत है। प्रथम गुणदोष-प्रकरण है जिसमें वनस्पतियों का वर्णन किया गया है। द्वितीय शारीर प्रकरण है जिसे सुश्रुत शारीरस्थान से संगृहीत किया गया है। तीसरा अष्टविध परीक्षा प्रकरण है जिसमें नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, नेत्र, मुख आदि की परीक्षा, दोषों के क्षय-वृद्धि लक्षणों आदि पर विचार किया गया है। इसके बाद परिभाषा प्रकरण है जिसमें मान का वर्णन है। तदनन्तर हिताहित द्रव्य परीक्षा, औषधियों के प्रतिनिधित्व, रस-गुण-वीर्य-विपाकादि पर विचार किया गया है। दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि का इसी में समावेश है।

इसके बाद क्रमशः स्नेहपान, स्वेद, वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य, धूम्रपान, गण्डूष, लेप, मूर्धतैल, कर्णौषधि, रक्तस्राव, नेत्ररोग चिकित्सा आदि का अलग-अलग प्रकरणों में उल्लेख किया गया है। पञ्चकषाय प्रकरण, पुट कल्पना प्रकरण तथा धातुशोधन-मारण प्रकरण बाद में आते हैं। धातु प्रकरण में स्वर्ण, रौप्य, ताम्र, वङ्ग, खर्पर, शीसक, लौह और मण्डूर के शोधन-मारणादि का वर्णन है। मिश्रधातु प्रकरण, उपधातु प्रकरण के बाद रस प्रकरण शुरू होता है। पारद के विभिन्न संस्कारों और रससिन्दूर बनाने की विविध विधियों का उल्लेख इसमें मिलता है। गन्धक, अभ्रक, हरताल, अंजन, कासीस और गैरिक प्रकरण के बाद उपरस प्रकरण में हिंगुल आदि द्रव्यों का विचार किया गया है। इसके बाद रत्नोपरत्नविषोपविष प्रकरण, अर्क बनाने की पद्धति तथा विभिन्न रोगों में विविध प्रकार के अर्कों के प्रयोग का वर्णन किया

१. इस ग्रन्थ के मङ्गलाचरण से मदन विनोद का मङ्गलाचरश अक्षरशः मिलता है, यथा—

बीजं श्रुतीनां सुघनं मुनीनां जीवं जडानां महदादिकानां।
आग्नेयमस्त्रं भवपातकानां किञ्चिन्महः श्यामलमाश्रयामि ॥ १ ॥
लुब्धा कपोल मधुवारि मधुव्रताली कुम्भस्थलीमधुविभूषण लोहिताङ्गी।
माणिक्यमौलिरिव राजति यस्ममौलौ विघ्नं सधूमयतु विघ्नपतिः सदावः ॥२॥
योध्वान्त सन्तति गभीर पयोधि मध्यान्निष्कासयत्यशरणं भुवनं निमज्जत्।
दत्त्वा जगत्रयहितः स्वकरावलम्बं वाञ्छां स वो दिनकरः सफली करोतु ॥३॥

गया है। प्रथम भाग के अंत में अजीर्ण मञ्जरी है जिसमें अजीर्णोत्पादक विविध निदानों और उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

द्वितीय भाग में केवल रोगों के निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण और चिकित्सा आदि का विचार किया गया है। इसमें विशेष रूप से ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, कृमि, पाण्डु, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, कास, हिक्का, श्वास, स्वरभेद, आरोचक, छर्दि, तृष्णा, मूर्च्छा, मदात्यय, दाह, उन्माद, अपस्मार, वातव्याधि, वातरक्त, ऊरुस्तम्भ, शूल, उदावर्त, गुल्म, हृद्रोग, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, प्रमेह, मेदोरोग, उदररोग, शोथ, वृद्धि, गलगण्ड गण्डमाला-अपची-ग्रन्थ्यर्बुद, श्लीपद, विद्रधि, व्रणशोथ, शारीरव्रण, आगन्तु व्रण, भग्न, नाड़ीव्रण, भगन्दर, उपदंश, शूकदोष, कुष्ठ, शीतपित्त-उदर्द-कोठ, अम्लपित्त, विसर्प, विस्फोट, मसूरिका, क्षुद्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, नासारोग, नेत्ररोग, शिरोरोग, स्त्रीरोग, बालरोग और विषरोगों पर विचार किया गया है। रोगों के वर्णन का क्रम प्रायः माधवनिदान से मिलता-जुलता है। चिकित्सा का विभिन्न ग्रन्थों से संग्रह किया गया है।

भावप्रकाश—इस संग्रह ग्रन्थ के निर्माता पं० भावमिश्र, किस देश में और किस काल में हुए, इसका निर्णय केवल अनुमान के आधार पर ही किया जा सकता है। इनके पिता का नाम श्री लटकन मिश्र था, ऐसा प्रकरणान्तिक[1] उल्लेखों से प्रतीत होता है। ग्रन्थकर्ता ने अपने नाम पर ही इस ग्रन्थ का नाम भावप्रकाश[2] रक्खा यह बात ग्रन्थान्त में लिखे आशीर्वाद श्लोकों से स्पष्ट होती है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा इसमें कुछ अधिक नवीन रोगों और उनके लिए हितकर औषधियों का वर्णन मिलने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ का रचना काल, भारत में उन रोगों और औषधियों का प्रचलन होने के पश्चात् हुआ होगा। इस अनुमान की पुष्टि के

---

१. इति श्री मिश्र लटकन तनय श्रीमन् मिश्र भाव विरचिते भाव प्रकाशे.........
प्रकरणं......

२. यावद् व्योमनि बिम्बम्बरमणेरिन्दोश्च विद्योतते,
यावत् सप्त पयोधयः सगिरयस्तिष्ठन्ति पृष्ठे भुवः।
यावच्चावनिमण्डलं फणिपतेरास्ते फणामण्डले,
तावत् सद् भिषजः पठन्तु परितो भावप्रकाशं शुभम् ॥ १ ॥
ग्रन्थस्याध्यापकानाञ्जनानां मध्ये नृणामादरं कुर्वताञ्च।
श्री सोमेशादित्य विप्रप्रसादादायुर्दीर्घं सौख्यमास्त्तां सदैव ॥ २ ॥
(भा० प्र० उ० ७३ अ०)

लिए प्रायः सभी विद्वान फिरङ्ग रोग और उस रोग की नाशक चोपचीनी औषध का उदाहरण देते हैं।

फिरङ्ग रोग का जो वर्णन ग्रन्थकार ने किया है वह सिफिलिस (Syphilis) से मिलता-जुलता है। भारत में पुर्तगालियों के प्रवेश के पश्चात् इस रोग को अभिवृद्धि हुई। उसकी चिकित्सा में चोपचीनी का व्यवहार शुरू हुआ। यह सभी घटनाक्रम इस बात को सिद्ध करता है कि सोलहवीं शताब्दी ही इस ग्रन्थ का निर्माण काल है। स्थान के विषय में भी फिर भी साधिकार कुछ नहीं कहा जा सकता। कविराज गणनाथ सेन जी ने इन्हें शार्ङ्गधर और बङ्गसेन का उत्त खर्ती कान्यकुब्ज बताया है, महाशय जॉली इन्हें बनारस का रहने वाला बताते हैं।

भावप्रकाश का प्रचार वैद्य समाज में खूब हुआ, इसीलिए इसको लघुत्रयी में स्थान मिला। इसमें तीन खण्ड हैं—पूर्व, मध्यम तथा उत्तर खण्ड। पूर्व खण्ड में सात प्रकरण हैं—आयुर्वेद वक्त॰ प्रादुर्भाव प्रकरण, सृष्टि प्रकरण, गर्भप्रकरण, बालप्रकरण, दिनचर्यादि प्रकरण, मिश्रप्रकरण और परिभाषादि प्रकरण।

प्रथम प्रकरण में लगभग ८९ श्लोक हैं। इससे आयुर्वेद के अवतरण का सभी क्रम एक के बाद एक मिलाकर बताया गया है। इसमें सिद्ध होता है कि ४ वार इन्द्र ने महर्षियों को आयुर्वेद का उपदेश किया। प्रथम बार महर्षि आत्रेय इन्द्र के पास उपदेश ग्रहण करने गये और इन्होंने अग्निवेशादि को उपदेश दिया। दूसरी बार महर्षि भरद्वाज गये, इन्होंने द्रव्य-गुण-कर्म का ज्ञान प्राप्त किया। तीसरी बार भगवान् शेष ने चरक के रूप में अवतीर्ण होकर चरक ग्रन्थ का निर्माण किया और चौथी बार संसार के दुःख को देखकर दयार्द्र-मना इन्द्र ने भगवान् धनवन्तरि को उपदेश किया और उन्हें पृथ्वी पर इसका प्रचार करने के लिए भेजा।

सृष्टि (दूसरे) प्रकरण में कुल ३३ श्लोक हैं। इसमें प्रथम दो श्लोक मङ्गलाचरण[3] तदन्तर सुश्रुतोक्त क्रमानुसार निर्गुण आत्मा का सगुण प्रकृति से संयोग होकर त्रिगुणों से युक्त मनबुद्धि और अहङ्कार की उत्पत्ति, तदन्तर इन्द्रिय, तन्मात्राओं और भूतों का उत्पादन, इन चौबीस तत्वों के मिलने

३. आयुर्वेदाब्धिमध्यादतिमतिमुनयो योगरत्नानि यत्नात्,
लब्ध्वा स्वे स्वे निबन्धे दधुरखिलजनव्याधिविध्वंसनाय।
तत्तद् ग्रन्थाद् गृहीतैः सुवचनमणिभिर्भावमिश्रश्चिकित्सा
शास्त्रे जाड्यान्धकारं प्रशमयितुमिमं संविधत्ते प्रकाशम् ॥ १ ॥
श्रीपति पद प्रसादादाशीर्भिर्भूमिदेवानाम्।
भावप्रकाशनाम्ना ग्रन्थोऽयं पठ्यतां सर्वैः ॥ २ ॥ (भा० प्र० पू २अ०)

से शरीर की उत्पत्ति और उसमें जीवात्मा का प्रवेश होना। इसके पश्चात् गर्भ (तीसरा) प्रकरण शुरू होता है जिसमें रजः प्रवृत्तिकाल, गर्भग्रहण करने योग्य समय, रजस्वलाचर्या, योनि की रचना, गर्भ के सञ्जनन का क्रम, गर्भाशय की रचना, गर्भ में जीव का प्रवेश, स्त्री पुंनपुंसक गर्भों की उत्पत्ति और उनके लक्षण, हृदय आदि अवयवों की उत्पत्ति, दोषों का स्वरूप-स्थान-कर्म आदि का विवेचन, धातुओं और मलों का वर्णन, कलाओं, मर्म, सन्धि, सिरा, धमनी, स्नायु, रन्ध्र, स्रोतस, जाल, रज्जु, सेवनी, संघात, सीमन्त, त्वचा, लोम, लोमकूप आदि शारीरभावों का वर्णन है। गर्भ का मासानुमासिक स्वरूप, दौर्हृद विशेष का फल, अङ्गप्रत्यङ्गों की उत्पत्ति और मातृजादि भाव, आसन्न प्रसवा के लक्षण तथा प्रसव कालीन उपचारों का भी इसी में वर्णन है।

चतुर्थ बालप्रकरण है। प्रसवानन्तर प्रसूता के आहार विहार, स्तन्यप्रवृत्ति, स्तन्यवर्धक योग, दुष्ट और शुद्ध स्तन्य के लक्षण, धात्री के लक्षण, अन्नप्राशन, बाल्यवय के लक्षण, प्रकृति के लक्षण आदि का इसमें वर्णन है। पाँचवाँ प्रकरण दिनचर्या आदि का है। इसमें देश के भेद, स्वस्थ के लक्षण, दिनचर्या, वेगविधारणज रोगों का निर्देश, दन्तधावन, जिह्वानिर्लेखन, गण्डूषधारण, नस्य, अञ्जन, नखकेशादि कर्तन, व्यायाम, अभ्यङ्ग, कर्णपूरण, उद्वर्तन, स्नान, वस्त्रधारण, रत्नधारण, भोजन, जलपान, ताम्बूलभक्षण, वातसेवन, शयन, उष्णीषउपानद्-छत्र-दण्डधारण, सद्वृत्ताचार आदि, रात्रिचर्या-मैथुन, अतिव्यवायज रोग, ऋतुचर्या आदि का इसमें वर्णन है।

छठवाँ मिश्रप्रकरण है। इसमें व्याधि के लक्षण और उसके भेद, साध्यादि भेद से रोग के प्रकार, चिकित्सा के लक्षण, वैद्य आदि के लक्षण, स्वल्पायु के लक्षण, औषधद्रव्य ग्रहण के लिए परिभाषा, द्रव्यों की परीक्षा, प्रतिनिधि द्रव्य, रस गुण वीर्य विपाक और प्रभाव आदि का विवेचन, दीपनादि द्रव्यों के लक्षण और उनकी परिभाषा का इसमें वर्णन है। मिश्रप्रकरण का ही द्वितीय वर्ग हरीतक्यादि वर्ग है जिसमें ९१ द्रव्यों का वर्णन है। तृतीय कर्पूरादि वर्ग में ५६ द्रव्यों, चतुर्थ गुडूच्यादि वर्ग में १४४ द्रव्यों, पञ्चम पुष्पवर्ग में ४१ द्रव्यों, षष्ठ वटादि वर्ग में ४२ द्रव्यों, सप्तम आम्रादि फल वर्ग में ५८ द्रव्यों, अष्टम धात्वादि वर्ग में धातूपधातु, रत्नोपरत्न एवं विषोपविषादि ६९ द्रव्यों, नवम धान्यवर्ग में ३४ अन्न-द्रव्यों, दशम शाक वर्ग में ७७ शाकों, ग्यारहवें मांस-वर्ग में ४४ प्रकार के पशु-पक्षि आदि के मांसों, बारहवें कृतान्न वर्ग में विविध प्रकार के व्यञ्जनों, तेरहवें वारिवर्ग में अनेक स्रोतों के जलों, चौदहवें दुग्धवर्ग में गाय आदि के दुग्ध और उनके गुण, पंद्रहवें दधि वर्ग में दधि के विभिन्न प्रकारों के गुण धर्म का वर्णन है। इसी प्रकार सोलहवें तक्रवर्ग, सतरहवें

नवनीत वर्ग, अठारहवें घृतवर्ग, उन्नीसवें मूत्रवर्ग, बीसवें तैलवर्ग, इक्कीसवें सन्धानवर्ग, बाइसवें मधुवर्ग, तेइसवें इक्षुवर्ग में उन-उन वर्ग के विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के गुण धर्म का वर्णन है। चौबीसवाँ अनेकार्थ वर्ग है, जिसमें एकार्थवाची शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है।

सातवें परिभाषादि प्रकरण को ७ अन्य प्रकरणों में बाँटा है, ये हैं—मान परिभाषा प्रकरण, भेषज विधान प्रकरण, धात्वादि शोधन मारणविधि प्रकरण, स्नेहपानविधि प्रकरण, पञ्चकर्म विधि प्रकरण, धूमपान विधि प्रकरण और रोगी परीक्षा प्रकरण। मानपरिभाषा में मागध और कालिङ्ग दोनों मानों का वर्णन किया गया है और इस बात का निर्देश किया गया है कि कलियुग के लोगों को औषध की मात्रा कालिङ्ग मान के अनुसार ही प्रदान करनी चाहिये। भेषजविधान प्रकरण में पञ्चविधि कषायों के निर्माण की विधि, क्षीरपाक, अवलेह, गुटिका, घृत-तैल, आसवारिष्टादि के परिचय दिये गये हैं। धात्वादि शोधन मारण विधि में रसशास्त्र का संक्षिप्त वर्णन है। स्नेहपान विधि में पञ्च-कर्म कराने से पूर्व, दोष-काल-वय-अग्नि और बल के आधार पर स्नेह की मात्रा आदि का निर्धारण किया गया है। पञ्चकर्म विधि में वमन, विरेचन, अनुवासन, निरूह, नस्य आदि कर्म कराने की विधि का वर्णन है। धूमपानादिविधि में धूमपान, गण्डूष, कवल, प्रतिसारण, स्वेदविधि, अभ्यंग, लेप, सेक, रक्तमोक्षण तथा नेत्र चिकित्सा में प्रयुक्त आश्च्योतन, विडालक, तर्पण, अञ्जन आदि विधियों का वर्णन है। इसी में भेषज सेवन काल का भी निर्देश किया गया है। रोगिपरीक्षा प्रकरण में नेत्र-जिह्वा-मूत्रादि का दर्शन, नाड़ी शैत्यौष्ण्य आदि का स्पर्श, तथा पीड़ा-निद्रा रोगोत्पादक हेतु आदि का प्रश्न से ज्ञान करने की विधि बताई गई है। निदान-पूर्वरूप-रूप-सम्प्राप्ति आदि का विवेचन, दोष प्रकोप के कारण और प्रकुपित होने से उत्पन्न लक्षणों का वर्णन इसमें है।

मध्यम खण्ड में ज्वर से लेकर बालरोग तक ७१ रोगों के निदान लक्षण आदि का माधव निदान के क्रमानुसार वर्णन किया गया है। चिकित्सा वर्णन के लिए चक्रदत्त, बङ्गसेन तथा अन्य रस ग्रन्थों का आधार लिया गया है। उत्तर खण्ड में केवल दो अधिकार हैं—प्रथम वाजीकरण और दूसरा रसायन, इसके पश्चात् यह ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

भावप्रकाश की टीकायें—यद्यपि स्वयं आचार्य भावमिश्र ने ही इस ग्रन्थ की स्थान-स्थान पर टिप्पणी लिखकर स्वयं व्याख्या करने का प्रयत्न किया है किन्तु इसके पठन-पाठन का अत्यधिक प्रचार होने के कारण परवर्त्ती विद्वानों ने भी इस पर टीका-टिप्पणियाँ लिखी है। इसमें पं० ब्रह्मशंकर मिश्र की 'विद्योतनी' नामक भाषाटीका सम्पूर्ण ग्रन्थ पर है। उसी पर श्री हरिहर प्रसाद पाण्डेय

ए० एम० एस० ने प्राच्य-पाश्चात्योभयमतसमन्वयात्मिका विशद टिप्पणी लिखी है। इसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सिरीज से सन् १९४९ में हुआ है।

इसके मात्र निघण्टु भाग पर भी अनेक विद्वानों से टीका-टिप्पणी-विमर्श आदि लिखे हैं।

ललितार्थकरी टीका—इसके निर्माता श्री विश्वनाथ द्विवेदी हैं। वास्तव में यह बहुत ही उपादेय एवं अर्थ को ललित बनाने वाली है। इसमें आयुर्वेदीय तत्त्वों को नव्य विज्ञान के आधुनिक माध्यम के अनुरूप प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है, उदाहृण के लिए टीकाकार कृत रस-गुण-वीर्य-विपाकादि का विवेचन देखना चाहिये। नव्यविज्ञान के साथ ही साथ प्राचीन चिकित्सा पद्धति का अवलम्बन करके भी शास्त्रीय गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। इसकी उपादेयता का एक सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अब तक इसके कई संस्करण छप चुके। टीकाकार के जन्मकाल और कार्यों पर विस्तृत प्रकाश अलग से आगे चलकर डाला जायेगा।

विमर्श या बृहद्विमर्श—इसके कर्ता पं० अम्बिकादत्त शास्त्री हैं। जैसा कि परिचय से ही स्पष्ट है इसमें भावप्रकाशोक्त द्रव्यों को आधार मानकर उनके विषय में प्रचीनार्वाचीन आचार्यों चरक, सुश्रुत, वाग्भट के साथ ही साथ राज-निघण्टु, धन्वन्तरि निघण्टु, मदनपाल, कैयदेव, शोढल आदि आचार्यों के वर्णन का भी संग्रह कर दिया गया है। साथ ही साथ द्रव्यों के पर्यायों से ही उनके परिचय, गुण, उत्पत्ति आदि को भी प्रकाशित किया गया है। इसी प्रकार विविध आचार्यों के मत को आधार बनाकर आमयिक प्रयोगों का वर्णन किया गया है, जिससे चिकित्सा में भी काफी सौकर्य हो गया है। जिस प्रकार ललितार्थकरी टीका, आयुर्वेद को नव्य दृष्टिकोण से समझाने में सहायक है, वैसे ही प्राचीन ज्ञान भण्डार को यह सुनिबद्ध रूप में प्रकाशित कर रहा है। शास्त्री जी भी कलम के बड़े ही धनी हैं अतएव इनके सम्बन्ध में भी अलग से विस्तृत प्रकाश डाला जायगा।

१. आयुर्वेदीय औषधिकोष (शालिग्रामौषध शब्दसागर)—

२. शालिग्राम निघण्टुभूषण (बृहन्निघण्टुरत्नाकरान्तर्गत ७-८ वाँ भाग)

इन दोनों ही पुस्तकों की रचना लाला शालिग्राम वैश्य ने की। यद्यपि लालाजी ने द्वितीय पुस्तक की भूमिका में स्वयं ही स्पष्टीकरण किया है कि "मैंने उसी समय ऊपर लिखे हुए ग्रन्थों की सहायता से और अपनी बुद्धि से शालिग्रामौषध शब्दसागर नाम का अकारादिक्रम से एक नवीन कोष रचा"...

जब यह पूर्ण हो गया तो फिर चित्त में विचार किया कि कोष का प्रचार तो हो गया परन्तु संसार के उपकार के लिए एक निघण्टु (का) और निर्माण करना चाहिए" इत्यादि। इससे यह स्पष्ट होता है कि पहले कोष की रचना हुई और पश्चात् निघण्टु की, किन्तु पुस्तकों के प्रकाशन वर्ष देखने से इसमें विपर्यय का अनुभव होता है। कोष पर सन् १९२५ ई० (सं० १९८२ वि०) छपा हुआ है और निघण्टु के प्रथमावृत्ति की भूमिका में आषाढ़ पूर्णिमा, गुरुवार सं० १९५३ वि० छपा हुआ है।

द्वितीय पुस्तक (शालिग्राम निघण्टु भूषण) पं० दत्तराम चौबे द्वारा प्रारम्भ किये गये बृहन्निघण्टुरत्नाकर की परम्परा में सातवाँ और आठवाँ भाग है। इसमें प्राचीन निघण्टुओं यथा निघण्टुरत्नाकर, राजनिघण्टु, मदनविनोद एवं मदनपाल निघण्टु, राजवल्लभ, गणनिघण्टु, सोढल निघण्टु, चन्द्रिका निघण्टु, भावप्रकाश, वैद्यक निघण्टु, धन्वन्तरि निघण्टु, कैयदेव निघण्टु, निघण्टुसंग्रह, निघण्टु चूड़ामणि, अर्कप्रकाश, विकारतिमिरभास्कर आदि के अतिरिक्त आत्रेयसंहिता, चरकसहिता, सुश्रुत संहिता और उनकी डल्लन आदि के टीकोद्धृत वचनों के साथ ही साथ रसचन्द्रिका, रसेन्द्रसार संग्रह आदि के वचनों का भी संग्रह किया गया है। साथ ही अभिनव द्रव्यों यथा अकरकरा, शोरा, गिलोय का सत्त्व, सनाय, कालादाना, चाय, सालममिश्री, कलमी आम, नासपाती, अनन्नास, पिस्ता, बादाम, छुहारा, आलू बुखारा, माजू, ब्रह्मदण्डी, रेबन्दचीनी, तम्बाकू, ईसबगोल, भिण्डी, फूट, खरबूजा, शकरकन्द, अरवी, सलगम, बेला, चमेली, मोतिया, हर्सिगार, गुलाब, मेहदी, समुद्रशोष, पोदीना, नीबू, मक्का, बाजरा, कालीजीरी आदि पर भी अनुसन्धान करके प्रकाश डाला गया है। इनके समस्त भारतीय भाषाओं तथा आंग्लभाषा के नाम देने की भी पहली बार कोशिश की गयी है। औषध के मात्रा, अनुपान, शोधन, सेवनविधि, व्यवहार और उत्पत्ति आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। पच्चीस वर्गों में यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ है।

इसी प्रसङ्ग में बङ्गसेन की भूमिका से उनके प्रिय शिष्य श्री शंकर लालजी और पुत्रवत् पालित दौहित्र श्री हरिशंकरजी द्वारा लिखित लालाजी का जीवन चरित भी दिया जाना उचित समझकर उद्धृत किया जाता है।

"लाला शालिग्राम जी का जन्म संवत् १८८८ वि० में आश्विन शुक्ल तृतीया को मुरादाबाद के सुप्रसिद्ध सेठ लाला आनन्द स्वरूप के घर हुआ। यद्यपि विद्याध्ययन आप को देर से प्रारम्भ कराया गया किन्तु अचिरकाल में ही सुयोग्य विद्वान बन गये। बड़े होकर आपने अनेक ग्रन्थों की रचना या अनुवाद किया जिनमें आयुर्वेदीय औषधि कोष, राजवल्लभ निघण्टु, शालिग्राम

निघण्टुभूषण, रसरत्नाकर, भावप्रकाश, धन्वन्तरि, अर्कप्रकाश, द्रव्यगुण, बोपदेव शतक आदि प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ अपूर्ण हैं जिनको उक्त महानुभावद्वय पूर्णकर प्रकाशित कराने के लिए प्रयत्नशील हैं। संवत् १९५४ वि० में इन्होंने मुरादाबाद में 'आयुर्वेदोद्धारक' औषधालय की स्थापना की जिसमें रोगियों की अमूल्य चिकित्सा करके दुःखी और दीनों को उपकृत करते थे।

वङ्गसेन का अनुवाद करते समय लालाजी अस्वस्थ हो गये तो उन्होंने अपने शिष्य से कह दिया कि मुझे अब जराजनित शोष हो गया है अतएव मेरे शरीर का विश्वास मत करना। वङ्गसेन का अनुवाद पूर्ण कर देना और अन्यान्य भैषज्यभास्कर प्रभृति अपूर्ण ग्रन्थों की पूर्ति कर देना।"

इस प्रकार लालाजी ने अपने अथक परिश्रम से न केवल आयुर्वेदीय साहित्य को सर्वसुलभ बनाया अपितु उनका हिन्दी में अनुवाद करते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य को भी उपबृंहित किया और जनता को स्वास्थ्य लाभ कराते हुए अपनी अक्षय कीर्ति का विस्तार कर स्वर्गवासी हुए।

इनकी पुस्तकों का प्रकाशन खेमराज श्रीकृष्णदास जी ने किया है। इन महानुभाव के सम्बन्ध में भी आगे प्रकाश डाला जायेगा।

अभिनव बूटीदर्पण—इस ग्रन्थ में भेदोपभेदों सहित २१० वनस्पतियों का गवेषणापूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक औषधि का विशद वर्णन, विविध देशी एवं विदेशी भाषाओं में प्रचलित उसके नाम, आयुर्वेदीय एवं यूनानी ग्रन्थों में उसके उल्लिखित गुण धर्म तथा विविध आमयिक प्रयोगों का सविस्तार वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ केवल तुलसी के ८१ प्रयोगों का वर्णन है। इसी प्रकार सभी दृष्टियों से यह वर्णन वास्तव में अभिनव है और सबसे विचित्र बात यह यह है कि इस ग्रन्थ के निर्माता का धन्धा स्वयं वैद्य का न था। उन्होंने केवल एक प्रकार के सहजलगाववश इस अध्ययन को शुरू किया। अतएव ऐसे मनीषी का संक्षिप्त परिचय इस प्रसंग में देना उचित ही नहीं अपितु आवश्यक है।

श्री रूपलालजी स्वर्णकार वैश्य थे। आपका जन्म सं० १९२८ वि० में श्री चन्दूलालजी के यहाँ ग्राम-हराजी, पोस्ट-मानूपुर, जिला सारन (छपरा) में हुआ। आपको बचपन से ही जड़ी-बूटियों के विषय में जानने का शौक था। सन् १८९३ ई० में आपने मैट्रिक परीक्षा पास की और इसके एक वर्ष बाद बी० एन० डब्ल्यू० आर० (रेलवे) के सोनपुर लोको आफिस में क्लर्क के पद पर नियुक्त हुए। सन् १९१३ में आपका स्थानान्तर बनारस के लिए हो गया जहाँ से मार्च सन् १९२७ में आप सेवा निवृत्त हुए।

नौकरी करते समय भी आप प्रतिदिन १२ घंटे तक (प्रातः ४ से ९ बजे

तक और सायं ४ या ५ से रात्रि के ११ बजे तक) आयुर्वेद सम्बन्धी अध्ययन, लेखन, प्रकाशन आदि का काम करते रहे। 'देशोपकारक' नामक मासिक पत्र का ग्राहक बनकर औषधानुसन्धान में तत्पर हुए और लाहौर से निकलने वाले 'बूटी दर्पण' नामक मासिक पत्र तथा 'बूटी चित्राङ्क' नामक धन्वन्तरि के विशेषाङ्क का सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त आपके 'रूपनिघण्टुकोश' का नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशन हुआ जिसे प्रतिदिन १२ घंटे के श्रम से आपने २७ वर्षों में पूरा किया था। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक लेख, निबन्ध, ग्रन्थ आदि आपके प्रकाशित तथा अप्रकाशित रूप में विद्यमान हैं।

इतना अथक परिश्रम करने के कारण आपका स्वास्थ्य गिरता गया। दीर्घकाल से आप श्वासरोग से पीड़ित रहते हुए भी इस लेखन को न छोड़ सके। अन्त में ३ जनवरी १९४० को बुधवार दिन के १० बजे आपका यह नश्वर शरीर पञ्चतत्त्व में मिल गया। अपने पीछे स्त्री, ४ पुत्र और २ पुत्रियों का भरापूरा सुखी परिवार छोड़कर आपकी आत्मा ने शाश्वत मुक्ति ग्रहण की।[1]

कैयदेव निघण्टु—इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'पथ्यापथ्यविबोधक' है किन्तु प्रचार कैयदेव निघण्टु के नाम से ही अधिक हुआ है। ये भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इसके पिता का श्री शार्ङ्ग और पितामह का नाम श्रीपद्मनाभ था। ये दोनों ही व्यक्ति अद्भुत विद्वान थे। इस ग्रन्थ पर दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज लाहौर के प्रिंसिपल श्री सुरेन्द्रमोहन जी आयुर्वेदाचार्य की अत्युत्तम टीका भी उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में कुल नौ वर्ग हैं जिनके नाम क्रमशः औषधि, धातु, धान्य, द्रव्य, पक्वान्न, मांस, विहार, मिश्रक और नानार्थ वर्ग हैं। इस ग्रन्थ का मूल 'नाम रत्नाकर' है जिसके आधार पर इसपथ्यापथ्यविबोधक की रचना की गई है।[2]

---

(१) **नोट**—ग्रन्थकार का जीवनचरित्र पं० ब्रह्मशंजर जी मिश्र की सन् १९४० में प्रकाशित 'अभिनव बूटी दर्पण' की भूमिका के आधार पर उपस्थित किया गया है।

२. भारद्वाजपवित्रगोत्रतिलकः श्री पद्मनाभोऽभवद्
वेदव्याकृतिनाटकागमकथालङ्कारपारंगतः ॥१॥
तत् पुत्रो गुणभूषितः समभवत् श्री शार्ङ्गनामाभिषक्
येन प्राणिगदोऽगदैरपहृतोऽसौ सर्वविद्यालयः ॥२॥
तत् पुत्रः कैयदेवोऽस्ति वैद्यविद्याविशारदः।
नामरत्नाकरो येन कृतोऽन्यो नामसागरः ॥३॥
नाम रत्नाकरोक्तानां द्रव्याणां च रसादिषु।
ग्रन्थोऽयं क्रियते तेन पथ्यापथ्यविबोधकः ॥४॥
इहौषधी-धातु-धान्य-द्रव-पक्वान्न-मांसगः ।
सविहारो मिश्रकश्च नानार्थो नवमः स्मृतः ॥५॥

प्रथम ओषधि वर्ग में गुडूची से लेकर घृतकुमारी तक लगभग ४९४ द्रव्यों का वर्णन है। प्रत्येब औषध के पर्याय और उसके गुण धर्मों का उल्लेख है। आवश्यकतानुसार उनके विविध अवयवों के भी गुणों का वर्णन किया गया है। टीकाकार ने उनके स्वरूप का वर्णन तथा देशी और विदेशी भाषाओं में प्रचलित नामों का भी संग्रह किया है तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से भी द्रव्यों की उपयोगिता का उल्लेख किया है।

अभिनव निघण्टु—इसकी रचना और प्रकाशन मथुरा निवासी पं० दत्तराम चौबे ने संवत् १९५६ वि० में किया। यह भी नाना ग्रन्थों से संगृहीत करके लिखा गया है ऐसी स्वयं लेखक की प्रतिज्ञा से ही ज्ञात होता है। निघण्टु जानने की आवश्यकता और उसके उपाय, देश के भेद और लक्षण, क्षेत्रभेद, क्षेत्र-देवता, पञ्चविध क्षेत्रों में प्रगट होने वाले द्रव्यों के गुण, द्रव्यों के भेद, औषधि द्रव्यों के स्त्री-पुंनपुंसकादि लक्षण, क्षुत् पिपासा निद्रा आदि के लक्षण, इनका पाञ्चभौतिकत्व, औषधि ग्रहण का मुहूर्त और उनके सुरक्षित रखने की विधि, किस औषध का कौन सा अङ्ग ग्रहण करना चाहिये तथा उनके उत्तम होने का लक्षण, स्वभाव से हितकर और अहितकर द्रव्यों का वर्णन, किसी नाम विशेष से उल्लिखित होने पर किस औषध का ग्रहण करे, औषधियों के अभाव में प्रतिनिधि द्रव्य का ग्रहण, रसों की उत्पत्ति और उनके गुण-दोष, गुण-वीर्य-विपाक प्रभाव आदि का प्रथम मिश्रवर्ग में विवेचन किया गया है।

दूसरा हरीतक्यादि वर्ग है। इसमें का सभी वर्णन प्रायः भावप्रकाश निघण्टु से मिलता-जुलता है। कहीं-कहीं कुछ अतिरिक्त वर्णन भी कर दिया गया है, जैसे शिवा बीज एवं शुष्कधामि फल के गुण (भावप्रकाश में इसे फल वर्ग में सं० ३५१ लिया गया है) सिंहली पिप्पली और वन पिप्पली, सुधामूली (सालम मिश्री), तवाखीर, वृष्यवल्ली (सालसा), नेपालनिंब, रेवन्द चीनी, गृञ्जन आदि कन्द। इनके अतिरिक्त हरीतकी से लेकर चुक्र पर्यन्त भावप्रकाश निघण्टु के ८९ द्रव्यों का वर्णन आमूल ले लिया गया है। कर्पूरादि वर्ग (तृतीय) में कर्पूर के भेद और उसकी परीक्षा, कस्तूरी के भेद और उसकी परीक्षा, चन्दन के विविध भेद और उत्तम चन्दन की परीक्षा, अगर के भेद, देवदारू के भेद, गुग्गुलु के भेद और गुग्गुलु परीक्षा, केशर के भेद और उसकी परीक्षा, कर्चूर के भेद और गुण का अधिक वर्णन करते हुए अवशिष्ट ५७ द्रव्यों का वर्णन समान है। यहाँ पर ग्रन्थकार ने इसे 'भावप्रकाश निघण्टुराज' संज्ञा दी है।

गुडूच्यादि वर्ग (चतुर्थ) में गुडूची के कुछ अधिक गुण, गुडूचीसत्त्व और कंद गिलोय, ताम्बूल के विविध भेद, छोटी अरनी, द्वितीय स्योनाक, छोटा गोखरू,

जीवन्ती के विविधि (४) भेद, एरण्ड के विविध भेद, अर्क भेद (राजार्क), तिधारा थूहर, कंथारी, पीली और काली कनेर, धुत्तर विष पर कार्पास बीज का प्रभाव वर्णन, धत्तूर का अधिक भेद वर्णन, पर्पट के विशिष्ट योग, मीठी नीम, कर्तरी-निर्गुण्डी और अरण्य निर्गुण्डी, करंज के भेद, काली कपास और वनकपास, बांस का भेद—रधुवंश, नल के भेद, जलकास-दर्भ, तृण के बहुत से विशिष्ट भेद, मुसली के भेद, जयपाल के विषय में हकीमों का मत, कृष्ण बीज, यवास शर्करा (शीरा खिस्त), सनाय, महानीली, श्वेतशरपुंखा, कठपुंखा, छोटा धमासा, अग्निदमनी, नीलीपुनर्नवा, वसु, सर्पिणी, वृश्चिका, पीतभृङ्गराज, शणपुष्पी के भेद, काकादनी, विपरीत लज्जालू (रसनियामिका) आदि का अधिक वर्णन है। आकार करभ, वृद्धदारक, महाजालिनी और अलम्बुषा आदि का वर्णन नहीं है। शेष १४३ द्रव्यों का वर्णन भावप्रकाश के समान ही है।

पुष्पवर्ग (पञ्चम) में कोकनद (लाल) और उत्पल (नीलकमल) के अतिरिक्त शेष ३८ पुष्पों का वर्णन एक-सा है। वृक्षादिवर्ग (षष्ठ) में बयालीसों वृक्षों का वर्णन भावप्रकाशसम ही है। आम्रादिवर्ग (सप्तम) में अमृतफल (नासपाती) और नीबू के विशिष्ट गुणों का वर्णन अधिक है किन्तु शालफल और पालेवत का वर्णन ही नहीं है। शेष आम्रादि ५९ फलों का वर्णन एक सा है। धात्वादि (अष्टम) वर्ग में हिंगुल, कपर्द एवं शंख का वर्णन नहीं है। रत्नोपरत्नों और विषोपविषों का भी इसी अध्याय (वर्ग) में ही वर्णन किया गया है किन्तु इनके नाममात्र का ही सङ्कलन किया गया है, भावप्रकाश के समान अलग-अलग वर्णन नहीं किया गया है। धान्यवर्ग (९), शाकवर्ग (१०) प्रायः समान है। मांसवर्ग (११) कृतान्नवर्ग (१२), वारिवर्ग (१३), दुग्धवर्ग (१४), दधिवर्ग (१५), तक्रवर्ग (१६), नवनीतवर्ग (१७), घृतवर्ग (१८), मूत्रवर्ग (१९), तैलवर्ग (२०), सन्धानवर्ग (२१), मधुवर्ग (२२), इक्षुवर्ग (२३) और अनेकार्थ वर्ग (२४)-ये सभी भावप्रकाश के समान हैं।

परिशिष्ट भाग में यूनानी चिकित्सा साहित्य को आयुर्वेदज्ञों के लिये सुलभ बनाया गया है। तथा हकीमों द्वारा प्रयुक्त प्रमुख द्रव्यों को आयुर्वेदीय दृष्टिकोणों से विवेचित किया गया है। इस पुस्तक के अतिरिक्त लगभग ५० और पुस्तकों का श्री चौबेजी[1] ने प्रकाशन कराया है। वास्तव में देखा जाय तो आयुर्वेद के विकाश के लिये इन्होंने महान् योगदान किया है।

द्रव्यगुणशतक (शतश्लोकी)—इस पुस्तक के निर्माणकर्ता भिषक् शिरोमणि त्रिमल्ल भट्ट हैं। इसमें कुल १०० (एक सौ) श्लोक हैं। इतने में ही आचार्य ने रसों के भेद और उनकी दोष शामकता, जलवर्ग, दुग्धवर्ग, अन्नवर्ग,

---

१. पं० दत्तराम चौबे, मानिक चौक, मथुरा

मांसवर्ग, शाकवर्ग, इक्षुवर्ग, मधुवग, तैलवर्ग, फलवर्ग, शुण्ठ्यादि वर्ग, सिद्धान्न वर्ग, मद्यवर्ग, अभ्यंगादि वर्ग, ताम्बूलादिवर्ग और धातु वर्ग में निघण्टु शास्त्र से सम्बद्ध प्रमुख विषयों का वर्णन कर दिया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे नाम के सिवा अपना कोई अन्य परिचय नहीं दिया है। इस पर मुरादावाद निवासी आयुर्वेदोद्धारक कविकुलकुमुदकलानिधि कविवर शालिग्राम वैश्य कृत पुष्पावली भाषा टीका भी मिलती है। सटीक ग्रन्थ का प्रकाशन खेमराज श्रीकृष्णदास जी ने श्री वेङ्कटेश्वर छापाखाने में संवत् १९५३ वि० (१८१८ शक)में कराया है।

प्रोफेसर एच० डी० बेलनकर के मतानुसार आचार्य त्रिमल्ल[1] भट्ट का काल सन् १३८३ और १४९९ ई० के मध्य में है। इनके पिता का नाम वल्लभ और पितामह का सिंहनभट्ट था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पुत्र शंकरभट्ट ने रसप्रदीप नामक ग्रन्थ बनाया है। पथ्यापथ्य निघण्टु, वृत्तमाणिक्यालोक और अलङ्कार मञ्जरी की भी इन्होंने रचना की है। योगतरङ्गिणी का प्रकाशन वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई और आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना से हुआ है।

टीकाकार श्री वैश्य को आचार्य त्रिमल्लभट्ट[1] विरचित योगतरङ्गिणी देखने को मिली थी। इन्होंने रसदर्पण, वैद्यचन्द्रोदय, योगचन्द्रिका आदि ग्रन्थ भी त्रिमल्ल भट्ट विरचित हैं, ऐसा निर्देश किया है। यदि उनको देखने का अवसर मिला तो ग्रन्थकार के जीवन पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

निघण्टु संग्रह[2] — इसके संग्रहकर्ता जूनागढ़ निवासी श्री रघुनाथ जी

---

१. श्री कण्ठं गिरिजा-गणेशसहितं नत्वा शरण्यं सतां,
नानाद्रव्यगुणागुणान्कथयतो ग्रन्थान्विचार्यासकृत्।
पथ्यापथ्यविदे गुणागुण युतं यद् यत्तु तोयादिकं,
तत् संक्षेपतया ब्रवीमि हि शतश्लोक्या त्रिमल्लः कविः ॥१॥

२. आसीद् दैवज्ञ चूडामणिरमृतरसस्यादि सूक्तिप्रणेता,
मीमांसापूर्वभागे निपुणतरमतिः श्री मुरारिर्द्विजाग्र्यः।
श्रीमत् सौदामपुर्यां विरचितवसतिस्तस्य पुत्रास्त्रयोऽ-
स्मिन् लोके ख्यातावभूवुर्हरिचरणरताः शास्त्रनैपुण्यभाजः॥
इन्द्रजिद् गणकश्रेष्ठो ज्येष्ठस्तस्याभवत् सुतः।
यो जीर्णदुर्गे न्यवसन्नागरैः सतताहृतः ॥२॥

× × ×

मध्यमस्तस्यतनुजो रघुनाथाभिधः सुधीः।
निघण्टु संग्रहो येन रचितो विदुषां मुदे ॥५॥

इन्द्र जी हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन चैत्र, शुक्ल, प्रतिपदा, रविवार सं० १९४९ वि० तदनुसार ता० १० मार्च १८९३ ई० के दिन सम्पन्न हुआ। पुस्तक के अन्त में ग्रन्थकर्ता के वंश का परिचय मिलता है उससे प्रतीत होता है कि इनके पितामह श्री मुरारि जी सुदामापुरो के रहने वाले थे। ज्योतिष, पूर्व मीसांसा आदि के अच्छे विद्वान् थे। इनके ज्येष्ठ पुत्र श्री इन्द्र जी हुए। ये भी अच्छे ज्योतिषी हुए और इनका निवास स्थान जूनागढ़ था। इनके मध्यम पुत्र श्री रघुनाथ[1] जी इस संग्रह को संग्रहीत करने वाले हुए।

इस ग्रन्थ में ६०५ से अधिक द्रव्यों का वर्णन है। उनके प्राच्य-पाश्चात्य नामों के सन्निवेश के साथ ही साथ उनके स्वरूप का भी वर्णन दिया गया है। इसके अतिरिक्त विविध वर्गों को भी अन्त में संगृहीत कर दिया गया है। पुस्तक के अनुबन्धन में धन्वन्तरि निघण्टु का अनुकरण किया गया है। साथ ही अब तक प्रचलित समस्त पुस्तकों से सार लेकर इसको सर्वाङ्ग परिपूर्ण उपयोगी बनाया गया है।

वैद्यावतंस—द्रव्यगुण विषयक यह ग्रन्थ एक घटीभर[2] में १०० श्लोकों की रचना करने वाले सुप्रसिद्ध वैद्य लोलिम्बराज के द्वारा ५८ श्लोकों में उपनिबद्ध किया गया है। इसका प्रकाशन सं० १९५३ वि० में गंगाविष्णु श्री कृष्णदास "लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" प्रेस बम्बई से हुआ है। इस पर पश्चिमोत्तर भारत में स्थित सम्भल ग्राम निवासी वैद्यवर पं० हरिप्रसाद जी के पुत्र श्री वनमाली शंकर मिश्र की भाषा टीका मिलती है।

पुस्तक की रचना प्रायः वाग्भट[3] के आधार पर की गई है किन्तु कहीं-कहीं

---

१. वैद्यावतंसस्य• वचोभिरस्मिन् कृतेनिघण्टौ निखिलार्थं लुण्ठौ।
दौर्जन्य दुष्टैरिवसाध्वनिष्टैर्बुद्धिर्विधेया न कुदृष्टिरिष्टैः ॥६॥
शाके शरक्षिति-वसूडुप-संमितेऽब्दे चैत्रे तिथौ प्रतिपदि प्रथमे दले च।
वारे रवौ समगमत् परिपूर्णतां वै ग्रन्थो निघण्टुवर-संग्रह नामधेयः ॥७॥

२. रत्नं वामदृशां दृशां सुखकरं श्रीसप्तश्रृङ्गास्पदं स्पष्टाष्टादशबाहु तद्भगवतो भर्गस्य भाग्यं भजे। यद् भक्तेन मया घटस्तनि ! घटीमध्ये समुत्पाद्यते पद्यानां शतमङ्गनाधरसुधा स्पर्धाविधानोद्धुरम् ॥ १।२ वैद्य जीवने

३. वाग्भटस्यमतमस्तिसमस्तं सुश्रुतस्य चरकस्य चकिञ्चित्।
तद्वदत्रितनस्य विचित्रा वाग्विलासरचना मम तावत् ॥५६॥
यत् प्रसिद्धमिह वर्तने फलं शाकमन्यदपि तन्निरूप्यते।
अप्रसिद्धकथनं हि निष्फलं ग्रंथविस्तरभयान्न लिख्यते ॥३॥
समस्तपृथ्वीपतिपूजनीयो दिगङ्गनाश्लिष्टयशः शरीरः।
गुणप्रियं ग्रन्थममुं व्यतानील्लोलिंबराजः कविपादशाहः ॥५८॥ (वैद्यावतंसे)

आत्रेय संहिता, चरक तथा सुश्रुत के मतों का भी पोषण किया गया है। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध द्रव्यों के ही गुण धर्मों का उल्लेख मिलता है, अप्रसिद्ध का नहीं। फलों में द्राक्षा, आम, दाड़िम, नीबू, आमलक, कदली, नारिकेल आदि; शाकों में परवल, वैगन, करेला, पेठा, बथुआ, चना, जीवन्ती प्रभृति; धान्यों में चावल, दाल, गेहूँ, तिल वगैरह; मांस, दुग्ध, दधि, घृत, तक्र; नवनीत आदि के गुणों का उल्लेख है।

सिद्धमन्त्र[१]—यह भी द्रव्यगुण विषयक ग्रन्थ हैं, जिसके रचयिता वैद्यवर श्री केशव है। ये व्याकरण-आयुर्वेदादि अनेक शास्त्रों में विद्वान श्री बोपदेव के पिता थे। श्री बोपदेव ने इस पर एक व्याख्या संस्कृत में लिखी है जिसका नाम 'सिद्धमन्त्र प्रकाश' है। श्री केशव विदर्भ (वह्राड) में वरदा (वर्धा) नदी के किनारे स्थित 'वेदपद' ग्राम के निवासी थे। ये ब्राह्मण जाति के थे और दण्डक महाराज श्री सिंहराज के यहाँ इनकी काफी प्रतिष्ठा थी। इनके पुत्र बोपदेव देवगिरी (आधुनिक दौलताबाद) के शासक यादव वंशीय महाराज श्री महादेव चक्रवर्त्ती के धर्माधिकारि मन्त्रो श्री हेमाद्रि के सभापण्डित थे। इतिहासकारों का मत है कि बोपदेव का जन्म ११८२ शक संवत्सर में हुआ था। डा० आफ्रे के मतानुसार श्री बोपदेव ने कवि कल्पद्रुम नामक धातुपाठ और उसकी कवि कामधेनु नामक व्याख्या, त्रिशत् श्लोकी (अशौच निर्णय), धातु कोश, परमहंसप्रिया, परशुराम प्रताप टीका (श्राद्ध कांड), मुक्ताफल, मुग्ध-बोध व्याकरण, रामव्याकरण, शार्ङ्गधरसंहिता की गूढार्थ दीपिका टीका, सिद्धमन्त्र प्रकाश (सिद्धमन्त्र की टीका), हरिलीला, हृदयदीप निघण्टु और पदार्थादर्श इन अन्य १४ ग्रन्थों की भी रचना की है।

इस ग्रंथ में वातघ्न, पित्तघ्न और कफघ्न द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दोषों के प्रकुपित करने वाले द्रव्यों का भी निर्देश कर दिया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ १६९ श्लोकों में समाप्त हो गया है। इसका श्री यादव जी ने संशोधन किया और श्री ज्येष्ठराम मुकुन्दजी शर्मा ने सन् १९०९ में प्रकाशन कराया।

वातघ्नत्वादि निर्णय[२]—इसके प्रणेता श्री नारायण भिषक हैं। आचार्य

---

१. न सिद्धःसिद्धमन्त्रेण यस्य द्रव्यस्य निर्णयः।
तस्य नान्यत्र कुत्रापीत्यत्र चित्रमधीयताम् ॥१६८॥
लेभे जन्ममहादेवादायुर्वेदं च भास्करात्।
सन्मानं सिंहराजाच्चकेशवः कारकोऽस्यसः ॥१६९॥

२. भिषजां परितोषाय वातघ्नत्वादिनिर्णयः।
नारायणेन रचितो नागेशस्य प्रसादतः ॥५३॥

श्री यादव जी को इस पुस्तक की पांडुलिपि स्वामी श्री लक्ष्मी राम जी से मिली थी। उन्होंने इसे सिद्धमन्त्र के साथ ही प्रकाशित कराया है। सम्पूर्ण पुस्तक मात्र ५३ श्लोकों में समाप्त हुई है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि दोषों के संसर्ग से ५७ भेद करके उन परिस्थितियों के शामक द्रव्यों का वर्णन किया गया है।

द्रव्यगुण विज्ञानम्—आचार्य यादव जी ने इस पुस्तक का संग्रह किया। चरक सुश्रुत आदि आचार्यों और उनके टीकाकारों के वचनों का संग्रह करके उसकी हिन्दी व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दो भागों (३ पुस्तकों) में समाप्त हुआ है। पूर्वार्ध में द्रव्य, गुण, रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव का विवेचन किया गया है। आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से ही नवीन द्रव्यों का भी विवेचन किया गया है। इस का द्वितीय परिशिष्ट जिसमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक महाविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष स्व० डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक द्वारा आयुर्वेदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुण विज्ञान पर तुलनात्मक विचार प्रस्तुत किया गया है, बहुत ही मौलिक और उपादेय है।

उत्तरार्ध के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में परिभाषा और भैषज्य कल्पना से संबंधित विषयों का विवेचन किया गया है। द्वितीय खण्ड में औषधियों के विविध रूप में वर्गीकरण, फल-मूल आदि विविध अवयवों की रचना और तदनुसार उनमें गुण धर्मोत्पत्ति, प्रयोज्य अंगों पर विचार प्रस्तुत करने के उपरान्त आयुर्वेदीय द्रव्यों का नव्यविज्ञानीय दृष्टिकोण से वर्णन किया गया है। प्रत्येक द्रव्य का परिचय, उसका गुण, शोधन करने की रीति और प्राचीन तथा नवीन आचार्यों के मतानुसार उसके गुण धर्म तथा प्रयोग का विवेचन किया गया है। इस तरह से लगभग १०० आधुनिक वर्गों में वर्गीकृत ३५० आयुर्वेदीय और कतिपय नव्य चिकित्सा विज्ञानीय वनौषधियों का इसमें संग्रह है। इनके अतिरिक्त ४० के लगभग जान्तव द्रव्यों का भी इसमें समावेश किया गया है। इस ग्रन्थ रत्न ने नवीन लेखकों को एक दिशा प्रदान की जिसके आधार पर आगे चलकर अनेक पुस्तकें बनीं।

द्रव्यगुण विज्ञान—इस पुस्तक के लेखक श्री प्रियव्रत शर्मा हैं। ग्रन्थ तीन भागों (दो पुस्तकों) में पूर्ण हुआ है जिसका प्रकाशन चौखम्बा विद्याभवन से सन् १९५५-५६ में किया गया। आधुनिक दृष्टिकोण से प्राचीन द्रव्यगुण के विषयों का विवेचन करने का किया गया प्रयास सराहनीय है। लेखक ने प्रचीनता का पूर्णरूपेण पालन करते हुए इस बात को सिद्ध कर दिया है कि ज्ञान ही सत्य है और उसे देश या काल से मर्यादित नहीं किया जा सकता।

प्रथम भाग में द्रव्य-गुण-कर्म और कल्प इस तरह चार खण्ड हैं। द्रव्यों के गुण-कर्मानुसार वर्गीकरण को आधुनिकों की रचना, जाति, उपजाति आदि के वर्गीकरण की शैली तथा विविध संस्थानों पर कार्य करने की शक्ति के अनुसार भी प्रतिपादन किया गया है। रसशास्त्रोपयोगी विषयों का भी इसमे सङ्कलन किया गया है।

द्वितीय भाग में चरकोक्त त्रिविध वर्गीकृत औद्भिद, जांगम और पार्थिव द्रव्यों में से प्रत्येक के शारीर अवयवों के प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए उनके नाम, गुण, कुल, स्वरूप, उत्पत्तिस्थान, संघटन और सांस्थानिक कर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें आधुनिक चिकित्साशास्त्र के द्रव्यों को भी समाविष्ट किया गया है। सम्पूर्ण रूप से लगभग ५ सौ द्रव्यों पर इस प्रकार का विवेचन मिलता है।

ओषधी संग्रह—डा० वामन गणेश देसाई द्वारा, मराठी भाषा में लिखित इस ग्रन्थ का प्रकाशन वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य द्वारा किया गया। इसमें ९६८ औषधों पर प्राच्य-पाश्चात्य दृष्टिकोण से आदर्श वर्णन उपास्थित किया गया है। इनके विविध उपयोगों का वर्णन दिया गया है वह तो अभुद्त है और कहीं-कहीं तो किसी भी ग्रन्थ में न मिलने वाला तथापि प्रत्यक्ष सिद्ध प्रतीत होता है। इस पुस्तक का यदि हिन्दी भाषा में अनुवाद हो तो बहुत ही सुन्दर कार्य सम्पन्न हो जाता।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय औषधिशास्त्र की खोज—इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास श्री ह्वाइटला एन्सली (Whitelaw Ainslie M. D. M. R. A. S.) का है। ये दक्षिण भारत में चिकित्सासेवा के सदस्य थे। इस पुस्तक का नाम हैं, हिन्दुओं का ओषधि शास्त्र (Materia Indica of the Hindoos), इसका प्रकाशन सन् १८२६ में हुआ। इससे पहले भी इसी लेखक ने एक अन्य ग्रन्थ का प्रकाशन किया था। किन्तु वर्तमान पुस्तक में उन्होंने पौरस्त्य और पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र के सम्बन्धों को ढूँढ़ने का श्रम किया। लेखक ने इस बात को स्वीकार किया है कि यहाँ पर एक-एक द्रव्य के संस्कृतभाषा में अनेक नाम[1] मिलते हैं और मुझे उनमें से किसी एक को चुनने

१. डा० एन्स्ली का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि आयुर्वेद के निघण्टुओं में एक द्रव्य के अनेक पर्यायवाची नाम दिये गये हैं, किन्तु वे एकार्थवाची होते हुए भी सप्रयोजन बताये गये हैं। उनमें कुछ संज्ञायें ऐसी हैं जो द्रव्य विशेष का परिचय बताती हैं; जैसे चव्य की कपिवल्ली या कोलवल्ली संज्ञा इस बात को द्योतित करती है कि इस द्रव्य विशेष की लता होती है। जिसके फल को गजपिप्पली कहा जाता है। इसको 'वशिर' भी कहा गया है अर्थात् जब फल पक जाते हैं तो उनमें महीन छिद्र बन जाते

में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। इन्होंने इस बात को भी स्वीकार किया है कि कुछ ऐसी औषधियाँ जिनकी प्राप्ति के लिए आज हमलोग अमेरिका या पश्चिमी द्वीपसमूहों के ऋणी हैं, दक्षिण भारत में आसानी से उगाई जा सकती हैं।

इस पुस्तक के प्रथम भाग में तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में उन द्रव्यों का वर्णन है जो ब्रिटिश मेटिरिया मेडिका के साथ ही साथ भारतीय और अन्य पूर्वीय देशों में औषधि और पथ्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसमें औषधियों का प्रचार बाहुल्य के अनुसार नहीं अपितु आंग्लभाषा के अकरादि क्रम से संग्रह किया गया है। २५० औषधियों का इस प्रकरण में वर्णन हैं। द्वितीय अध्याय में धातुओं और उनके लवणों का संग्रह किया गया है। इसमें २२ द्रव्यों का संग्रह है। तीसरे अध्याय में योगों का उल्लेख किया गया है। इतने में प्रथम भाग समाप्त हो जाता है, इसके बाद का अंश मुझे देखने को न मिल सका।

Ayurvedic flora medica—इस पुस्तक के लेखक श्री एन० एस० मूस हैं। पुस्तक कई भागों में निकली है। प्रथम भाग, जिसका प्रकाशन १९५३ ई० में हुआ है, में गुञ्जा से लेकर नीलनिर्गुण्डी तक, ४५ औषधियों के उत्पत्ति, परिचय, पञ्चाङ्गों का विवरण, औषधि के लिए प्रयोज्य अंगों का निर्देश और उनके गुण-धर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ में औषधियों के चित्र भी बनाये गये हैं।

हैं। वे फल की पक्वता के द्योतक हैं न कि घुन या कीटादि से दूषित होने का निर्देश करते हैं। इनको परिचयज्ञापिका संज्ञायें कहते हैं।

इसी प्रकार कुछ संज्ञायें ऐसी हैं जो गुण प्रकाशिका हैं अर्थात् वे उस औषध के गुण को द्योतन करती हैं, उदाहरणार्थ चित्रक का अनल संज्ञक नाम इस बात का निर्देश करता हैं कि यह अग्निदीपक होता है। कुछ नाम औषध के उत्पत्तिस्थान के बोधक होते हैं जैसे हरीतकी का हैमवती नाम इस बात को द्योतित करता है कि इस जाति की हरड़ हिमवत् पर्वत पर उत्पन्न होती है। कुछ संज्ञायें अन्वर्थतासूचक हैं जैसे विभीतक को अक्ष या कर्षफल नाम देना, इससे सिद्ध होता है कि इसका फल १ तोला वजन में हो तो ही गुणकारी हो सकता है।

अतएव औषधों के अनेक नामों में से किसी एक को छाँटने में और ग्रहण करने में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। ये सभी उल्लेख सप्रयोजन हैं, इनमें से एक भी शब्द निष्प्रयोजन नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने नाम के ही माध्यम से उन सभी बातों का वर्णन किया है जिनको आजकल की भाषा में रचनात्मक और विभेद आदि (Morphological Characters and differentiation) की संज्ञा दी जाती है।

Indian plants and drugs with their medical prperties and uses—इसके लेखक श्री के० एम० नादकर्णी (K. M. Nad Karni, F. S Sc. L. A.) हैं। इसका सन् १९१० का संस्करण भी मुझे देखने को मिला जिसमें ४१९ द्रव्यों का वर्णन किया गया है। पुस्तक का सर्वप्रथम मुद्रण सन् १९०८ ई० में हुआ था। इसके बाद सन् १९५४ में जो संस्करण निकला उसका नाम Indian materia medica पड़ा। इस समय तक पुस्तक का आकार बहुत बढ़ गया। प्रथम भाग में ३६७१ औषधियों और द्वितीय भाग में १३० औषधियों का वर्णन किया गया। इसके अतिरिक्त परिशिष्टों के द्वारा एक से कार्य करनेवाली औषधियों के एक-एक वर्ग बनाये गये हैं तथा मान, पथ्यादि के लिए उपयोगी सूचनाएँ संकलित की गई है। इस तरह इस पुस्तक को सर्वतोभावेन चिकित्सकोपयोगी बना दिया गया।

डा० नादकर्णी का यह मत था कि भारतीय औपधियाँ अपने गुण-धर्म के कारण रोगों को अच्छा करने पर पाश्चात्य औषधियों के समान ही सक्षम हैं (जो सर्वथा युक्तियुक्त मत है) दूसरे कुछ अवस्थायें जिनमें एलोपैथिक औषधियाँ विफल हो जाती हैं, आयुर्वेदिक या अन्य देशो औषधियों के प्रभाव से ठीक होती पाई गई हैं। अतएव इन औषधियों के उचित अध्ययन और वनस्पतियों, फलों, शाकादि के पथ्यरूप में प्रयुक्त करने के उद्देश्य से उन्होंने इसका संकलन किया। बाद में उनके पुत्र श्री ए० के० नादकर्णी ने इसमें होमियोपैथो और यूनानी के कुछ प्रयोगों को भी सम्मिलित किया। इस प्रकार क्रमिक संस्करणों के निकलने का परिणाम यह हुआ कि यह पुस्तक अतीवोपयोगी हो गई।

अभी तक ऐसा देखने में आता है कि आयुर्वेदिक पुस्तकों का एक वार जो प्रथम मुद्रण हुआ, उसके बाद कोई दूसरा संस्करण निकलता ही नहीं। यदि निकला तो पूर्णरूप में पुनर्मुद्रण ही होता है। संस्करण निकलने से विषयों और विचारों का कैसा परिष्कार होता है उसके लिये उपर्युक्त पुस्तक एक निदर्शन है। आयुर्वेदीय लेखकों और प्रकाशकों को इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

Indian medicinal plants—इस पुस्तक के लेखक लेफ्टिनेंट कर्नल के० आर० कीर्तिकर, मेजर बी० डी० बसु और एक आई० सी० एस० आफिसर हैं। इसका प्रथम संस्करण पहली जनवरी १९१८ को निकला था छपाने का प्रारम्भ १९१४ में ही कर दिया गया था। इसमें वर्णित वनौषधियों को उत्तर प्रदेश की प्रदर्शनी में सन् १९१०-११ में रक्खा भी गया था। इसके बाद मेजर बसु ने द्वितीय संस्करण की तैयारी शुरू की। इस बार उनको दो और दूसरे सहयोगी मिले। सम्माननीय फादर ब्लैटर ने वानस्पतिक भाग का

और सम्मानीय फादर कायस (Rev. Father Caius) ने डा० के० एस० म्हस्कर की सहायता से भेषजगुणाख्यापक भाग का सम्पादन शुरू किया। इसी बीच २३ सितम्बर १९३० को मेजर बसु का देहान्त हो गया। सन् १९३४ में फादर ब्लैटर (Rw. Father E. Blatter) का भी देहान्त हो गया। किन्तु श्री एल० एम० बसु (जो मेजर बसु के पुत्र हैं) ने सन् १९३५ में इसके प्रकाशन (द्वितीय संस्करण) को पूर्ण किया। यह ४ भागों में विभक्त है।

दूसरे संस्करण के लेखकों का वनस्पतियों के विषय में अभिमत है कि "कुछ औषधियाँ सभी देशों में उत्पन्न होती हैं। कुछेक औषधियों को एक देश से दूसरे देश में पहुँचाया गया तथापि वे अपने इस नये देश में भी अच्छी तरह से उग रही हैं। इस द्वितीय संस्करण में इस पुस्तक में कुछ ऐसी औषधियों को संग्रहीत किया गया है जो भारत में पैदा तो होती हैं किन्तु उनका औषधीय व्यवहार विदेशों में होता है। भेषज विज्ञान बहुत पुराना है। औषधि विज्ञान कुछ ही समय का है। चूँकि इस समय यह कहने को एक परम्परा-सी हो गई है कि कोई भी वैज्ञानिक प्रगति पहले यूरोप में होती है तो उनके लिए हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यूरोप में आज भी ऐसी-ऐसी वनस्पतियाँ परम्परया ज्ञात हैं जिनका प्रभाव नवनिर्मित औषधों से अधिक है।"

प्रथम संस्करण निकलने से पूर्व ही ९ मई १९१७ को लेफ्टिनेंट कर्नल कान्होबा रणछोड़दास कीर्तिकर का देहान्त हो गया। तथापि ५०० पृष्ठों तक के प्रूफ वे देख चुके थे। ये ५ वें निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन, मथुरा (२० दिसम्बर १९१३) के सभापति रह चुके हैं। उन्होंने वैद्यों को कहा कि आयुर्वेद में अन्वेषण की बड़ी आवश्यकता है और इसके लिए हमको नव्य विज्ञान के नवीन आविष्कारों यथा रान्तजन (Rondtgen reys rays), सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आदि की सहायता अवश्य लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के आविष्कार जो भारतीय सिद्धान्तों से अनुकूल हों, का स्वीकार करना चाहिए। आयुर्वेदीय औषधियों को वैज्ञानिक रूप में पहचाना जाय और उनसे निर्मित चूर्ण आदि को भी वैज्ञानिक उपकरणों के सहारे बनाना चाहिये। आयुर्वेदीय प्रकृति विज्ञान और डा० फ्रेडरिक टी० राबर्ट्स के टेम्परामेण्ट्स के सिद्धान्तों और इसी प्रकार के अन्य नियमों के सापेक्ष अध्ययन का भी इन्होंने परामर्श दिया।

औषधियों के इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए लेखक ने बताया है कि आदि मानव ने औषधियों का व्यवहार आकृतिसाम्य के आधार पर (doctrine of signatures) करना प्रारम्भ किया। वे समान रंग, रूपवाली औषधियों

को उस जैसे रंग-रूप को उत्पन्न करने वाले रोग में देते थे। नाम-रूप आदि का ज्ञान वन में रहने वाले लोगों को विशेष रूप से था क्योंकि वे सर्वदा उनके संसर्ग में आते रहते थे। उन्होने ही सिनकोना का मलेरिया में, डिजिटेलिस का हृद्रोग में (स्ट्रोफैन्थस और फाइसोस्टिग्मीन का भी हृद्विकारों में) प्रयोग बताया।

सरथामस लाडर ब्रटन (Sir Thomas lauder Brunton) ने औषध और अस्त्र के विकास का एक तुलनात्मक संबन्ध निकाला है। उनका कहना है कि पाषाणकाल में जब मनुष्यों के अस्त्र खुरदरे भोथे होते थे तो उस समय औषधें भी बड़े अपरिष्स्कृत ढंग की (यथा सिनकोना या अञ्जन का चूर्णरूप में) व्यवहार में लायी जाती थी। जब अस्त्र सुन्दर कटे हुए और चिकने बनाये जाने लगे तो औषधों का क्वाथ या सुरासार के रूपमें व्यवहार होने लगा। इसके बाद औषधों के क्रियाशीलतत्त्वों को औषधि से अलग किया गया जो क्विनीन, मार्फीन के रूप में हमारे सामने आया। और अब हमलोग नैसर्गिक के बजाय कृत्रिम रूप में औषध को बनाना अधिक पसन्द करने लगे हैं।

इसका अभिरुचि (Fashion in medicine) संज्ञा दी जाती है। इस समय वानस्पतिक जगत से क्रियाशील तत्त्वों को प्राप्त न करके उन्हीं के गुण धर्म युक्त रासायनिक औषधियों का जिनका निर्माण सुराया कोलतार से होता है को व्यवहृत करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। अब क्विनीन या मार्फीन के स्थान पर ऐन्टी पाइरीन, ऐन्टीफेब्रीन, फेनासिटीन, एग्जैलीन, सल्फोनल, टेट्रोनल और क्लोरल जैसी औषधियों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इसकी वजह यह है कि अब हम रासायनिक संघटनों का क्रियाशारीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जान सकने की स्थिति में पहले अपेक्षा की अधिक नजदीक आ सके हैं।

रस थामस वाटन (Sir Thomas Watson) के मतानुसार चिकित्सा-शास्त्र (Therapatics) का विकास शरीर के प्राकृत और विकृत क्रिया विज्ञान के विकास पर निर्भर है। इसलिए पुरानी औषधियों का आजकल के आधुनिक-तम आविष्कारों की सहायता से अध्ययन करना चाहिए। बर्न के डा० इश्कर्क (Dr. Ischirch) का मत है कि चिकित्सा विज्ञान कृत्रिम औषधियों को छोड़-कर पुनः नैसर्गिक औषधियों की ओर अवश्य आकृष्ट होगा क्योंकि कृत्रिम औष-धियाँ शरीर के भीतर जाकर एक प्रकार की विजातीय वस्तु के समान कार्य करती हैं, इसके विपरीत वानस्पतिक या जान्तव औषधियाँ शरीर के लिये सात्म्य होने से उसका पोषण भी करती है और रोगोन्मूलन भी।

औषधियों का रोगहरत्व उनके कुछ विशिष्ट गुण-धर्मों पर आश्रित

रहता है। उनको चाहे क्रियाशीलतत्त्व, क्षार आदि नाम दिया जाय (अथवा रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव आदि की संज्ञा दी जाय) अथवा और कुछ कहा जाय किन्तु यह बात स्पष्ट है कि उपलब्ध रासायनिक या भौतिक परीक्षणों के ही आधार पर हम अभीतक यह कह सकने की स्थिति में नहीं पहुँच पाये हैं कि कौन-सा ऐसा तत्त्व है जिससे अमुक क्रिया की निष्पत्ति होती है। अत एव रासायनिक विश्लेषण से औषधिका स्वरूप अपूर्णरूप में ही प्रकट हो पाता है। औषध में पाये जानेवाले असंयुक्त कण (dissociated ions), रसावस्थ धातुए (colloidal metals) जिनका स्वभाव किण्व के समान होता है तथा वैद्युत क्रियायें (radioactivity) आदि या इस प्रकार की अन्य बहुत-सी ज्ञाताज्ञात वस्तुएँ हैं जो औषधि को उसकी पूर्णता उपलब्ध कराती हैं जिनकी सामुदायिक रूप से रोगहरत्व के प्रति कारणता है। इसलिये यदि किसी औषध के विषय में कोई विशिष्ट रोगहरण गुण प्राचीन पुस्तकों में लिखा हो किन्तु रासायनिक विश्लेषण में उसमें इस प्रकार का कोई तत्त्व न पाया जाता हो जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि यह रोगघ्न है तो इतने से ही हमको उसे अकार्मुक नहीं करार देना चाहिये। हाँ यदि कोई कार्यकारी रासायनिक तत्त्व मिल गया तो उसके आधार हमको उपयोग करने की थोड़ी सुविधा हो जाती है। हम उसका प्रयोग करके देश, काल, ऋतु आदि के कारण हीनवीर्यता की प्राप्त हो गई औषधियों के दुष्प्रभाव से बच सकते हैं। कुछ ऐसी भी औषधियाँ है जो ग्रामीणों के द्वारा किसी रोगविशेष में प्रयुक्त होती हैं और उसमें वे रामबाण काम करती हैं अथवा उनका विदेशों में किसो रोगविशेष में सफलता के साथ प्रयोग किया जाता है किन्तु हमारी प्राचीनार्वाचीन पुस्तकों में उनका वर्णन नहीं मिलता तो उनको भी निःसंकोचरूप से ग्रहण किया जा सकता है।

वैदिक काल में मात्र १०० औषधियों तक ही प्रयोग सीमित था। सुश्रुत में लगभग ७०० औषधियों का वर्णन मिलता है। चरक और सुश्रुत में कुछ ऐसी भी औषधें हैं, उदाहरणार्थ यष्टीमधु, जो यद्यपि भारत में नहीं पैदा होतीं किन्तु ओषधीय प्रयोगों के रूप में स्वीकृत की गई हैं। यष्टीमधु की उत्पत्ति मध्य एशिया के देशों में होती है। बौद्ध धर्म के प्रचारकों ने भ. धर्मप्रचार के साथ-साथ औषधियों का संग्रह किया और उनमें से अनेकों को लाकर भारत में उगाना भी प्रारम्भ किया। यूनानियों और अरबों के सम्पर्क से भी बहुत-सी औषधियों का आदान-प्रदान हुआ विशेष रूप से अफीम तो मुसलमानों की ही देन है। आखिर में पश्चिम की गौराङ्ग जातियों ने भी रोग-औषध का भारत से आदान-प्रदान किया। अमेरिका से अनेक वनस्पतियाँ लाकर इस देश में

उगाई गईं। अंगरेजों ने कृषिफार्मों, जंगलों और प्रदर्शनियों के माध्यम से औषधीय क्षेत्र में इस प्रकार की क्रान्ति ला दी।

प्रकृति का यह नियम है कि जिस स्थान पर कोई रोग बहुतायत में पाया जाता है उसी स्थान पर उस रोगविशेष को नष्ट करनेवाली औषध भी पैदा होती है। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर भारतवर्ष के सम्पूर्ण स्थलों का वानस्पतिक दृष्टिकोण से अन्वेषण किया। स्थान-स्थान पर कृषि करके उत्पन्न करने की व्यवस्था की गई जिससे कि उनको अपने असली रूप से पहचाना जा सके और मिलावट का पता लगाया जा सके। इसी दृष्टिकोण से इस पुस्तक में लगभग १००० औषधियों का वर्णन किया गया है।

आयुर्वेदीय औषधियों का समालोचनात्मक अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) ने कुछ चुनी हुई वनस्पतियों की (Botanical observation on select plants) समीक्षा की। इसके बाद जान फ्लेमिंग (John Fleming's catlogue of Indian medicinal plants and drugs) ने सन् १८१० ई० में इन औषधियों का बृहत् रूप में संग्रह किया। सन् १८१३ ई० में एनेस्ली की मेटीरिया मेडिका (Ainslies's materia madica of Hindoostan) प्रकाशित हुई। राक्सवर्ग ने सन् १८७४ में फ्लोरा इण्डिका (Roxburgh's fora Indica) का प्रकाशन कराया। बैलिक और राइल, और इनके पश्चात् माट और मैकनमारा ने इन वनस्पतियों को नव्य वैज्ञानिक रीति से सूचीबद्ध किया।

सन् १८४१ में बङ्गदेश में प्रचलित औषधों को ओ शाघनेशी (O'shaughnesiys) ने एक पुस्तक के रूप में लिपिबद्ध कराया। सन् १८६८ में वारिंग के सम्पादन भारतीय भेषज संहिता (Pharmacopocia of India) का प्रकाशन हुआ। इसमें से कुछ औषधियाँ छूटी जा रहीं थीं, अतएव उनको भी शामिल करते हुए मोहिडोनशेरिफ ने वारिंग की पुस्तक का एक परिशिष्ट प्रकाशित कराया। इन्होंने मद्रास प्रान्त में पाई जाने वाली वनस्पतियों का विवेचन करते हुए एक भेषज संहिता का निर्माण किया था जिसका प्रकाशन इनकी मृत्यु के पश्चात् हूपर के द्वारा कराया गया। यू० सी० दत्त ने निघण्टुओं का संस्कृत से इंगलिस में अनुवाद किया। फ्ल्यूकीगर और हैनबरी की फार्माकोग्राफिआ प्रकाशित हुई। सन् १८८३ में डायमाक ने पश्चिम भारत के वनस्पतियों का संग्रह प्रकाशित कराया। सन् १८९० से ९३ के बीच डायमाक, वार्डन और हूपर ने मिलकर फार्माकोग्राफिआ इंडिका का प्रकाशन किया।

सन् १८८९ से १९०४ के बीच सर जार्ज वाट ने प्राच्य और पाश्चात्य

औषधों का संग्रह करके एक कोष (A dictionary of the economic products of India) का प्रकाशन कराया। इसमें पीछे के सभी कार्यों का संग्रह तो हुआ ही, साथ ही साथ वनस्पतियों के प्रयोज्य अंगों यथा त्वक्, पत्र, पुष्प, मूल, निर्यास आदि का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। उनकी खेती, आयात-निर्यात आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके बाद के प्रकाशन यथा कनाई लाल डे की भारतीय वनौषधि (Indigenous drugs of India) या कीर्तिकर और बसु का (Indian medicinal plants) इसके आधार पर ही बनाये गये हैं। इनमें केवल चित्रों आदि का विशेष रूप से संग्रह कर दिया गया है।

कौंसिल आफ साइंटिफिक और इंडस्ट्रिकल रिसर्च ने सन् १९४९–५३ में भारत की समृद्धि (The wealth of India) का प्रकाशन अपने हाथ में लिया वह भी पूर्व पुस्तक (कोष का) का अद्यतनीन विकास ही है। इसको दस खण्डों में प्रकाशित किया गया है।

वनस्पतियों का सचित्र वर्णन करने की दिशा में ह्वीड, राक्सवर्ग, रायल, वाइट, क्लीच, बँडोम, ब्रेन्डिस, ग्रिफिथ आदि महानुभावों ने प्रयत्न किया। इनके आधार प्रेरित भारतीय लेखकों ने भी रेखाचित्र एव प्लेट वनवाये जिससे औषधियों के अध्ययन की ओर एक क्रान्तिपूर्ण सर्जन हुआ। अंग्रेजी के अलावा डच, पोर्चगीज, फ्रेञ्च और जर्मन भाषाओं में भी भारतीय वनौषधियों का अपार वर्णन उपलब्ध होता है। मलबार के डच गवर्नर श्री वानर्हीड (Von Rheed) की आज्ञा से होर्टस मेलेवरी का (Horttes malavarece) नामक एक सचित्र ग्रन्थ सन् १६८६ और १७०३ के बीच प्रकाशित हुआ। इसमें लगभग ७९४ वनस्पतियों के चित्र हैं। इसके पूर्ण करने में तीन मलाबारी पंडितों श्री रंगोभट्ट, विनायक पंडित और आपाभट्ट ने सहयोग प्रदान किया था।

सन् १६९६ से लेकर १७०५ ई० के काल में लियोनार्ड प्लेकेट ने ४५४ प्लेटें और २७४० रेखाचित्रों से युक्त एक ग्रन्थ ४ भागों में प्रकाशित कराया। इसके पश्चात् सन् १७५१ ई० तक एम्सटर्डम में भी राम्फियस ने 'हर्बेरियम एम्बोएन्सी' नामक ग्रन्थ ७ भागों में प्रकाशित कराया। यद्यपि ये अन्ध हो चुके थे किन्तु प्रयत्न चालू रक्खा था। सन् १७३७ ई० में जान बर्मन ने 'थीसेरस ज़ाइलेनिकस' नामक ग्रन्थ को ११० चित्रों के साथ हालैण्ड में छपाया। इसमें सीलोन की वनस्पतियों का वर्णन है जिसे एक सीलोनी चिकित्सक पाल हर्मन की मदद से पूरा किया गया है।

सन् १७६८ ई० आम्सटर्डम के निकोलस बर्म ने फ्लोरा इंडिका का प्रकाशन कराया जिसमें ६७ चित्र है और १५०० वनस्पतियों का वर्णन है। इसी समय

डेनमार्क में वनस्पतिशास्त्र के जनक एवं सुप्रसिद्ध चिकित्सक लीनियस के शिष्य जान केनिंग भारत आये। इन्होंने जान, फ्लेमिंग, हन्टर, एन्डर्सन, बेरी, राक्सबर्ग, हेमेन, क्लीन, बुचानन, हेमिल्टन, राटलर आदि विद्वानों के साथ मिलकर वनस्पतियों का अध्ययन करने वाली एक गोष्ठी की स्थापना की। इनमें से अधिकांश लोग धर्म प्रचारक थे जो अपने अतिरिक्त समय में इस काम को करते थे। इन लोगों ने लाखों वनस्पतियों के नमूने इकट्ठे किये जिसे एक दूसरे के अध्ययनार्थ तो भेजा ही, यूरोप में भी इनको संग्रह करने के लिए भेजा।

इस गोष्ठी में डा० राक्सबर्ग ने (Roxburgh) ने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। ये सन् १९९३ ई० से लेकर १८१४ ई० तक ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से कलकत्ता में बोटैनिकल गार्डेन के सुपरिंटेण्डेट रहे। इन्होंने फ्लोराइंडिका की रचना की जिसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १८२० में हुआ। दूसरी बार सन् १८३२ ई० में इसे तीन भागों में विभक्त करके छपाया गया। इसमें वनस्पतियों का वर्गीकरण लीनियस की वनस्पतिशास्त्रीय पद्धति से किया गया है। दो हजार से अधिक वनस्पतियों के रंगीन चित्र लगाये गये हैं।

डा० राक्सबर्ग के बाद डा० वालिच कलकत्ता के बोटैनिकल गार्डेन के सुपरिण्टेण्डेण्ट हुए। इन्होंने सारे भारत में से असंख्य वनस्पतियों के नमूनों का संग्रह किया। सन् १८२८ में यह सब वस्तु लेकर जब वे विलायत गये तो वहाँ अनेक विद्वानों में इसका वितरण किया। उनके आग्रह पर सन् १८३४ में वाइट और वाकर आर्नेट ने "प्रोड्रोमस फ्लोरी" छपवाया। इसके विषय में हुकर जैसे वनस्पति शास्त्रज्ञ का मत है कि ऐसा ग्रन्थ अब तक किसी ने लिखा ही नहीं। डा० वालिच ने स्वयं भी नेपाल की वनस्पतियों के विषय में एक पुस्तक छपाई जिसमें २९६ चित्र लगे हैं। डा. वाइट जब मद्रास आये तो मद्रास की वनस्पतियों के विषय में उन्होंने एक पुस्तक छपाने का प्रयत्न किया और १८३८ ई० में "इलस्ट्रेशन्स आफ इंडियन बाटनी" नामक एक ग्रन्थ छपाया भी, किन्तु यह अधूरा रह गया। डा० वालिच ने स्वयं "आई कोन्स प्लेन्टेरम इन्डो ओरिएन्टलिस" नाम का ग्रन्थ छपाया जिसमें २१०१ सादे चित्र हैं। नीलगिरी पर्वत की वनस्पतियों के विषय में भी उन्होंने एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित कराई।

सन् १८३४ से पहले ही डी० केन्डोल ने "प्रोड्रोमस सिस्टेमेटिस रेग्नी वेजीटेबीलियम" नामक एक ग्रन्थ छपाना शुरू किया जिसमें उन्होंने समस्त संसार की वनस्पतियों का संग्रह कराया। डा० वालिच ने इस प्रकाशन में भारत की वनस्पतियों का योगदान किया। हिमालय की वनस्पतियों के विषय में दो भागों में १०० चित्रों के साथ डा० रायल ने एक ग्रन्थ प्रकाशित कराया।

सन् १८४४ में जे. के. मान्ट ने अपने प्रवास के समय भारत की वनस्पतियों को एकत्रित करके १८० चित्रों के साथ एक ग्रन्थ फारस से छपाया। डा. लिंडले ने अर्कीडिएसी वनस्पतियों का वर्णन परक ग्रन्थ कई भागों में छपवाया।

श्री जे. डी. हूकर और थामस थाम्पसन ने डा. वालिच के संग्रह, अपने सन् १८४२ से ५० तक के प्रवासकाल में संगृहित ८००० नमूनों आदि के आधार पर १८५५ में 'फ्लोरा इंडिका' छपवाने का काम शुरू किया। यह ग्रन्थ अधूरा रहा। तब श्री हूकर ने सेक्रेटरी आफ स्टेट के प्रयत्न से भारत सरकार के खर्चे पर सन् १८७४ ई० में "दी फ्लोरा आफ ब्रिटिश इंडिया" छपाना शुरू किया। यह पुस्तक ७ भागों में छपी है जो सन् १८७४ ई० में जाकर पूरी हुई। प्रत्येक में ७-८ सौ पृष्ठ हैं।

सन् १८७६ में सी. बी. क्लार्क ने 'कंपोजिटी इन्डीसी' छपाई। श्री कुर्ग ने इसी ससय "फारेस्ट फ्लोरा आफ वर्मा" प्रकाशित कराया। सन् १८७४ में डा. ब्रेन्डीज ने "फारेस्ट फ्लोरा आफ नार्थ वेस्टर्न ऐन्ड सेन्ट्रल इंडिया" प्रकाशित कराया। सन् १८६९ से ७३ के काल में दो भागों में कर्नल वेडम ने 'फ्लोरा सिल्वेटिका आफ सदर्न इण्डिया' छपाया। सन् १८९३ में डा० ट्रीम ने "हैन्डबुक आफ दी सीलोन फ्लोरा" प्रकाशित कराया और डा० किंग ने सन् १८८८ से १८९३ तक के काल में "पवल्स आफ दी बेटैनिकल गार्डन्स–कलकत्ता" को ७ भागों में छपाया। फरों के विषय में श्री हूकर और बेकर ने सन् १८७४ में "सिनाप्सिस फोलिकम" प्रकाशित किया। कर्नल बेडम ने सन् १८८० में "रिव्यू आफ द फर्म्स आव नार्थ वेस्टर्न इंडिया" का वर्णन किया।

इतना सब होते हुए भी वनस्पतियों की पहचानने की शक्ति जनसाधारण की क्षीण होती गई। परिणामस्वरूप अनेक वनस्पतियाँ संदिग्ध कोटि में प्रविष्ट हो गईं। इसके अधोलिखित कारण माना जाते हैं—

१. चरक और सुश्रुत आदि ग्रन्थों में लगभग ७०० वनस्पतियों का वर्णन मिलता है किन्तु इन सबका उपयोग आगे चलकर न हो पाया। जिनका प्रयोग होता रहा वे तो जानी-पहचानी जा सकीं किन्तु शेष संदिग्ध हो गईं इसीलिए परवर्ती निघण्टुकारों ने भी उनका उल्लेख नही किया।

२. कुछ श्री जीवक ऋषभक सदृश औषधियों संहिताओं तथा संग्रह ग्रन्थों में वर्णित तो हैं किन्तु उनके उपयोग करने कि प्रथा कम हो गई इसलिए वे सदिग्ध कोटि में प्रविष्ट हुई।

३. हिलमोचिका सदृश कुछ औषधियाँ जो किसी देश-विशेष में ही उत्पन्न

होती हैं, गमनागन के साधनों के अभाव के कारण सारे देश में उपलब्ध न हो पायी अतएव संदिग्ध कहलाने लगीं।

४. कुछ श्योनाक, काकनासा, ज्योतिष्मती, शंखपुष्पी, ब्राह्मी जैसी औषधियाँ देश के विभन्न भागों में विभिन्न प्रमाण में उत्पन्न होने के कारण सब जगह एक जैसे रूप में न मिल पाई अतः संदेह होने लगा कि वे अपने शुद्ध रूप में हैं अथवा किसी अन्य सस्ती वनस्पति को उनके साथ मिश्रित करके बेचा जा रहा है।

४. शालिपर्णी, पृश्निपर्णी जैसे दवायें नाम के गड़बड के कारण एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होने लगीं और संदिग्ध कोटि में प्रविष्ट हो गईं।

६. आधुनिक वनस्पतिशास्त्रज्ञों ने कुछ औषधों को खामखाह सन्दिग्ध बना दिया। उदाहरणार्थ स्वर्णक्षीरी को वे लोग कहते हैं कि यह वनस्पति हाल में ही विदेश से आई है अतएव शास्त्रोक्त स्वर्णक्षीरी यह नहीं अपितु दूसरी है।

औषधियों की सन्दिग्धता का सबसे बड़ा कारण वन्य जीवन का परित्याग और शहरी संस्कृति का अभ्युदय है। लोगो का सम्बन्ध औषधि के विषय में पंसारियों तक ही सीमित हो गया। वे भी इकट्ठा करने वालों पर आश्रित रहने लगे। इस प्रकार अनेक औषधियाँ साक्षात् परिचय के अभाव में सन्दिग्ध हो गईं।

Vegetable materia medica of India and Ceylone—इसके लेखक श्री इमैन्मुअल रावर्ट्स (Emmenuel Roberts) हैं जो कई सर्पदंश चिकित्सा विषयक पुस्तक के लेखक और इंगलैंड तथा सीलोन की चिकित्सा विद्यापीठों में अनेक वर्षों तक अध्यापक रहे हैं। जब इन्होंने देखा कि अनेक रोगो देशी औषधियों के सेवन से अच्छे हो रहे हैं तो उन्होंने इनके अन्वेषण और गुण-धर्मों के अध्ययन की ओर ध्यान दिया। अपने ४० वर्षों के चिकित्सा-नुभव में प्रयुक्त इन औषधियों का इस विद्वान लखक ने यहाँ संग्रह किया है। उनके परिचय के लिये इन्होंने हूकर, ट्राइमेन, डेनियल ओलिवर, एडवर्ड बैल-फोर तथा कन्हाईलाल डे के प्रकाशनों से सहायता ली है। तालीशपत्र के वर्णन से पुस्तक का प्रारम्भ होता है और बदरी से समाप्ति होती है। प्रत्येक औषध का नाम उसका वर्णन, प्रयोज्य अंग, आधुनिक ढंग से तैयार किये गये सत्त्व, शर्बत, क्षारादि योग और उनके प्रभावादि का विवेचन किया गया है। पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३१ में कोलोम्बो से हुआ है।

इन्होंने ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अध्ययन भी उपस्थित किया है। यद्यपि मैं उससे सहमत नहीं होता तथापि उसको लेखक की राय के स्वरूप

में उद्धृत कर रहा हूँ। "देशी औषध अथर्ववेद की आयुर्वेदिक पद्धति, यूनान की यूनानी पद्धति जिसका अरब के लोगों ने प्रचार किया, मिश्र की सूर्यानी, सीटियन या असीरियन चिकित्सा प्रणाली और द्रविड़, कोल, यक्ष, नाग आदि आदिवासियों की चिकित्सा पद्धति का सम्मिश्रण है वैदिककाल और उसके बहुत समय बाद (उत्तर वैदिककाल) तक धर्म, विज्ञान, कला आदि ब्राह्मणों के हो हाथ में थे। आयुर्वेद भी धर्म, कला और विज्ञानमय है और इसके ज्ञाता भी ब्राह्मण पुरोहित ही रहे हैं। इसमें विकृति विज्ञान, द्रव्यगुण, चिकित्सा, पथ्य और रोगों की सामान्य चिकित्सा का अद्भुत वर्गीकरण मिलता है। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में जब बौद्ध धर्म का प्रचार जोर-शोर से हो रहा था तो धर्म को विज्ञान और कला से पृथक् किया जाने लगा और स्त्री शूद्रादि के लिये पुराणों की रचना प्रारम्भ हुई। ब्राह्मण जो भारत और सीलोन की सभ्यता के अग्रदूत थे धर्म की स्थापना को अक्षुण्ण बनाये रखने की ओर प्रवृत्त हुए अतएव आयुर्वेद का विकास रुक गया। भारत में सुश्रुत और यूनान में हिपोक्रेट समकालिक हुए। इसके बाद से शरीर रचना और क्रिया विज्ञान तथा विकृति विज्ञान के सम्बन्ध में कोई मौलिक अन्वेषण न हो सका। इस प्रकार यद्यपि वर्तमान काल में पाश्चात्यचिकित्सा विज्ञान के ज्ञाता उपलब्ध हैं और आयुर्वेद सदियों से उपेक्षित है तथापि अब भी वह अपने गुणों से अनेक नर-नारियों को रोगमुक्त कर रहा है। इसका मूल हेतु उसका सम्पन्न द्रव्यगुण विज्ञान है जिसके औषधशास्त्र में जाङ्गम, औद्भिद और पार्थिव औषधियों का प्रचुर भण्डार है।"

Flora Indica or Deseription of Indian plants—इस पुस्तक का सङ्कलन स्व० विलियम राक्सवर्ग (William Roxburgh, M. D, F.R S E.) ने १८२० ई० से पहले ही किया है किन्तु पुस्तक का प्रकाउनको मृत्यु के पश्चात् हुआ। कुछ अंश का प्रकाशन सन् १८२० में हुआ और ⅓ भाग का प्रकाशन सन् १८२४ में हुआ। इसके बाद यह कार्य रुक गया। डा० कारे (Dr. Carey) ने श्री राक्सवर्ग के मित्रों के अनुरोध पर सम्पूर्ण कार्य को सन् १८३२ ई० में तीन भागों में प्रकाशित कराया। इसके पश्चात् तो अनेक प्रकार के इसके संस्करण निकले तथापि मूलकृति अब भी सर्वातिशायिनी है। इसमें वनस्पतियों का परिचय मूल, त्वक्, काण्ड, पत्र, निर्यास आदि की रचनाओं के आधार पर दिया गया है।

इतना ही नहीं इन वनस्पतियों के चित्र तथा उनका आर्थिक दृष्टिकोण से किया गया अध्ययन भी इन्होंने बड़े उत्तम ढंग से अपने पाण्डुलिपि में सन्निविष्ट किया है। सभी परवर्ती वनौषधि शास्त्रविद् इनका अनुकरण करते हैं।

Catalogue of the plants growing in bombay and its vicinity—इसके लेखक श्री जान ग्राहम (John Graham) हैं जो बम्बई प्रेसीडेन्सी के डेप्युरी पोस्ट मास्टर जनरल रहे हैं। इसको इन्होंने श्री निम्मो (mr. Nimmo) की सहायता से पूरा किया। पुस्तक का प्रकाशन सन् १८३९ ई० में पश्चिम भारत की एग्री हार्टीकल्चर सोसाइटी के तत्त्ववधान में हुआ। लगभग २०० पृष्ठों का ही प्रकाशन हो पाया था कि श्री ग्राहम का देहान्त हो गया। इसके बाद श्री निम्मों की देख-रेख में इस कार्य को पूर्ण किया गया। श्री निम्मो पहले से ही इस कार्य से सम्बद्ध रहे हैं। इसमें कुल १६६ वर्ग की वनौषधियों का किया गया है।

Forest flora of North West and Central India—इस कार्य के प्रारम्भ करने वाले श्री जे० लिन्डसे स्टीवार्ट (J. Lindsay Stewart M. D.) हैं। इनके जीवनकाल में यह कार्य पूर्ण न हो सका अतएव अवशिष्ट कार्य डीट्रिक ब्रैंडिस (Dietrich Brandis) ने अपने हाथ में लिया और इसे पूरा करके सन् १८७४ ई० में प्रकाशित कराया। इसमें अगुरु आदि वनस्पतियों का परिचय दिया गया है।

The plants and drugs of Sind—इसके लेखक श्री जेम्स ए० मुरे हैं। पुस्तक का प्रकाशन सन् १८८१ ई० हुआ है। इसमें सिन्ध देश और उसके आसपास के प्रदेश में पाई जाने वाली औषधीय वनस्पतियों का संग्रह है।

An introduetion to materia medica for India-इसके लेखक सी० एफ० पान्डर और डी० हूपर (C.F. ponder, M.B., C.M. and D. Hooper F.C.S., F.L.S) हैं। पुस्तक का प्रकाशन सन् १९०१ ई० में ठाकर स्पिक ऐन्ड कं० कलकत्ता से हुआ है। इसमें सन् १८९८ ई० के ब्रिटिश फार्माकोपिया के योगों को भी संगृहीत किया गया है। लेखक का कहना है कि भारतीय भेषज शास्त्र पर एन्स्ली, ओ शाघनेसी, वारिंग, डाइमाक, मोहिदीन शेरिफ और कनाई लाल डे आदि ने जो काम किया है वह स्थानिक दृष्टिकोण से है। उसमें बताई गई औषधियों को प्राप्त करना कठिन है। अथवा उनका औषधीय गुणधर्म भी शंकास्पद है। ब्रिटिश फार्माकोपिया में यद्यपि वे द्रव्य हैं जिनका औषधीय गुणधम यद्यपि निश्चित सा है किन्तु सामान्य चिकित्सक के लिए वह बहुत विस्तृत हो जाता है। इन दोनों ही दोषों को इस संग्रह में दूर किया गया है।

इसमें ३५० ऐसे अषधों का संग्रह किया गया है जिनको ब्रिटिश फार्माकोपिया के औषधों के प्रतिनिधि रूप में दिया जा सकता है। औषधियों को उनके वनस्पतिक वर्गों के अनुसार संग्रहीत किया गया है। इसी क्रम से उनके

योगों अर्थात् सत्त्व, गोली, शर्बत, टिंक्चर आदि को भी रक्खा गया है। क्रिया-शील तत्त्वों को उन्हीं द्रव्यों के अन्तर्गत जैसे एट्रोपीन को बेलाडोना के या स्ट्रिक्नीन का कुपीलु के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। इसी प्रकार जान्तव द्रव्यों और खनिजों का भी वर्गीकरण किया गया है।

The materia medica of the Hindus—इस पुस्तक के लेखक श्री उदयचन्द्र दत्त हैं। वे श्रीरामपुर के सिविल मेडिकल आफीसर रहे हैं। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १८७७ में हुआ। इसमें श्री युत जार्ज किंग ने भारतीय वनस्पतियों की एक नामावलि भी लगाई है। कविराज विनोद लाल-सेन और कविराज आशुतोष सेन ने इसको कुछ संशोधित किया। अन्त में सन् १९०० की जनवरी में कलकत्ता में इसका प्रकाशन हुआ।

इस पुस्तक में चरक, सुश्रुत प्रभृति संहिता ग्रन्थों, विविध निघण्टुओं और रसशास्त्र में विभिन्न पुस्तकों में मिलने वाले विविध द्रव्यों और चिकित्सा योगों का उनके लिए आंग्लभाषा में विवेचन किया गया है जो लोग संस्कृत नहीं समझ सकते हैं। उपोद्घात में आयुर्वेद के इतिहास को भी अपने दृष्टिकोण से उद्धृत करने का प्रयास किया गया है जो सर्वांश में अनुमत न होने पर भी सराहनीय अवश्य है।

The Indigenous drugs of India—इस पुस्तक के लेखक रायबहादुर श्री कन्नाई लाल डे, सी० आई० ई० आदि हैं। ये रसशास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान थे और इस विषय से सम्बद्ध अनेक संस्थाओं के सदस्य आदि थे। इसके पूर्ण करने में श्री विलिमव मेयर ने इनकी सहायता की है। ये भी ग्रेट ब्रिटेन की फार्मास्यूटिकल सोसाइटी से सम्बद्ध थे। पुस्तक का प्रकाशन सन् १८९६ ई० में ठाकर स्पिक एण्ड कम्पनी कलकत्ता से हुआ है। तालीशपत्र से प्रारम्भ करके कर्कन्धू तक अंगरेजी के वर्गानुक्रम से अनेक भारतीय वनस्पतियों, उनके वर्ग, भारतीय भाषाओं के नाम, रासायनिक संघटन तथा औषधीय गुणों का वर्णन विस्तृत रूप से दिया गया है। परवर्ती लेखकों ने इसी से अपने पुस्तकों में उद्धरण दिये हैं। यह कार्य लेखक के ४० वर्षों के क्रियात्मक अनुभव का फल है। अन्त में कई परिशिष्ट लगाये गये हैं। जिसमें वनस्पतियों और उनके योगों की निर्माणपद्धति पर विचार किया गया है।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में श्री विलियम मेयर ने श्री डे का संक्षिप्त परिचय ८ पृष्ठों में लिखा है उसमें से कतिपय अंश को उद्धृत किया जाता है। आपका जन्म कलकत्ता में सन् १८३१ ई० हुआ। २२ वर्ष की अवस्था में आपने रसायन और चिकित्साशास्त्र का अध्ययन समाप्त करके कलकत्ता के ही मेडिकल

कालेज में पढ़ाने का कार्य प्रारम्भ किया। शुरू से ही आपका झुकाव वनस्पतियों की ओर था। इसके परिणामस्वरूप आपने विश्व के अनेक वनौषधि सम्मेलनों में भाग लिया और इंगलैंड एवं फ्रान्स की सरकारों से अनेक पदकों और डिग्रीयों से विभूषित किये गये। अपने इस अध्ययन के ही कारण देश-विदेश के अनेक वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आपको आने का अवसर मिला। सारे विश्व में आपने भारतीय औषधियों को परिचय प्रदान कराया और संसार के ५० भेषजविदों में से एक प्रमुख के रूप में आपकी गणना होती है।

Vegetable drugs of India--इसके लेखक देव प्रसाद सन्याल हैं जो कलकत्ता के फिजीसियन और सर्जन के कालेज में मेटीरिया मेडिका और थेराप्यूटिक्स के लेक्चरर रहे हैं। पुस्तक का प्रकाशन सन् १९२४ में इन्होंने अपने खर्च से कराया है। इसका संग्रह प्राच्य-पाश्चात्य कृतियों के आधार पर किया गया है। इसमें औषधियों के गुण के अनुसार उनका वर्णन क्रम निर्धारित्त किया गया है, इसीलिए ज्वरहर औषधों और विशेषत: गुडची के वर्णन से पुस्तक का प्रारम्भ होता है। अन्त में नीबू का वर्णन मिलता है। अन्त में एक-एक प्रकार के गुणधर्म वाली वनौषधियों की एक-एक विशिष्ट सूची लगा दी गई है जो बहुत ही उपादेय है।

Commercial drugs of India—इस पुस्तक के लेखक श्री एन० वी० दत्त हैं। जो इंडियन बोटैनिकल सोसाइटी के सदस्य और पटियाला राज्य में एकनोमिक बोटैनिस्ट रहे हैं। पुस्तक का प्रकाशन ठाकर स्पिक एण्ड कम्पनी कलकत्ता और शिमला से सन् १९२८ में हुआ। यद्यपि लेखक ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यह पुस्तक उनके लिये लिखी गई है जो औषधियों के संग्रह, कृषि और व्यापार से सम्बद्ध हैं किन्तु यह चिकित्सा के भी काम की है इसमें सन्देह नहीं हो सकता। औषधियों का नाम, उनके वर्ग, उत्पत्ति स्थान, प्रयोज्य अंगों, प्रभाव तथा गुणधर्म का संक्षिप्त किन्तु उपयोगी विवेचन किया गया है। औषधियों को आंग्लभाषा के अकरादि क्रम से संगृहीत किया गया है जिसमें उलटकम्बल से लेकर आर्द्रक तक लगभग २०० वनस्पतियों का वर्णन है।

Indigenous drugs of India—इस पुस्तक के लेखक कर्नल सर रामनाथ चोप्रा हैं। भारतीय औषधिशास्त्र और आयुर्वेद के प्रति आपका प्रेम प्रशंसनीय है। सम्पूर्ण पुस्तक ८१६ पृष्ठों में ५ भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में ऐतहासिक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय भाग में वत्सनाभ आदि अनेक औषधियों का परिचय प्रदान किया गया है। तृतीय भाग के प्रथम उपविभाग में काष्ठौषधियों और द्वितीय में खनिज तथा जान्तव औष-

धियों का संग्रह है। चतुर्थ भाग के ४ उपविभाग हैं, प्रथम में औद्भिद-जाङ्गम और पार्थिव औषधियों की सूची, द्वितीय में गुणकर्मानुसार औद्भिदौषधियों का विभाजन, तृतीय में रोगहरत्व गुणों के अनुसार वर्गीकृत संग्रह, चतुर्थ में सुगन्धित तैल प्रदान करने वाले द्रव्यों का संग्रह है। पञ्चम भाग में इन औषधियों को बाजार में किस नाम से जाना जाता है, तथा इसके साथ ही उनके संक्षिप्त गुणधर्मों का भी परिचय सहित उल्लेख किया गया है।

मूल विषय से संबद्ध होने के कारण ऐतिहासिक तथ्यों को संक्षेप में उद्धृत किया जाता है। औसधिशास्त्र का विकास ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से ४५०० वर्ष पूर्व (ऋग्वेद के काल) से शुरू होता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार आयुर्वेदीय संहिताओं का समय २५०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच में आता है। चरक और सुश्रुत की तिथि १००० ई० पू० निर्णीत होती है। इन्हीं दोनों ग्रन्थों के समय से अन्य अङ्गों का भी प्रादुर्भाव काल प्रारम्भ होता है। डा० वाइज (Dr. Wise, 1845) ने २ शल्य सम्प्रादायों, ९ कायचिकित्सा सम्प्रदायों ३ औषधि (द्रव्यगुण) शास्त्र के, मात्रानिर्धारण का एक, भैषज्य कल्पना का एक और रसशास्त्र के ३ संम्प्रदम्य प्राचीन काल में प्रचलित थे ऐसा उल्लेख किया है। भोजप्रबन्ध (सन् ९८० ई० में लिखित) में संज्ञाहर औषधियों का वर्णन मिलता है जिनको शस्त्रकर्म करते समय सुँघाया जाता था। महात्मा बुद्ध के काल में 'सम्मोहनी' औषधियों का प्रयोग शल्यकर्म सम्पादनार्थ व्यापक रूप से किया जाता था।

मौलिक अन्वेषण के इस युग में आयुर्वेद का प्रचार सूदूर पश्चिम के देश यूनान, मिश्र, और रोम आदि तक हुआ। इन देशों की जलवायु औषधियों आदि का भारतीय विद्वानों ने सूक्ष्मता से अध्ययन किया और उनके चिकित्साशास्त्रों को अपने सिद्धान्तों से प्रभावित किया। धत्तूर के श्वासहरत्व और जयपाल के भेदन कर्म का परिज्ञान भारत ने ही अन्य लोगों को कराया। भारत से इन देशों को औषधियों का निर्यात किया जाता था। जिनका उल्लेख पाश्चात्य विद्वानों प्लाइनी, कैप्टन जान्स सेन्ट आदि ने बड़े गौरवपूर्ण शब्दों में किया है।

जब से भारत पर विदेशियों के आक्रमण शुरू हुए तभी से आयुर्वेद का ह्रास प्रारम्भ हुआ। अहिंसा का प्रचार तथा सामाजिक कुरीतियों ने भी इसमें अपना योगदान किया। मुसलमानों ने हिकमत को प्रोत्साहन दिया और यूनानी औषधशास्त्र ने आयुर्वेद को प्रभावित किया। किन्तु राजनीतिक अस्थिरता के कारण इनका सम्यक् विकास न हो सका। अंगरेजों के आगमन के साथ ही साथ एलोपैथि का प्रचार बढ़ा अतएव मिश्र चिकित्साविदों का

प्रादुर्भाव हुआ। कुछ पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रज्ञ आयुर्वेद के बहुमूल्य रत्नों को प्राप्त करने की दृष्टि से इस ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने यह सोचा कि जब यह चिकित्सा विज्ञान इतने बाधाओं और सर्वनाश का सामना करके आज भी जीवित है तो इसमें कोई न कोई अच्छाई अवश्य है जिसका अध्ययन करना मानव-मात्र के लिए हितकारो होगा। अतएव उन्होंने नव्य चिकित्सा विज्ञान के शरीर, जीवाणु, विकृति तथा रसायन ज्ञान को वात-पित्त-कफ के सिद्धांतों के साथ समन्वित करने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप विविध अन्वेषण प्रतिष्ठानों का उदय हुआ। इसी बीच एक ऐसे वर्ग का भी प्रदुर्भाव हुआ जो यह कहने लगा कि नव्य चिकित्सा विज्ञानीय सिद्धान्तों का आयुर्वेदीय सिद्धांतों के साथ तालमेल बैठाना बहुत ही मुश्किल है। ऐसा करने में "विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामासवानरं" की उक्ति चरितार्थ होगी। इतना सब होते हुए भी अन्वेषण की महत्ता से कोई ना नहीं कर सकता और इस मार्ग का अवलम्बन करने से अनेक ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं जिनसे आयुर्वेद की वैज्ञानिकता और उपादेयता सर्ववादि संमत हो जाती है।

उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि अशोक का गुण असृग्दरहर है या पुनर्नवा शोथहर है तो हमें इसके साथ यह भी समझना पड़ेगा कि किस रूप में ये ओषधियाँ कार्य करके उन धातुओं पर प्रभाव डालती हैं जिनमें विकार उत्पन्न होने के कारण उपर्युक्त व्याधियों की उत्पत्ति होती है। दूसरी बात यह भी है कि पुनर्नवा स्वरस वर्ष भर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना कठिन है अतएव उसमें कौन सा ऐसा तत्त्व है जो शोथशामक गुण रखता है यदि इसका ज्ञान हो जाय और उसको हम रासायनिक या अन्य रीति से बना सकें तो इससे औषध के आरक्षण की कठिनाइयों से बचा जा सकता है। तीसरे उनका हम विदेशों में निर्यात भी कर सकते हैं और उससे हमारी अर्थव्यवस्था में दृढ़ता उत्पन्न होगी।

यहाँ पर यह प्रतिशङ्का भी उठाई जा सकती है कि वर्तमान काल में जब संयोगज (कृत्रिम) औषधियाँ इस सरलता से उपलब्ध होती हैं जो अल्प मूल्य में ही भयानक व्याधियों को मिटा देती हैं तो आयुर्वेद में अन्वेषण करने से लाभ क्या मिलेगा जिसमें समय और धन दोनों का अपव्यय होता है? तो इसके लिए एक छोटा सा उदाहरण सर्पगन्धा का दिया जा सकता है। उच्च रक्त निपीड़ में आज तक इससे बढ़कर कोई औषध उपलब्ध न हो सकी और उसके चूर्ण या क्वाथ की अपेक्षा कार्यकारी तत्त्व का प्रभाव अधिक होता है इसमें भी किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। अश्वगन्धा, बला आदि सैकड़ों औषधियों को इस रूप में उद्धृत किया जा सकता है।

अन्वेषण से आयुर्वेद को भी लाभ है। हम प्रारम्भ से देखते हैं कि पञ्चविध कषाय कल्पनाओं के आगे वटी, स्नेह-क्षीर पाक, आसवारिष्ट निर्माण, रस भस्मादि की उत्पत्ति हुई जो धीरे-धीरे होने वाले विकास और प्रगति का द्योतक है। उसको और आगे क्षार, कार्यकारी तत्त्व आदि की प्राप्ति के रूप में विकसित किया जा सकता है। उसी प्रकार हिमवान् पर उत्पन्न होने वाली जिन औषधियों का ग्रहण किया गया है उनके साथ ही साथ बेलाडोना, एफेड्रा, आर्टीमिजिया आदि वनस्पतियाँ उगती हैं। ये अनेक रोगों में लाभकारी सिद्ध हो चुकी हैं अतएव उनका भी निघण्टुओं में समावेश किया जा सकता है। अन्वेषण किसी एक व्यक्ति या संस्था के वश की बात नहीं है, इसके लिए अनेक विशेषज्ञों को एक साथ मिलकर सहयोग करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ वैद्य इस बात को रसायन शास्त्री को जब बतायेगा कि पुनर्नवा शोथ को ठीक करती है तो वह इस बात की खोज करेगा कि वह कौन सा तत्त्व है जो इस औषध को कार्मुकता प्रदान करता है। इसकी निश्चिति हो जाने पर भैषज्यविद् उस तत्त्व का प्रयोग जीवों में करेगा और उसके कार्य करने की पद्धति का विनिश्चय करेगा। इस प्रक्रिया से जब इस बात का प्रमाण मिल जायेगा कि हाँ यह तत्त्व शोथ में लाभ पहुँचाता है तो पुनः इसका आतुरों पर परीक्षण किया जाता है और आशानुकूल सफलता मिलने पर व्यापारिक तौर पर इसके प्रचुर मात्रा में निर्माण का कार्य हाथों में लिया जाता है।

कुछ औषधियाँ ऐसी हैं जो भारत में नहीं उत्पन्न होतीं किन्तु यहाँ ऐसी जलवायु मिलती है जिसमें उनको उगाया जा सकता है, जैसे डिजिटेलिस, सिनकोना, जलप आदि; और ये प्रयोग को दृष्टि से बड़े काम की हैं। अतएव इनको भी आत्मसात् किया जा सकता है। इसी प्रकार औषधियों की ठीक तरह से पहचान करने तथा उन्हें मिलावट से बचाने के लिए भी उगाना आवश्यक हो गया है। कलम लगाकर, उचित चुनाव करके, शंकर जातियों के उत्पादन और उत्परिवर्तन आदि उपायों का भी खेती करने में प्रयोग किया जा सकता है ताकि औषधियाँ रस गुण वीर्य प्रभाव आदि से परिपूर्ण उत्पन्न हो सकें। इन गुणों आदि के समकक्ष नव्यचिकित्सा विज्ञान में अधोलिखित शब्दों का प्रयोग होता है। इन मनीषियों के विचार से प्रत्येक औषध एक विशेष कार्मुक गुण (Active principle) के आधार पर ही अपना प्रभाव दिखलाती है। इसमें प्रथम वर्ग में तिक्तियों (amines) और क्षारों (alkaloids) का समावेश होता है। ये तत्त्व भेषज और विषज दोनों ही प्रकार के प्रभाव करते हैं। तिक्तियों की पहचान दुर्गन्धि से और क्षारों की तिक्तरस से होती है। दूसरे वर्ग में मधुमेय (glycosides) आते हैं। ये भी तिक्तरस वाले तथा उभय प्राकर के प्रभाव

वाले होते हैं। तीसरा वर्ग उड़नशील तैलों (essential or volatile oils) का है। इनका प्रभाव सामान्यतया कृमिघ्न होता है। चौथा वर्ग विषश्विति (Toxalbumins) का है। ये प्राय: तैल वाली वनस्पतियों में मिलते हैं। पाँचवें वर्ग में निर्यास (Resin) आता है। छठवें में जीवाणु निरोधी तत्त्व (antibiotcics) का समावेश होता है। इन तत्त्वों की उत्पत्ति एक वर्ग के औषधियों में समान रूप से होती है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार नवीन द्रव्य पुराने द्रव्यों की अपेक्षा अधिक कार्मुक होते हैं। कुछ ऐसे भी द्रव्य हैं जिनका हरे रूप में ही व्यवहार करने का निर्देश किया गया है। किन्तु नव्य चिकित्सा विज्ञान इन सिद्धान्तों से सहमत नहीं होता। उसके अनुसार हरे और शुष्क द्रव्य के रासायनिक संगठन में कोई विशेष भेद नहीं हैं। यदि कुछ हो भी तो वह विटामिनों की उपलब्धि मात्र का हो सकता है। इतने से ही कार्मुकता में कोई महान अन्तर नहीं आ सकता। अतएव इस परस्पर विरुद्ध मत का भी निराकरण करना होगा।

इस सब के साथ ही एक भेषज संहिता (Pharmacopoeia) के निर्माण की ओर भी अग्रसर होना होगा जिससे औषधधियों का मान, उनके भेषज गुण का उल्लेख, पहचान, शुद्धता और घटक आदि का निश्चय किया जा सके। इसमें उन्हीं योगों का समावेश किया जाना चाहिए जिनके गुण धर्म सुपरिक्षित हों और मात्रा आदि का निर्धारण कर दिया गया हो।

Poisnous Plants of India—इस पुस्तक के लेखक डा चोप्रा, डा. भदवार और डा. घोष हैं। इसमें सविष भारतीय वनस्पतियों का वर्णन है। वनस्पतियों का प्राणी शरीर पर तत्काल ही विष प्रभाव हो ऐसा मानना युक्ति संगत नहीं है। वे धीरे धीरे भी शरीर को नुकसान पहुँचा सकती हैं। इसी प्रकार कुछ वनस्पतियाँ जैसे आलू वैसे तो भोज्य पदार्थ के रूप में बड़ी बहुतायत से इस्तेमाल होता है किन्तु एक विशेष समय पर (जब वह अंकुरित होता है तो) उसमें विषैलापन आ जाता है। या कुछ द्रव्य अधिक काल तक लगातार सेवन करते रहने पर (जैसे खेसारी की दाल) अपना विषमय प्रभाव दिखलाते हैं। इस तरह वत्सनाभ जैसे सविष द्रव्यों से लेकर आलू जैसे खाद्योपयोगी किन्तु अवस्थानुसार सविष हो जाने वाली वनस्पतियों का इस पुस्तक में बड़े परिश्रम पूर्वक संग्रह किया गया है। इसका द्वितीय भाग मुझे देखने को न मिल सका।

इसमें यथासम्भव वनस्पतियों के नामों, उनके वर्ग, चित्र, विवरण, रासायनिक संघटन आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। पुस्तक सभी के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इसका जानना इसलिये भी आवश्यक है कि

सजीव प्राणि जगत अपने भोजन के लिये वनस्पतियों पर आश्रित रहता है। दोनों का मूलद्रव्य (Protoplasm जीवनमूल) ऐसा है जिसका पोषण सामान्य अनिन्द्रियिक पदार्थों से नहीं हो सकता वे अपने भरण के लिये जटिल स्वरूप वाले ऐन्द्रियिक पदार्थों यथा कर्बोज, प्रोभूजिन और वसा का आदान करते हैं। हरी वनस्पतियाँ भोजनार्थ कार्बन डाई आक्साइड, जल और उसमें विलीन लवणों यथा नाइट्रेट, सल्फेट, फास्फेट आदि का ग्रहण करती हैं। अपनी हरीतिमा (chlorophyle) और सूर्य के लाल-वैगनी-पीले किरणों की शक्ति के संयोग से आदत्त कार्बन डाई आक्साइड और जल का शर्करा तथा कर्बोज के अन्य यौगिकों में परिवर्तित करती हैं और प्राणवायु को उन्मुक्त करती हैं। इस प्रक्रिया को कार्बन एसीमिलेशन या फोटो सिन्थिसिस कहते हैं। इसके लिये हरोतिमायन्त्र का और अंशुमाली की अंशु शक्ति का कार्य करती हैं। इसी के माध्यम से जटिल रचना वाले द्रव्यों यथा प्रोभूजिन का जल में घुले हुए नाइट्रेट के द्वारा निर्माण किया जाता है। इस प्रकार सामान्य तत्त्वों से जटिल रचनाओं का निर्माण केवल वानस्पतिक जगत में ही होता है इसीलिये जीवधारियों को इन पदार्थों को उपलब्धि के लिए वनस्पतियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

वनस्पतियों में जिस प्रकार भोज्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार तिक्तियों (amines) क्षार, मधुमेय, मिहिक (purine) विषस्विति, निर्यास आदि की भी उत्पत्ति होती है। आयुर्वेदीय संहिताओं विशेषतः सुश्रुत संहिता (१००० ई० पू० से पहले निर्मित) में भी विषकल्प का वर्णन मिलता है। विषों का प्रभाव जीवकोशों के प्राकृतिक कर्म को व्यवहित कर देते हैं। उनकी क्रियाओं में उत्तेजना या अवसाद उत्पन्न हो जाता है जिसकी परिणति उनके विनाश या मृत्यु में होती है। अधिक उत्तेजना से तन्तुओं का विभाग होने लगता है। अवसाद से उनकी क्रिया बन्द हो जाती है। इसी प्रकार यह स्थानिक, सार्वदेहिक दूरस्थ अथवा कुछ विशिष्ट स्थानों और अवयवों पर अपना प्रभाव डालते हैं।

स्थानिक प्रभाव उस स्थल पर होता है जहाँ से विष का शरीर में प्रवेश होता है जैसे मुख से लिए विष का आमाशय और उसकी श्लेष्म कलाओं पर प्रभाव होता है। सार्वदेहिक प्रभाव रक्तपरिभ्रमण में शोषित होकर किसी अवयव विशेष पर होता है। प्रायः विष से जिस अवयव का सम्बन्ध होता है उस पर ही प्रभाव करता है किन्तु कभी-कभी नाड़ियों के अथवा रक्तसंवहन के माध्यम से वह दूरवर्ती अवयवों को भी प्रभावित करता है। अधिकांश विषों में एक प्रकार के विशेष आकर्षण के कारण किसी अवयव विशेष को ही प्रभा-

वित करने की शक्ति होती है। इस प्रकार कुछ हृदय पर प्रभाव डालते हैं, कुछ केन्द्रिय नाड़ी संस्थान पर तो कुछ चेष्टावह नाड्यग्रो पर। कुछ विष रक्त-कणों का अंशन करके अथवा रक्त कायाणुओं के भीतर उपस्थित रहने वाले प्राणवायु का विनाश करके मृत्यु उत्पन्न करते हैं। केन्द्रीय नाड़ी संस्थान पर भी इनकी क्रिया एक सी नहीं होती, एट्रोपीन मस्तिष्क को उत्तेजित करता है तो मार्फीन उसे अवसन्न कर देता है। स्ट्रिक्नीन का प्रभाव सुषुम्ना पर होता है तो पाइलोकार्पीन और फाइसोस्टिग्मीन का प्रभाव नाड्यग्रों पर होता है।

विष प्रभाव उत्पन्न होने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह रक्त में घुल जानेवाला हो। इसीलिये घन (गोली के) रूप में लिया गया विष अधिक काल के पश्चात् प्रभाव करता है। आमाशय भोजन से पूर्ण है तो उस पर विषों की प्रक्रिया देर से होती है, बनिस्पत रिक्त कोष्ठ के। इसीलिये शरीर की अनेक प्राकृत एवं वैकृत अवस्थाओं के ऊपर विषप्रभाव आश्रित होता है। किसी-किसी शरीर में प्रतिबन्धन क्षमता या अनूर्जता भी उपस्थित होती है। यदि अल्पमात्रा से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे मात्रा को बढ़ाया जाय तो मनुष्य के शरीर में सहन शक्ति भी उत्पन्न हो सकती है। यह शक्ति तन्तुओं द्वारा उसका शीघ्र उत्सर्ग करके अथवा प्रतिविष का निर्माण करके अर्जित की जाती है। कुछ प्रकार के विषों यथा डिजिटैलिस, एमेटीन आदि में संचित होने की प्रवृत्ति होती है।

विष के लक्षण और कुछ रोगों के लक्षण प्रायः मिलते-जुलते से उत्पन्न होते हैं अतएव आहार-विहार आदि के वृत पर सावधानी से विचार करके तब निश्चित करना चाहिये। चिकित्सा में प्रक्षालन (स्थानिक अथवा सार्व-देहिक) ही प्रमुख है। वमन, आमशय प्रक्षालन आदि का उपयोग किया जा सकता है। भौतिक अथवा रासायनिक प्रतिविषों का भी प्रयोग श्रेयस्कर होता है। यदि विष स्नेह विलेय न हो तो घृत-दुग्धादि का प्रयोग बहुत ही उत्तम होता है। विरेचक, मूत्रल और स्वेदल औषधों का प्रयोग लाक्षणिक चिकित्सा आदि का ध्यान रखना चाहिये।

गुजराती भाषा में लिखी हुई द्रव्यगुण की पुस्तकें—

१. **वनस्पति गुणादर्श**—इस पुस्तक का प्रकाशन भावनगर राज्य की ओर से सन् १९०२ ई० में कराया गया। पुस्तक को आधुनिक समाज के अनुकूल बनाने के लिये स्वास्थ्यरक्षा की विधियों, दोषों का परिज्ञान, द्रव्यादि के गुण-कर्मानुसार वर्ग और उनमें पथ्यापथ्य विवेचन अंग्रेजी औषधियों के कार्य करने की प्रक्रिया तथा कुछ प्रतिदिन के काम में आने वाली औषधियों के गुण-कर्मादि का वर्णन है।

वनस्पति शास्त्र—इसमें काठियावाड़ क्षेत्र के बरडा पहाड़ी पर प्राप्त होनेवाली औषधियों का विवेचन किया गया है। लेखक हैं ठाकुर जयकृष्ण इन्द्रजी, आप पोरबन्दर स्टेट में वनोपवन विभाग के डाइरेक्टर चुके हैं। इसलिये यह संग्रह बहुत प्रामाणिक है। पुस्तक का प्रकाशन सन् १९१० में हुआ। इसमें लगभण ६११ वनस्पपतियों का वर्णन किया गया है।

लेखक का कथन बिल्कुल युक्ति-युक्त है कि केवल नाम मात्र ज्ञान से वनस्पति का ज्ञान होना नहीं माना जा सकता है। इसके लिए एक विशिष्ट पद्धति पूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता होती है। इसमें सबसे पहले नैसर्गिक वर्ग को जानना जरूरी है। इससे एक वनस्पति का परिचय हो जाने पर उस वर्ग की सभी अन्य वनस्पतियों का परिचय अपने आप स्फुटित होने लगता है उदाहरणार्थ कोशातकी (भिण्डी Malvaceae) वर्ग में लगभग ७०० वनस्पतियाँ आती हैं। यदि एक भिण्डी का सम्यक् परिचय प्राप्त कर लिया जाय तो अन्य ६९९ को जानने में आसानी होगी। एक वर्ग की औषधों का गुण-दोष भी समान होता है अतएव इससे यह भी ज्ञान हो जायेगा कि इसमें कोई भी वनस्पति विषैली नहीं है प्रत्युत सभी उपलेपक और पौष्टिक हैं। इसी प्रकार एक धतूरे को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि इस वर्ग (Solanaceae) की सभी १२५० वनस्पतियाँ मादक और विषैली होंगी।

परिचय प्राप्त करने के लिए हरी वनस्पतियों का ग्रहण करना चाहिये और उनके नैसर्गिक वर्ग, उसके गुण दोष, शास्त्रीय नाम, शास्त्रीय वर्णन, देशी, भाषा के नामों, मूल-काण्ड-पत्र-पुङ्खपत्र, पुष्पवृत्त, फूलों की पंखड़ी और उसके वृन्त, पुष्प का बाह्य और आभ्यान्तर कोष, पुंकेसर, स्त्रीकेसर, फल, बीज, वनस्पति विशेष के उपयोगी अंग और उनका औषधीय गुणदोष, उपयोग आदि का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिये।

आर्यभिषक—इस ग्रन्थ की मूल रचना मराठी भाषा में श्रीयुत् शंकरदाजी पदे शास्त्री ने की थी। उसका गुजराती भाषान्तर काशी निवासी श्री हरे कृष्ण भगवान लाल व्यास ने किया। यह पुस्तक जनसासान्य के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। इसका प्रमाण यही है कि सन् १९५१ तक गुजराती भाषा में ५१२०० प्रतियाँ बिक चुकी हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध को वनौषधिगुणादर्श संज्ञा दी गई है, इसमें वनस्पतियों के गुणधर्म (निघण्टु) का विवेचन है।

उत्तरार्ध में कई प्रकरण हैं। वैद्यक में रोगों के निदान, लक्षण, चिकित्सा और पथ्यापथ्य का विवेचन है। गोवैद्यक में गाय के घृत, दुग्ध, तक्र, गोमय, गोमूत्र आदि के गुणों का वर्णन किया गया है। प्राणिज औषधियों में उनके

विभिन्न अवयवों के औषधीय उपयोग का वर्णन है। रसवैद्य प्रकरण में खनिजों का वर्णन है उनके शोधनमारण, आमयिक प्रयोग और अनुपान आदि का वर्णन है। औषधि क्रिया प्रकरण में यन्त्रों, रसौषधियों और काष्ठौषधियों के चूर्ण गुटिका आदि का वर्णन है। बृहत्पाक संग्रह में अवलेहों, शरबत आदि का और अन्त में अश्वरोग परिज्ञान प्रकरण है।

निघण्टु आदर्श—दो भागों में समाप्त इस पुस्तक के लेखक श्रीबापालाल-भाई शाह हैं। आप सूरत आयुर्वेदिक कालेज के बहुत समय तक प्रिंसिपल रहे हैं। इसमें लगभग ७०० वनौषधियों के बारे में प्राच्य-पाश्चात्य मतानुसार सुविवेचित परिचय प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति सन् १९२७ में निकली। इस पुस्तक का उपोद्घात भाग ऐतिहासिक तथा वनस्पतिशास्त्रीय दोनों ही दृष्टियों से बहुत उपयोगी है। वनस्पतियों की उपयोगिता के विषय में वर्न यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर •इश्कर्क का मत है कि नव्य चिकित्सा विज्ञान जब जैवकीय और यौगिक औषधियों को आत्मसात करते-करते अजोर्णग्रस्त हो जायेगा तो वनस्पतियों की ओर अग्रसर होगा। औषधियों का जो गुण धर्म आयुर्वेद में आज से हजारों वर्ष पहले लिखा गया है वही नव्य चिकित्सा-विज्ञानीय प्रयोगों द्वारा पुष्ट होता है। उदाहरणार्थ डा० चोप्रा ने यही सिद्ध किया कि पुनर्नवा मूत्रल होती है क्योंकि उसमें पुनर्नवीन पाया जाता है या डा० सरबियर ने यही सिद्ध किया कि अतीस अतिसारहर है। सर मोनियर विलिम्स और सर डेविड ब्रेन्डिस के मतानुसार औषधियों के संस्कृत नाम एक विशिष्ट अर्थ और गुण कर्म के सूचक हैं। इसलिये उनका उपयोग बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिये।

आर्य औषध—इस पुस्तक के लेखक डा० वीरजी झीणाभाई रावल, एल० एम० ऐन्ड एस हैं। प्रकाशन सन् १९३२ ई० में श्री हरिभाई दलपतराय पटेल, शाहपुरा अहमदाबाद द्वारा किया गया जो इसकी तीसरी आवृत्ति थी। इसका मतलव यह है कि अपने पिछले दो आवृत्तियों में पुस्तक खूब लोकाप्रय हुई थी। इसमें वनस्पतिओं के साथ ही साथ रोगों और उनकी चिकित्सा में प्रयुक्त योगों का भी संग्रह है। इसमें कुल ५ प्रकरण हैं धातु वनस्पति, प्राणि वर्ग, चिकित्सा एवं व्याधिप्रकरण।

सन्दिग्धनिर्णय वनौषधिशास्त्र—इस ग्रन्थ के प्रणेता और सम्पादक आयु-र्वेद महामहोपाध्याय रसायनशास्त्री पं० भागीरथ स्वामी आयुर्वेदाचार्य हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ ५ भागों में समाप्त हुआ है प्रत्येक औषध का प्राच्य पाश्चात्य ढंग का उपलब्ध वर्णन तो संकलित किया ही गया है कुछेक के चित्र भी दिये गये हैं। पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३६ में किन-किन कठिनाइयों के

बावजूद हुआ इसका वर्णन स्वयं स्वामी जी के ही शब्दों में पढ़ने योग्य है। पुस्तक सर्वांग में उपयोगी है।

आयुर्वेदचिन्तामणि—इसका संग्रह मुरादाबाद निवासी स्वर्गीय सुखानन्द मिश्र जी के पुत्र पं० बलदेव प्रसाद मिश्र ने चरक, सुश्रुत, भावप्रकाशादि ग्रन्थों के आधार पर किया है। प्रकाशन सन् १९३७ में 'लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर' प्रेस से हुआ। इसमें कुल बाइस वर्ग हैं। जिनमें औषध, अन्न, धातूपधातू आदि का वर्णन है।

बनस्पति परिचय (संक्षिप्त सचित्र)—इसके लेखक श्री अन्तूभाई वैद्य यद्यपि गुजराती मातृभाषा वाले हैं किन्तु पुस्तक को हिन्दी में लिखकर राष्ट्र-भाषा को उन्होंने अपूर्व सेवा की है। इसका प्रकाशन सन् १९५२ में आयुर्वेद-रिसर्च इंस्टीच्यूट, कलम कुटीर, फ्रियर रोड, बम्बई १ से हुआ है। पुस्तक का लेखन प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों को समन्वित करते हुए किया गया है। औषधियों के रचनात्मक विवरण के साथ ही साथ रस गुण वीर्य विपाकादि आयुर्वेदिक सिद्धान्तों का तथा प्रभाव का विशद विवेचन किया गया है।

नामैकशेष निघण्टु पुस्तकें—नेपाल राजगुरु पं० हेमराज शर्मा ने काश्यप संहिता के उपोद्घात में लिखा है कि सुश्रुत उत्तरतन्त्र के अन्त में निघण्टु भाग प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में मिलता था। उसके निर्माता कोई सुश्रुतवंशीय आचार्य ही थे अतएव उन्होंने उसे 'सौश्रुत' शब्द से संबोधित किया है। वह अंश अब मुद्रित रूप में उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रकार अष्टाङ्ग हृदय संहिता के परिशिष्ट रूप में 'अष्टाङ्गनिघण्टु' अरुणदत्त हेमाद्रि की टीका विरचन से पूर्व उपलब्ध होता है ऐसा पं० हरिशास्त्री पराड़कर जी का मत है। किन्तु वह भी ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

कोषों में भी निघण्टु के कुछ अंश मिलते हैं। इनमें अमरकोष तो उपलब्ध होता है किन्तु अन्य कोश यथा शब्दमाला, रत्नमाला, भूरिप्रयोग, जटाधर कोष, अभिधान रत्नमाला, शब्दरत्नावली, शब्दचन्द्रिका, विश्वप्रकाश, धरणी, हारावलि आदि नहीं मिलते। निघण्टुओं में काशिराज धन्वन्तरि कृत राजनिघण्टु, निघण्टुप्रकाश, चन्दचन्दनकृत गणनिघण्टु या मदनादि निघण्टु, भोजराज निघण्टु, शेषराज निघण्टु बोपदेव कृत हृदयदीप, मुद्गलकृत द्रव्य-रत्नाकर, कैयदेवकृत कैयदेवरत्नाकर निघण्टु, केशवकृत सिद्ध मंत्र आदि भी नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से ग्रन्थ होंगे जिनका नाम नही ज्ञात हो पाता।

पाकशास्त्र का विकास

अनादिकाल से मनुष्य को जिह्वा की चञ्चलता सताती आ रही है। इसे जिसने वश में किया वह नीरुज हुआ और जो इसके वश में गया वह रोग के

फन्दे में से उबर न सका। आहार को रुचिकर होने के साथ ही साथ हितकर बनाने के लिए इस विषय का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। इस विषय के उपलब्ध ग्रन्थों का विवरण दिया जा रहा है—

१ **पाकदर्पण**—यह ग्रन्थ महाराज नल विरचित है। महाभारत आदि पुराणों में नल नाम के दो राजाओं का उल्लेख मिलता है एक सूर्यवंशीय निषध पुत्र और दूसरे चन्द्रवंशीय वीरसेन के पुत्र, निषधाधिपति नल। इन्हीं द्वितीय नल के ऊपर श्री हर्ष ने नैषधकाव्य की रचना की और यही महाराज नल इस शास्त्र के प्रणेता हैं। ये अश्वविद्या पारंगत भी थे। इनके काल के विषय में ऐसी किवदन्ती है कि ये सतयुग में उत्पन्न हुए थे।

इस ग्रन्थ में कुल ११ प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण में समुचित आहार का रोगनाशकत्व, नल राजा का परिचय, भोज्य पदार्थों के भेद, विविध प्रकार के अन्न के लक्षण, मांसौदन, सूप, तक्रादि के लक्षण बताये गये हैं। यह प्रकरण अन्य सभी प्रकरणों से बड़ा है। द्वितीय प्रकरण में ऋतुविभाग, उनके धर्म और तदनुकूल मांस पकाने और खाने की विधि बतायी गई है। तृतीय प्रकरण के अन्त और चतुर्थ प्रकरण के आदि का उल्लेख नहीं मिलता। इनमें विविध प्रकार के मोदक बनाने की विधि, पञ्चम में रसाला बनाने की, षष्ठ में भात बनाने, सप्तम में उसे वासित करने, अष्टम में फलों के रस का निर्माण, नवम में जल को वासित करने की, दशम में दुग्ध के पायस आदि बनाने की और एकादश में दधि के विभिन्न व्यञ्जनों के बनाने की विधि का वर्णन है।

इस पुस्तक का संशोधन वाराणसीस्थ राजकीय सस्कृत पाठशाला में न्यायशास्त्र के अध्यक्ष न्यायाचार्य पं० वल्भचरण भट्टाचार्य ने किया और मुद्रण विद्याविलास प्रेस चौखम्बा बनारस से सन् १९७६ में हुआ।

(२) **क्षेमकुतूहल**——इस ग्रन्थ के कर्ता का नाम क्षेम शर्मा है। ये राजा विक्रमसेन के दरबार में पण्डित और वैद्य थे। पिता का नाम श्री मन्मथ शर्मा और माता का नाम सीता देवी था। ये दिल्ली के पास महाराज ग्राम के निवासी थे और चैत्र शुक्ल १३ सं० १६०५ वि० में इस ग्रन्थ को इन्होंने पूर्ण किया। ग्रन्थ के प्रथम उत्सव में वंश वर्णन दिया हुआ है। इसका प्रकाशन आचार्य यादव जी के द्वारा आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के तेरहवें पुष्प के रूप में सन् १९२० में किया गया है। बारह उत्सवों (अध्यायों) में यह ग्रन्थ समाप्त होता है। प्रथम उत्सव में परिभाषाकथन, द्वितीय में शरीर का आहार से पोषण तथा महानस और उसके उपकरणों का वर्णन, तृतीय उत्सव में वैद्य और सूदकार के गुणों का वर्णन, चतुर्थ में ऋतुओं का लक्षण और ऋतुचर्या,

पञ्चम में दिनचर्या, रात्रिचर्या और सद्वृत्त वर्णन, षष्ठ में विविध प्रकार के मांस का वर्णन, सप्तम में मत्स्यमांस का, अष्टम में शाक का, नवम में मिष्ठान्न का, दशम में पक्वान्न का, एकादश में क्षुद्बोधक द्रव्यों का और बारहवें में गोरस, पान आदि का वर्णन है।

(३) **पाकविलास**—इसकी रचना श्री जयदेव नृपति के पुत्र श्री पञ्चम सिंह के कृपापात्र श्री साहु ने किया है और रीवाधिपति महाराज श्री गुलाब सिंह जी देव ने सं० १९७६ में श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस मे प्रकाशित कराया। इसमें हिन्दी के दोहा, चौपाई, छन्द आदि में भोज्य द्रव्यों के प्रकार और उनके बनाने का विधान वर्णित है।

भैषज्य कल्पना—इस शाखा का विकास उस समय हुआ जबकि अधिकांश लोगों ने औषधि अपने हाथ से बनाना छोड़ दिया और अन्य निर्माताओं पर आश्रित रहने लगे। इस दिशा में अनेक वैद्यों ने प्रयास किया और उसके परिणामस्वरूप अनेक ग्रन्थ सामने आये। इस समय गुरुकुलों की परम्परा समाप्त हो रही थी और विद्यालयों का अभ्युदय हो रहा था।

१. **वैद्यक परिभाषा प्रदीप**—यह ग्रन्थ श्री गोविन्दसेन के द्वारा संगृहीत है। इस पर श्रीमन् जीवानन्द विद्यासागर के पुत्र श्री आशुबोध विद्याभूषण ने संस्कृत में टीका भी लिखी है। द्वितीय संस्करण का प्रकाशन सन् १९३४ में में हुआ। इसमें कुल ४ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में परिभाषा, मानविनिश्चय, द्रव्यग्रहण विधि और उनके प्रयोग का निर्देश एवं प्रतिनिधि द्रव्यों के ग्रहण करने की विधि का वर्णन है। द्वितीय खण्ड में स्वरस बनाने की विधियों, कल्प-चूर्ण, क्वाथ, शीतकषाय, फाण्ट, लेह, वटिका, पानीय साधन, यवागू-निर्माण, क्षीरपाक आदि का विधान बताया गया है। तृतीय खण्ड में घृत-तैल पाक, गुडपाक, अनुपान विधि वयोनुसार औषध प्रयोग विधि और औषध काल तथा पारिभाषिक शब्दों यथा त्र्यूषण, चतुरम्ल, पञ्चलवणादि में ग्राह्य औषधों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ खण्ड में पञ्चकर्म से संबद्ध औषधियों के निर्माण की विधि और उनके प्रयोग का निर्देश है।

२. **द्रव्यगुण विज्ञानम्**—आचार्य श्री यादवजी महाराज द्वारा उपनिबद्ध यह ग्रन्थ यद्यपि नाम से द्रव्यगुण विषयक ग्रन्थ प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में देखा जाय तो इसके उत्तरार्ध के प्रथम खण्ड का भैषज्य कल्पना से अधिक सम्बन्ध है। इसमें भी पूर्वोक्त ग्रन्थ के समान ही परिभाषा, पञ्चविधकषाय कल्पना, घृत-तैल पाक, यवागू निर्माण आदि विषयों का वर्णन है।

रोगी की चिकित्सा तब तक अपूर्ण रहती है जब तक कि वह पथ्य का पालन नहीं करता। अतएव चिकित्सा के साथ ही साथ पथ्य व्यवस्था का भी स्वतन्त्र

रूप में विकास हुआ। इस पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। सम्प्रति कतिपय, उपलब्ध पुस्तकों का विवेचन किया जाता है—

पथ्यापथ्य विनिर्णय[1]-इसकी रचना महामहोपाध्याय विश्वनाथ कविराज ने की है। इसमें माधव निदान क्रमोक्त लगभग ७६ व्याध्यधिकारों की पथ्यव्यवस्था का उपनिबन्धन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न दोषों और ऋतुओं के अनुकूल पथ्यव्यवस्था का भी निर्धारण किया गया है। ये विश्वनाथ कविराज श्री उमापति के प्रपौत्र, वैद्यशिरोभूषण श्री तपन के पौत्र और श्री नरसिंह सेन के पुत्र हैं। इनकी माता का नाम श्री मती गोरी है। लगभग ६ सौ से अधिक श्लोकों में समाप्त सपरिशिष्ट इस ग्रन्थ का प्रकाशन पं० दत्तराम चतुर्वेदी, मथुरा निवासी ने सं० १९७८ वि० में अपने प्रयत्न से कराया। इसके बाद श्री खूबचन्द शर्मा गौड़ की टीका युक्त ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९३८ में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से हुआ। इसमें एक और परिशिष्ट जोड़ दिया गया जो पञ्चकर्म से सम्बन्धित है।

अनुपानतरङ्गिणी—पं० सीतारात्मज रघुनाथ प्रसाद सुकुल ने इसकी रचना की ऐसा प्रतीत होता है। पं० व्रजबल्लभ गौड़ ब्राह्मण की अनुमति से नवलकिशोर यन्त्रालय के उत्तराधिकारी श्रीमत्तेज कुमार भार्गव ने सं० २००८ में इसको प्रकाशित किया। इसमें सुवर्णादि सप्तधातुओं की भस्मों तथा विविध योगों के अनुपान स्वरूप में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इसके वाद विशिष्ट रोगों के भी अनुपान का वर्णन है। प्रसङ्गात् धातुओं का शोधन-मारण भी बताया गया है।

इसमें कुल ७ वीथो हैं। अन्त में ग्रन्थकर्त्ता का परिचय उपनिबद्ध है। श्रीमान् रमणबिहारी ने इसकी भाषा टीका की है।

शारीर शास्त्र

आयुर्वेद में यह उपाङ्ग बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत शरीर की रचना और उन अवयवों की क्रिया दोनों का ही समावेश होता है। संहिताओं में यह विषय शारीरस्थान के अन्तर्गत प्रायः वर्णित किया गया है। सुश्रुत-संहिता के शारीरस्थान पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालयोय आयुर्वेदिक कालेज के भूतपूर्व प्रोफेसर भास्कर डा० गोविन्द घाणेकर जी की टीका शारीर का वर्णन

१. विद्वद्भर्तुरुमापतेः प्रबिलसत्कीर्तिः प्रपौत्रस्तु यः,
पौत्रः श्रीतपनस्य सत्कविमणेः सद्वैद्यचूड़ामणेः।
श्रीगौरी-नरसिंहसेनतनयो नि शेष तन्त्रोद्भवं,
पथ्यापथ्यविनिश्चयं समतनोत् श्रीविश्वनाथः सुधीः॥

करने की दृष्टि से अत्युत्तम है। अष्टाङ्गसंग्रह के शारीरस्थान पर पूना की प० रामचन्द्र शास्त्री किंजवड़ेकरकृत संग्रह भी उत्तम है। इसमें इन्हीं विषयों का चरक-सुश्रुत में प्राप्य स्थल अङ्कों से दिग्दर्शित किया गया है। चरकसंहिता के शारीरस्थान पर इस प्रकार की कोई पृथक् टीका नहीं मिलती।

पाश्चात्य नव्य चिकित्सा विज्ञान (एलोपैथी) में शारीरशास्त्र का जो वर्णन उपलब्ध होता हैं उसकी तुलना में आयुर्वेद का वर्णन समानता को नहीं प्राप्त होता अतएव उसके अनुरूप ही शारीरशास्त्र का वर्णन भी आयुर्वेदीय दृष्टि से किया जाना चाहिए इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए महोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन जी ने प्रत्यक्षशारीर की रचना की। यह समग्र ग्रन्थ ३ भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में अस्थि, सन्धि और स्नायुओं का वर्णन है। द्वितीय भाग में पेशी, धमनी, सिरा, रसायनी और आशयों का और तृतीय भाग में नाड़ियों और इन्द्रियों का वर्णन है।

शारीरशास्त्र का ज्ञान न केवल चिकित्सोपयोगी ही है अपितु योग, व्याकरणादि के लिए भी उपजीव्य है। अतएव वेदादि ग्रन्थों में भी इसका वर्णन उपलब्ध होता है। **शतपथब्राह्मण** में शिर का वर्णन त्रिवृत् शब्द से किया गया है। त्वक्, अस्थि और मस्तिष्क--ईन तीनों को सम्मिलित रूप में त्रिवृत कहा गया है। ग्रीवा में १४ या १५ कशेरुकाओं की स्थिति बतायी गई है। **निरुक्त में यास्क** ने बताया है कि शिर में ८ कपालास्थियाँ होती हैं। सम्पूर्ण शरीर में १०८ सन्धियाँ, सोलह वपावहन, ९ सौ स्नायु तथा ७ सौ मर्म होते हैं। विष्णुधर्मोत्तर में बताया गया है कि शरीर में ३६० अस्थियाँ होती हैं। अग्निपुराण में तो समस्त शरीर का संक्षेप में एक विशिष्ट अध्याय (३७०) के रूप में वर्णन है। याज्ञवल्क्यस्मृति में यतिधर्म प्रकरण में त्वचाओं के ६ विभाग को बताकर उन्हें शरीरधारक बताया गया है। विष्णुस्मृति में भी संक्षेप में समग्र शरीर का वर्णन मिलता है। पातञ्जलयोग सूत्र में कामव्यूह का वर्णन मिलता है जिसका विस्तार हठयोगप्रदीप आदि में किया गया है। रुद्रयामल आदि तन्त्रों में भी सहस्रार, सुषुम्णाचक्र, इड़ा-पिङ्गला आदि नाड़ियों को शारीरचेष्टा का मूल माना गया है। गोपथब्राह्मण तथा पुराणादि में भी शारीर का वर्णन मिलता है। इन वर्णनों के आधार पर यह अनुमान करना सर्वथा युक्तियुक्त है कि प्राचीनकाल में शारीर ज्ञान के ऊपर न केवल वैद्य वर्ग अपितु अन्य विद्वान भी ध्यान देते थे।

आयुर्वेद के लिये शारीर ज्ञान की आवश्यकता तो और भी अधिक है। स्थान-स्थान पर आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि यदि शरीर के रोगों की उत्तम और सफल चिकित्सा करनी हो तो शारीरशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना अत्या-

वश्यक है। रोगज्ञ जो वैद्य ज्ञान और बुद्धिरूपी प्रदीप के माध्यम से रोगी की अन्तरात्मा में प्रविष्ट नहीं होता वह उसकी चिकित्सा करने में कदापि सफल नहीं हो सकता (च०वि०४।१२) शरीर की रचना का ज्ञान होना उसके उपकार के लिए बहुत ही आवश्यक है। जब उसका सम्पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है तभी शरीर के लिये कौन वस्तु हितकर है और कौन अहितकर—इसका अनुमान लगाया जा सकता है। इसीलिए शारीरज्ञान में पारङ्गत की बुद्धिमान लोग प्रशंसा करते हैं। (च०शा०६।३)। शारीर शास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में किया जाना चाहिये, युक्ति और अनुमान के आधार पर नहीं। शरीर और शास्त्र दोनों को ही जिसने प्रत्यक्ष किया है, वही कुशल वैद्य हो सकता है। अतएव प्रत्यक्ष और प्रवचन दोनों प्रकारों से सन्देह रहित हो जाने के पश्चात् ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये। प्रत्यक्ष दृष्ट ज्ञान यदि शास्त्रानुमोदित हो तो वह अधिक प्रौढ़ होता है (सु०शा०५।५१)।

शारीर शास्त्र का ज्ञान केवल शल्य तन्त्र के ही लिए नहीं अपितु कायचिकित्सा के लिये भी महान् उपयोगी है। ज्वर सम्प्राप्ति में लिखा है कि दोष आमाशय में आश्रित हो जाते हैं और कोष्ठाग्नि को वहाँ से बाहर निकालकर ज्वरोत्पत्ति कर देते हैं। इसी प्रकार ग्रहणी रोग में कहा है कि अग्नि अधिक प्रदुष्ट होने के पश्चात् ग्रहणी को दुष्ट करता है। दोष रस को दुष्ट करके विगुण मार्ग से हृदय में जाकर हृद्रोग उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी अवस्था में यदि आमाशय, ग्रहणी और हृदय से चिकित्सक अपरिचित है तो वह रोग का निदान या उसकी चिकित्सा क्या करेगा? अतएव सिद्ध होता है कि कायचिकित्सा की व्याधियों में भी शारीरज्ञान अपेक्षित है।

प्राचीन आचार्यों में सुश्रुत के सहाध्यायी भोज थे जिन्होंने शारीरशास्त्र का अच्छी तरह से अध्ययन किया था। उनका रचित ग्रन्थ तो इस समय अनुपलब्ध है किन्तु कतिपय वचन चक्रपाणि, डल्लन आदि की टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। डा० हार्नले ने एक पुस्तक "शारीरपद्मिनी" का उद्धरण दिया है, इसके कर्ता श्री भास्कर भट्ट हैं। उन्होंने दो और पुस्तकों शारीरशास्त्र और शारीर वैद्यक का भी निर्देश किया है। प्रथम के निर्माता श्रीमुख नामक आचार्य हैं। ये सभी पुस्तकें विदेशों की लाइब्रेरियों में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। बौद्धकाल से शल्यशास्त्र और शारीरशास्त्र का ह्रास शुरू हुआ। शवच्छेदन की प्रक्रिया का लोप हो जाने से इसका ह्रास द्रुतगति से होने लगा। यद्यपि सुश्रुत ने अपने काल के अनुरूप ही मृत शरीर के जाँच करने की पद्धति का उल्लेख किया है किन्तु उसका किसी ने उपयोग नहीं किया। परवर्ती आचार्यों वाग्भट, शार्ङ्गधर, भावमिश्र आदि ने भी पुराने वचनों का ही उद्धार किया। प्रत्यक्षीकृत नवीनता का सर्वदा अभाव ही रहा।

इतना ही नहीं, शारीरशास्त्र में प्रचलित सिरा, धमनी, रसायनी, नाड़ी आदि विशिष्ट संज्ञाओं को एक-दूसरे के पर्यायवाची रूप में व्यवहृत किया जाने लगा। यद्यपि आचार्य ने नीलवर्ण वाली प्रणालियों के लिए सिरा उज्ज्वल अरुण रक्त वहन करने वालियों को धमनी[१], तनुअच्छजल वहन करनेवाली को रसायनी और पीताभ तन्तुमयी नीरन्ध्र स्पर्शादि संज्ञावहा नाड़ियों कोनाड़ी संज्ञा दी है। सिराधमनी और रसायनियों का मूल हृदय है और नाड़ियों का मस्तिष्क एवं सुषुम्ना। सुषुम्ना के दोनों ओर इडा और पिङ्गला नामक एक एक नाड़ीचक्र स्थित है। नाड़ीचक्र का वर्णन योगियाज्ञवल्क्य रुद्रयामल, निरूत्तर तन्त्र, शारदातिलक एवं षट्चक्र निरूपण आदि तन्त्र ग्रन्थों में बड़े विस्तार से किया गया है।

शारदातिलक[२] में लिखा है कि पञ्चपर्वा सुषुम्णा से अनन्त नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। शिरः, ग्रीवा, उरः उदर एवं त्रिक प्रदेश में अवस्थित सुषुम्णा के पर्व सूत्रमयी चव्यवल्ली के सदृश होते हैं। यह शिर में जाकर सहस्रदल पद्म से संलग्न हो जाती है अर्थात् मस्तिष्क में गलित या रूपान्तरित हो जाती है जहाँ हजारों केन्द्र अवस्थित हैं। मन्यास्तम्भ की संप्राप्ति का वर्णन करते समय चरक ने (चि।२८।४३) स्पष्ट शब्दों में नाड़ी (Nerves) का उल्लेख किया है। इसी नाड़ी को लैटिन भाषा में 'न्यूरान्' और फारसी में 'नर्ह' भी कहते हैं। काल के विपर्यास से इन नाड़ी शब्द का लोग स्नायु अर्थ करने लगे जो किसी भी प्रकार से अभोष्ट नहीं है। इसी प्रकार सिरा[३] शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर धमनी के लिए किया जाने लगा। इसी तरह कहीं-कहीं रसायनी और नाड़ी

---

१. तस्य (रसस्य) च हृदयं स्थानं, स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगाः दश, दशाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा। च।सू।१४।३.

२. नाड्योनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णाः पञ्चपर्वसु।
मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरसिरे सव्य दक्षे निषण्णे मध्येनाड़ी सुषुम्णे ....
(षट्चक्रनिरूपणटीकायाम)।
सुषुम्णा चव्यवल्लीव मेरुमध्ये परिस्थिता। ग्रीवान्तं प्राप्य गालिता तिर्यग्भूता...
(चव्यवल्लीहि सूत्रगुच्छसंघातमयी, सुषुम्णाकाण्डस्तादृगेव लक्ष्यते छेदनानन्तरम्)

(३) धमन्यर्थे सिरापद प्रयोग :—

असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः। सु०।शा०।७।१८।
असृग्धरास्तुता रक्ताःस्युश्च नात्युष्ण शीतलाः। भावमिश्रः

के लिये सिरा शब्द प्रयुक्त हो गया। इतना ही नहीं सिरा शब्द केन्द्र मणिपूर-चक्र, कण्डरा, नाड़ी, स्रोतस्, सान्धिबन्धनकारी स्नायु आदि के लिए भी शब्द प्रयुक्त होने लगा।

धमनी[1] शब्द की भी यही दशा हुई। यद्यपि सुश्रुत के शोणित वर्णनीयाध्यायमें और चरक के अर्थेदशमहामूलीय (सू० ३०) अध्याय में स्पष्ट रूपसे धमनी को (artery) परिभाषित अर्थ में प्रयुक्तकिया है किन्तु कहीं-कहीं अनर्थ भी हुआ है। जैसे नाड़ी के लिए, या स्रोतास् के लिए भी इसे प्रयोग में लाया गया है।

वाग्भटेऽपि—दशमूलसिराहृत्स्थास्ताः सर्वाः सर्वतो वपुः। रसात्मकं वहन्योज ···

नाड्यर्थे सिरापद प्रयोगः—

कर्णयोर्दश, तासां शब्द वाहिनीनामेकैकां परिहरेत्, इति
व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दात् बिसादीनां यथाजलम्॥
अत्र हि माणिपूराख्य चक्रात् समन्ततःप्रसृतानड्यो लक्ष्यन्ते बिसतन्तुसदृशा', न पुना रक्तवाहिन्यः प्रणालयः।
धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिरा सञ्चरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि॥ सु० शा०।७।१४।
नहि सिरासु सञ्चरद्रक्तं स्पर्शज्ञानं साधयति तद्धि स्पर्शसंज्ञावाहिभिर्नाड़ी प्रतानैः सम्पद्यते॥

कण्डरार्थे सिरापद प्रयोगः—

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांऽस बन्धनम्।
सिरास्त्वाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयत्यवबाहुकम्॥ सु० नि०।१।८२

स्रोतःसाधारणेऽर्थे सिरापद प्रयोग :—

वीर्यवाहि सिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ। शार्ङ्ग० पू० ५ अ०

स्नाय्वर्थे सिराशब्द प्रयोगः—

सन्धिबन्धन कारिण्यौ दोषधातुवहाः सिराः। शार्ङ्ग०
सन्निबन्धनकारिण्यो हिस्नायव; न सिराः।

१. सिराऽर्थे धमनीपद प्रयोगः—

अधृतिरधृढ़सौहृदः कृतघ्न कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी। सु० शा।०७।६५
धमनीततत्वं हि नीलाभ सिराबहुलत्वमिति स्फुटमेव

नाड्यर्थे धमनीपद प्रयोगः—

ऊर्ध्वगाः शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्ध-प्रश्वासोच्छ्वास जृम्भित-क्षुद्-हसित-कथित-रुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्य। शरीरं धारयन्ति। सु० शा०।९।५

नानाविध स्रोतोऽर्थेषु धमनीपद प्रयोगः—

मूत्रवस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे। शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते एवरक्तमभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्तव संज्ञम्, इत्यादि

नाड़ी[1] शब्द को भी विविध प्रसङ्गों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। कहीं धमनी तो कहीं सिरा, कहीं प्रणाली सामान्य के अर्थ में भी इसका प्रयोग किया गया है। कोषकारों यथा अमर[2] ने तो और भी विषम स्थिति उत्पन्न कर दी है। उन्होंने सिरा, धमनी और नाड़ी सब को पर्यायवाची माना है। सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि धमनी और सिरा से स्रोतस् सर्वथा पृथक् होता है।

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में कही-कहीं परस्पर विरुद्ध वचनों का भी लिपिक प्रमाद-वश सन्निवेश कर दिया गया है ऐसा लोग मानते हैं। जैसे सुश्रुत सूत्रस्थान में कहा गया है कि रस हृदय से चौबीस धमनियों में प्रविष्ट होकर समस्त शरीर में परिभ्रमण करता है किन्तु शारीरस्थान में कहा गया है कि ये चौबीस धमनियाँ नाभि से उत्पन्न होती हैं। अतएव इनके सामञ्जस्य बैठाने की भीआवश्यकता है।

---

१. धमन्यर्थे नाड़ी पदप्रयोगः—

मातुस्तु खलु रस वहायां नाड्यां गर्भनाड़ी प्रतिबद्धा, साऽस्यमातुराहाररसवीर्यमभि-वहति; तेनोपस्नेहेनास्य वृद्धिर्भवति। असंजाङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात्प्रभृति सर्व शरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति।

सु० शा०।३।३१

प्रसिरार्थे नाड़ी पद प्रयोगः—

सिरागतः सद्यश्छिन्नासु सिरासु रक्तातिप्रवृतिः पक्वासु च तोयनाडीभिरिव तोयागमन पूयस्यः आस्रावश्चात्र तनुविच्छिन्नः पिच्छलोऽवलम्बी श्यावोऽवश्याय प्रतिमश्च।

सु० सू०।२२।८

प्रणालिकार्थे नाड़ी पद प्रयोगः—

स यदा भ्रममोहाभ्यां पक्वमप्यपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगमो द्वारमलभमानः पूयः स्वाश्रयमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशंकृत्वा नाड़ीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा। सु० सू०।१७।९

दुग्धवहस्रोतोऽर्थे नाड़ीपदप्रयोगः—

पक्वे तु दुग्धहरिणीः परिहृत्य नाड़ी, कृष्णञ्च चूचक युगं विदधीत शस्त्रम्। सु० चि०।१७।४७।

२. नाड़ी तु धमनी सिरा। अमर।

तत्र केचिदाहुः— सिरा धमनी स्रोतसमविभागः, सिरा विकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति।

तत्तुन सम्यक्—अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः, कस्मात्? व्यञ्जना-न्यत्वात्-मूलसन्नियमात्-कर्मवैशेष्यात्-आगमाच्च। केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृ-शागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति। सु० शा०।९।३।

आपाततः ये दोनों[1] वचन विरुद्ध से प्रतीत होंगे किन्तु यहाँ पर नाभि शब्द का अर्थ केन्द्रसूचक है नाभि अवयव सूचक नहीं है जिससे दोनों का मतलब एक ही हृदय अवयव अभिप्रेत होता है।

आशयों[2] के नाम तो गिनाये गये हैं किन्तु उनका उतना विस्तृत वर्णन शारीर की दृष्टि से प्राचीन ग्रन्थों में नहीं दिया गया है जैसा कि आधुनिक ग्रन्थों में मिलता है। हृदय, क्लोम, फुफ्फुस, मूत्राशय आदि के बारे में जो संक्षिप्त वर्णन स्थान-स्थान पर उपलब्ध हैं उनको एकत्र करके प्रत्यक्षीकृत रचना-क्रिया आदि के आधार पर उनको परिपूर्ण बनाने की आवश्यकता हैं। वाताशय-पित्ताशय-श्लेष्माशय आदि के ऊपर विचार करके उनके स्थान कर्मादि का निर्देश करना चाहिये। नेत्र की रचना के वर्णन के प्रसङ्ग में बताये गये विभिन्न पटलों की व्याख्या भी शास्त्रानुसार एवं प्रत्यक्षानुमोदित होनी चाहिये।

कुछ भ्रमावह वर्णन प्रतिसंस्कर्तृ दोषों से एवं लिपिककृत प्रमादवश[3] भी आयुर्वेद शास्त्र में प्रविष्ट हो गया। उन लोगों ने शरीर के क्रियाकलापों का वर्णन कल्पनाओं और उपमाओं के आधार पर किया, जैसे पक्वाशय से मूत्रवहा नाड़ियों का मूत्राशय में आना। उनको यदि शाब्दिक अर्थ में लेंगे तो

---

१. हृदयाच्चतुर्विंशति धमनीरनुप्रविश्य (हृदयं चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्य)।
सु। सू। १४। २

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवाः अभिहिताः। सु। शा। ९। ३

२. स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥ सु। चि। २।१२
हृदयम्—सु। शा। ६।२५, सु। शा। ४।३२,
क्लोम—सु। उ। ४१।२१, मूत्राशय—सु०। नि। ३।१८-२७

३. यत्तु "हृदयस्याधो वामतः प्लीहा दक्षिणतो यकृत् क्लोम" चेति सौश्रुतः पाठस्तत्र लिपिकर प्रमाद एवं दरीदृश्यते। "हृदयस्याधो वामतः प्लीहा दक्षिणतो यकृदुभयतः क्लोम फुफ्फुसौचेति तु साधीयान् पाठः। (प्र० शा)

पक्वाशगता स्तत्रेत्यादौ (सु। नि। ३) "तर्पयन्ति सदा मूत्रं" इत्यत्र "तर्पयन्ति सदा वृक्कौ" इति पाठ एवं साधीयान् प्रतिभाति, "सरितः सागरं यथा तथा मूत्रं तर्पयन्ति" इत्युक्तौ सागरमूत्रयोरुपमानोपमेयभावासङ्गतेः। शेषतश्च "घटो यथा तथा विद्धि वस्तिर्मूत्रेण पूर्यते" इत्यस्य स्थाने "घटो यथा यथा वृक्कौ तथा बस्तिश्च पूर्यते" इति पठनीयम्, 'विद्धि' इति पदस्य वृथागमितत्वादन्यथाऽर्थासङ्गतेश्च।

"पित्त पक्वाशय मध्ये गर्भाशय्या (गर्भाशय) यत्र गर्भस्तिष्ठति" (सु। शा। ५।३९) इत्यत्र "बस्ति मलाशय मध्ये" इति पाठो भवितुमर्हति, शरीरे तथैव दर्शनादन्यथा प्रत्यक्ष विरोधाच्च।

समझने में कठिनाई अवश्य होगी। यदि उनका लाक्षणिक अर्थ करेंगे तो सभी वर्णन समञ्जस होगा। इसी प्रकार शुक्रधातु और उसकी उत्पत्ति आदि के वर्णन की अभिव्यक्ति करनी शेष है।

इतना सब होते हुए भी आयुर्वेद में रक्तपरिभ्रमण, गर्भशरीरगत रक्त परिभ्रमण, एवं षट्चक्र[1] वर्णन को देखकर उनके जानने और समझने की शक्ति पर आश्चर्य होता है। उन प्राचीन आचार्यों के पास कौन-कौन यन्त्र शस्त्र आदि रहे होंगे जिनके आधार पर उन्होंने इतने सूक्ष्म ज्ञान का स्फुटीकरण किया। उपर्युक्त सभी आक्षेप प्रत्याक्षेपों का प्रत्यक्ष शारीर में अच्छी तरह निराकरण किया गया है। साथ ही सम्पूर्ण तत्त्व का भलीभाँति विवेचन किया गया है।

प्रत्यक्ष शारीर ने एक ऐसी दिशा दी जिससे प्रभावित होकर शल्य, शालाक्य प्रसूतितन्त्रादि विषयों पर प्राचीनार्वाचीन विमर्श सम्मत अनेक ग्रन्थरत्न प्रकाशित हुए जिन्होंने आयुर्वेद का भण्डार भर दिया। ऐसे यशस्वी पथप्रदर्शक कविराज गणनाथ सेन जी का जन्म सं० १९३४ वि० (सन् १८७७ ई०) के आश्विन कृष्ण सप्तमी को काशी नगरी में हुआ था। इनके पिता श्री विश्वनाथ कविराज कुशल चिकित्सक और उद्भट विद्वान थे। वाराणसी के पण्डित मण्डल ने उनको 'विद्याकल्पद्रुम' की उपाधि दी थी। माताजी श्री मती सौदामिनी देवी का ५ वर्ष की वय में ही स्वर्गवास हो गया है। इसके पश्चात् पिता जी मैमनसिंह नगर के महाराज की चिकित्सा करने आये तो कलकत्ता में ही

---

१. (क) षट्चक्रविज्ञानम्—मूलाधारस्तावत् "ध्वजाधोगुदोर्ध्वम् खगाण्डवद्" उच्यते। तदेतत् ग्रन्थ्याकारं दृश्यते मृतके गुदास्थिपुरस्तात् इडापिङ्गलाख्य नाड़ी द्वयमूलभूतम्। तच्च पाश्चात्यानां ganglion coccegeum impar इत्याख्यया प्रसिद्धम्।

(ख) स्वाधिष्ठान चक्रम्—ध्वजमूलेऽवस्थित Hypogastric plexus इत्याख्यया प्रसिद्धम्।

(ग) मणिपूर चक्रम्—नाम तस्योर्ध्वं नाभिमूले स्थितं नाड़ी चक्रं प्राचां, स च पाश्चात्यानां Solar plexus इति प्रसिद्धश्चक्राकारो नाड़ी संघात एव।

(घ) अनाहताख्यं चक्रम्—तस्योर्ध्वंहृत्प्रदेशेऽवस्थितं पाश्चात्यनये cardiac plexus इत्याख्यया प्रथितो नाड़ी जाल एव।

(च) विशुद्धाख्यं चक्रम्—Carotid plexus इत्याख्येन नाड़ी चक्रेणाकण्ठदेशावस्थितेन।

(छ) आज्ञाचक्रं पुनर्भ्रू मध्यावस्थितम्।

बस गये। पिता ने मातृविहीन शिशु के पालन-पोषण के साथ ही संस्कृत और धर्म की शिक्षा भी देना शुरू किया। इसका प्रभाव यह हुआ कि बाल्यकाल से ही इनकी प्रतिभा का विकास होने लगा। अन्त में तो ऐसी कवित्व शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ जो प्राचीन कवियों की तुलना में आने लगी। १४ वर्ष की वय में इन्होंने मैट्रिकुलेशन परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की, उसी समय सन् १८९४ में इनके पिताजी का भी स्वर्गवास हो गया;

इससे इनकी आर्थिक स्थिति कुछ दुर्बल हो गई परन्तु एफ० ए० परीक्षा के बाद २५) मासिक छात्रवृत्ति मिल जाने से कुछ सहारा हुआ। बीमार हो जाने के कारण बी० ए० परीक्षा न दे सके किन्तु इसी समय कविराज कालीप्रसन्न कविरत्न से इन्होंने चरक, सुश्रुत और अष्टाङ्ग हृदय का अध्ययन किया। अध्ययन काल में ही इनके मन में शारीरादि अङ्गों को प्रत्यक्ष कर उनके विषयों के उद्धार की इच्छा हुई। एतदर्थ सन् १८९८ ई० में मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हुए और १९०३ ई० में इसकी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। तदन्तर ६५ वीडन स्ट्रीट, कलकत्ता में चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया किन्तु औषधियाँ आयुर्वेद की ही देनी शुरू की। सन् १९०८ में इन्होंने अपनी छूटी हुई बी० ए० की परीक्षा दे डाली, तदन्तर एम० ए० भी हो गये। एम्० डी० करने का विचार भी किया किन्तु तत्कालीन मेडिकल फैकल्टी के कर्नल हैरिस ने यह शर्त रक्खी की, एम०डी० करके तुम्हें आयुर्वेद की चिकित्सा छोड़नी होगी। उसे कविराज जी ने स्वीकार नहीं किया अतएव उस परीक्षा में बैठने की इनको अनुमति न मिली। आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति के माध्यम से इनकी कीर्ति भारत में फैल गई। अखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन के ये तीन बार सभापति चुने गये—प्रथम बार सन् १९११ में प्रयाग के तृतीय अधिवेशन में, दूसरी बार सन् १९२० में इन्दौर के ग्यारहवें सम्मेलन में और तीसरी बार १९३१ में मैसूर के २१वें सम्मेलन में। उस समय इन्होंने अपने भाषणों में आयुर्वेद के पठन-पाठन के लिये एक पाठ्यक्रम उपस्थित किया और उसके अनुसार ही कलकत्ता में दो आयुर्वेदीय महाविद्यालयों की स्थापना की—प्रथम कविराज यामिनीभूषण राय के सहयोग से अष्टाङ्ग आयुर्वेद विद्यालय की और द्वितीय सन् १९३२ में विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय की। आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण के लिये कल्पतरु आयुर्वेदिक वर्क्स की स्थापना की आयुर्वेद की दूसरी शिक्षण संस्थाओं से भी इनका घनिष्ठ संबन्ध रहा है। सन् १९२१ में बंगाल की आयुर्वेदिक इन्क्वायरी कमेटी के सदस्य हुए। सन् १९३५ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संपन्न 'त्रिदोष सम्भाषा परिषद' के अध्यक्ष रहे और वहाँ के आयुर्वेद की फैकल्टी के डीन रहे। सन् १९१६ में भारत सरकार

ने इनको 'महामहोपाध्याय' की पदवी से विभूषित किया और इससे एक वर्ष पूर्व (१९१५ में) वाराणसी के भारतधर्म महामण्डल ने 'विद्या सरस्वती' की उपाधि प्रदान की।

कविराज जी का मत था कि आयुर्वेद प्रत्यक्ष शास्त्र'[1] है आज के समुन्नत विज्ञान को भी अपने स्टेथोस्कोप, माइक्रोस्कोप और एक्स-रे आदि उपकरणों से जिन अरिष्ट लक्षणादि का ज्ञान नहीं हो पाता, उनका भी इसमें अद्भुत एवं सत्य वर्णन मिलता है। पाश्चात्य विद्वान जिस ज्ञान को प्राप्त करके अपने को नवीन ज्ञान का आविष्कर्ता समझकर घमण्ड करते हैं वह ज्ञान भी आयुर्वेद शास्त्र में निहित है। ब्रिटिश फार्माकोपिआ ने भी यवतिक्ता, सप्तपर्ण, अर्कमूल, वासा, बिडङ्ग, बिल्व, दारुहरिद्रा, धत्तूर, हरीतकी, गन्धतृण, कुटकी, गुडूची, त्रिवृत्, अनन्तमूल आदि औषधियों को ग्रहण किया और डा० ल्यूकिस जैसे विद्वानों ने मकरध्वज, शिलाजतु, प्रभृति रसौषधियों का अपने लिये प्रयोग किया है। दर्शनशास्त्र में जिस प्रकार उत्तरमीमांसा आज भी भूमण्डल के इतर दर्शनों को आलोकित कर रहा है वैसे ही हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि आयुर्वेद सभी चिकित्सा पद्धतियो को कुछ योगदान करे।

आयुर्वेद का रसायन प्रकरण भी अपना सानी नहीं रखता। ऋतुहरीतकी, च्यवनप्राश, अमृत भल्लातक, मकरध्वज, वसन्तकुसुमाकर आज भी लोगों को शक्ति प्रदान कर रहे हैं। न केवल मनुष्य अपितु तरुलता, पशुपक्षी आदि की चिकित्सा के लिये वृक्षायुर्वेद, गजायुर्वेद, अश्वायुर्वेद आदि थे जिनका अग्निपुराण, शालिहोत्र आदि ग्रन्थों से अच्छा परिचय मिलता है। प्राचीन काल के वेदव्यास आदि महर्षियों ने भी आयुर्वेद की बड़ी प्रशंसा की है। वेद स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है कि एक अङ्ग में प्रयुक्त की गई औषध शरीर के अन्य अंगों[2] का रोगनाशन करती है। महाभारत, गौतमसूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थ भी आयुर्वेद की प्रामाणिकता[3] और पुराणता सिद्ध करते हैं।

१. अन्यानि शास्त्राणि विनोदमात्रं न तेषु किञ्चिद् भुवि दृष्टमस्ति।
चिकित्सितं ज्योतिष तन्त्रवादाः पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति॥

२. यस्यौषधिः प्रसरतामङ्गमङ्ग परुष्परु (शु० च० १२ अ०)

३. क्वचित्ते कुशला वैद्याः अष्टाङ्गे च चिकित्सिते। महा० सभा ३५ अ०
आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते। महा० शा० १३७ अ०
मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यात् तत् प्रामाण्यम्। गौतम सूत्र
बृहत् संहिता के अनुसार महाभारत काल ४००० वर्ष पुराना है—"आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ। षड्द्विक पञ्च द्वियुतः शक कालस्तस्य राज्ञः स्यात्॥" "एकैकस्मिन्नृक्षे शतं शतं ते चरन्ति वर्षाणाम्" इत्यादि। युधिष्ठिर के राज्यकाल में सप्तर्षिमण्डल मघा नक्षत्र में थे।

प्राचीन काल में आयुर्वेद मुख्यरूप से तीन सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। काय चिकित्सा में आत्रेय (चरक) सम्प्रदाय (School of physicians) के और शल्य चिकित्सा में धन्वन्तरि (सुश्रुत) सम्प्रदाय के (School of Surgeons) वैद्यों का प्राधान्य था। ये दोनों हो सम्प्रदाय आर्ष माने जाते हैं। तृतीय सम्प्रदाय रसवैद्यों का है, जिन्हें तांत्रिक कहा जाता है। अष्टाङ्ग आयुर्वेद के अतिरिक्त पूर्वाङ्गों में शारीर (anatomy and physiology), द्रव्यगुण और निघण्टु शास्त्र (materia medica and theraputics), भैषज्य-कल्पना (pharmacy), पदार्थ विज्ञान आदि का समावेश होता है। शारीरिक क्रियाओं का सम्पादन वात-पित्त-कफ के द्वारा और मानस का सत्त्व-रज-तम से होता है। वातादि दोष, धातु और मल इन दो रूपों में अवस्थित हैं। धातुरूप सूक्ष्म एवं इन्द्रियों से अगोचर है। इनका क्रियाओं के द्वारा अनुमान ही लगाया जा सकता है जिनका वर्णन प्रकृति और विकृति दोनों ही अवस्थाओं में शास्त्र में बड़े सूक्ष्म रूप से प्रतिपादित है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध को मन के पास और उनसे आगे बुद्धि-अहङ्कार-आत्मा से संयुक्त करना, पेशियों की चेष्टा, संकल्प-विकल्प आदि (Sensation, muscular action and inteltcation etc) सभी गतियाँ वायु की ही क्रिया हैं। आहार पाक, धातु उत्पादन, धातु पाचन शोषण, रक्त निर्माण (Heat production mechanism metabotic function, combustion etc.) आदि पित्त के कर्म हैं एवं धातुओं का पूरण, पोषण तथा तर रखने का काम कफ का है।

द्रव्यगुण के साथ ही साथ वनस्पति शास्त्र का भी प्राचीन काल में पठन-पाठन होता था। इस पर आचार्य राघव भट्टकृत वृक्षायुर्वेद और शार्ङ्गधर कृत उपवन विनोद—दो प्रसिद्ध ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। आयुर्वेद में भेषज की क्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन करके रस-गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव के सिद्धांतों का विनिश्चय किया गया है। यह परीक्षण मानव शरीर पर ही भेषज का प्रयोग करके पूर्ण किया गया है, बिल्ली, कुत्तों या चूहों जैसे जानवरों पर नहीं। इसी लिए सुश्रुत को उद्घोष करना पड़ा कि चाहे कोई हजार कारण गिनाये किन्तु उस सबके होते हुए भी अम्बष्ठादिगण की औषध विरेचक नहीं होती। इसी प्रकार रसायन शास्त्र एवं भौतिक विज्ञान तथा भैषज्य कल्पना भी आयुर्वेद शास्त्र के पूर्वांग हैं। सुवर्णघटित मकरध्वज में और रौप्य या ताम्र-घटित मकरध्वज के गुणों का अलग-अलग होना इसकी उत्कृष्टता का एक प्रमाण है। रसायन शास्त्र से लाख परीक्षण करने पर भी मकरध्वज में यद्यपि सुवर्णादि का पता नहीं लग पाता। जैसे बाद में प्रचलित होने वाली औषधियों यथा अफीम, रेवन्द चीनी और चोपचीनी आदि हमने मुसलमानों से ग्रहण

किया वैसे ही अंगरेजी औषधियों को भी रस-दोष-सिद्धान्तानुसार ही ग्रहण कर लेना चाहिये।

प्राचीन काल में भी जीवाणु विज्ञान का प्रचलन अवश्य था किन्तु वे रोगोत्पत्ति औरं रोग प्रतिबन्धन के प्रति दोषों का ही कर्तृत्व महत्वपूर्ण मानते थे, जीवाणुओं का नहीं। यदि शरीर की रोग प्रतिबन्धक क्षमता ठीक है तो जीवाणु शरीर में रहते हुए भी रोगोत्पत्ति नहीं कर पाते इस बात को नव्य चिकित्सा विज्ञानविद् भी स्वीकार करते हैं। इसीलिए अपने यहाँ असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और काल को ही रोगोत्पादक माना गया है और रोग के कारण लक्षणोत्पत्ति में दोषों का ही कर्तृत्व निरूपित किया गया है। औषधियों के रूप में शरीरस्थ विष (autointoxication) को खतम करने के लिए लंघन, पाचन, शोधन आदि का विधान बताया गया है। इतना सब होते हुए भी रोग का रोगत्व स्वीकार करके अनेक रोगों के निदान सम्प्राप्ति, लक्षण, चिकित्सादि का विवेचन विस्तार से किया गया है। रोग के जानने के लिए ज्ञानेन्द्रियों[1] यथा त्वचा, नेत्र, कर्ण आदि के द्वारा परीक्षण करने का निर्देश किया गया है। इसके आधार पर आधुनिक काल में जो यन्त्र इन ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को उपबृंहित करने वाले हों जैसे थर्मामीटर, माइक्रोस्कोप या स्टेथोस्कोप आदि उनका प्रयोग करने में हम लोगों को कोई संकोच नहीं होना चाहिये।

कुछ नव्य चिकित्सा-विज्ञानविद् आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति को युक्तिरहित (irrational) बताते हैं! इस उक्ति के खण्डनार्थ एक स्थूल उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। आयुर्वेद में अनादि काल से ज्वर के प्रारम्भ में लंघन कराने का बिधान बताया गया है। इसका उद्देश्य आमपाचन या आटोइन्टाक्सिकेशन को नष्ट करना है। जब जर्मनी वालों ने डायट एब्सोल्यूटम (लंघन) के महत्व पर प्रकाश डाला तब कहीं जाकर नवीन चिकित्सकों ने इसको ग्रहण किया। वे ज्वर में रोगी को पहले खिलाते रहते थे। दूसरा उदाहरण ज्वरातीसार का है। इस प्रकरण में आचार्य ने स्पष्ट बताया है कि जो औषधियाँ ज्वर प्रकरण में बताई गई हैं वे सर होने से अतिसार की वृद्धि करती हैं और स्तम्भक औषधियाँ अतिसार का संग्रहण करते हुए ज्वर को बढ़ाती हैं अतएव ज्वरातीसार में दीपन-पाचन का प्रयोग करना उचित है। यह युक्तिपूर्णता है अथवा युक्ति विरह इसे विद्वान स्वयं समझ सकते हैं। शोथ की चिकित्सा

---

१. त्रिभिरेतैः (दर्शन स्पर्शन प्रश्नैः) विज्ञानोपायैः रोगाःप्रायशो वेदितव्या इत्येके, तत्तु न सम्यक्। षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति सुश्रुतः।

में लवण और जल न देने का आयुर्वेद में निर्देश मिलता है। इसका कारण यह है कि शोथ में रक्त में लवण का भाग बढ़ जाता है जो जल का शोषण करके शोथ की अभिवृद्धि करता रहता है। लवण बन्द कर देने से रक्त में सोडियम की मात्रा कम हो जाती है अतएव शोथ न्यून होने लगता है यह विचार नव्य वैज्ञानिकों की समझ में अब आया है।

पुराने और कठिन रोगों की चिकित्सा से पूर्व पूर्वकर्म (पञ्चकर्म के अन्तर्गत) कराने का विधान हमारे शास्त्रों में बताया गया है जो सद्यः प्रभावकारी और प्रत्यक्ष फलप्रदाता है। डाक्टर लोग भी वमन-विवेचन और वस्तिकर्म के द्वारा तात्कालिक लाभ उठाते हैं किन्तु स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् इन कर्मों के द्वारा जो लाभ होता है उससे वे वञ्चित रहते हैं। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य यह है कि पूर्व कर्म के द्वारा रोग को उद्भूत करके उसकी जड़ को काटकर ही इसे अच्छा कर दिया जाय। इसलिए श्वास, वातव्याधि, जीर्ण प्रतिश्याय आदि में इस क्रियाक्रम से खूब लाभ होता देखा गया है। आयुर्वेदीय मानस रोग चिकित्सा भी अतुलनीय है। आजकल जिन्हें हाइपोकान्ड्रिएसिस, हिस्टीरिया आदि नाम देते हैं वे शोक, दुःख, अजीर्ण, अभिघात के द्वारा प्रकुपित वातजन्य विकार ही हैं और उनकी चिकित्सा आयुर्वेद के द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न होती है। भूतविद्या का अर्थ भूतग्रस्तसदृश मानस रोगी की चिकित्सा है और दूसरा कोई भूत-प्रेत नहीं है जिसकी चिकित्सा यहाँ अभीष्ट हो। इसे पाश्चात्य देशों में हिप्नोटिज्म, स्पिरीचुअल साइन्स आदि नाम दिये जाते हैं इन सबके लिये नस्य, अञ्जन, स्नेह, सेक आदि की व्यवस्था जैसी आयुर्वेद में वर्णित है वैसी अन्यत्र देखने को भी नहीं मिलती।

गर्भस्राव या गर्भपात की सम्भावना होने पर स्त्री रोग प्रसूतितन्त्र के अन्तर्गत गर्भस्तम्भक मासानुमासिक योगों, पुंसवन विधि, तथा गर्भिणीचर्या का जो विवरण आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मिलता है उसका नव्य चिकित्सा विज्ञान में दर्शन भी नहीं होता। मूढगर्भ की विभिन्न गतियों और उसकी चिकित्सा का सुश्रुतीय वर्णन नव्य शल्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुरूप ही है। अगदतन्त्र में स्थावर-जंगम विषों की चिकित्सा का वर्णन है! आगे चलकर इसी के अंश का विकास कर कौटिलीय अर्थशास्त्र में समावेश किया गया जिसे मरणोत्तर परीक्षा (Postmortem) संज्ञा दी जाती है। सर्पविष चिकित्सा के विषय में सुश्रुत कल्पस्थान का वर्णन बहुत ही भव्य है। अमृत बाजार पत्रिका के भूतपूर्व सम्पादक स्वर्गीय शिशिरकुमार घोष ने इस विषय में एक पुस्तक (Snake bite and its treatment) लिखी है।

यद्यपि बौद्धकाल के आरम्भ में आयुर्वेद का ह्रास हुआ तथापि उसके

मध्याह्नकाल में इसके पुनरुद्धार का यत्न हुआ। मुसलमानी अक्रामकों के समय में पुनः इसका अधःपतन प्रारम्भ हुआ। किंतु यूनानी का प्रचलन हुआ जिसने आयुर्वेद से बहुत कुछ लिया और उसे दिया भी। भैषज्यरत्नावली में उद्धृत 'मुफर' नामक औषध इसका प्रमाण है। यह ह्रास की परम्परा आज भी चल रही है यद्यपि उसकी गति कुछ मन्द अवश्य पड़ गई है। इसका कारण यह है कि जो संस्थायें बनती हैं उनके संचालक मण्डल में आयुर्वेदज्ञों और अनायुर्वेदज्ञों की एक ऐसी खिचड़ी बन जाती है जो आयुर्वेद के विकास क्रम से तो सर्वदा अनभिज्ञ होते हैं। किन्तु अपनी ही बात मनवाने के लिए कटिबद्ध रहते हैं। अधिकांश आज भी रूढ़ियों से ग्रस्त है अतएव वे आयुर्वेद का समुत्थान करने की क्या विधि अपनायी जाय इस पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने में संकोच करते हैं। आजकल शुद्ध आयुर्वेद और मिश्र आयुर्वेद को लेकर बड़ा वितण्डावाद चल रहा है। यह बड़ी ही शोचनीय बात है कि कुछ आयुर्वेदानभिज्ञ शासक भी इस प्रपञ्च को समझ न सकने के कारण अनुचित रूप से शुद्ध आयुर्वेद के पक्षपाती हो गये हैं। यदि शुद्ध आयुर्वेद का मतलब यही लगाया जाय कि जो कुछ चन्द प्राचीन पुस्तकों में लिखा पाया जाता है उसको हमें उसी रूप में ग्रहण करना है। उस पर विचार-विमर्श या विस्तार नहीं करना है तो यह बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। क्योंकि प्राचीन संहिताओं का तत्कालीन विज्ञान के आधार पर समय-समय पर स्वयमेव प्रति संस्कार होता आया है। उनमें प्रतिसंस्कर्तृदोष लिपिक के प्रमाद या मुद्रणकर्ता के भ्रमवश अशुद्धियाँ कैसे-कैसे समाविष्ट हुई हैं उनका दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इसलिये शुद्ध आयुर्वेद का वही तात्पर्य लेना चाहिए जो प्राचीन शास्त्रों ने सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित किया है कि सम्पूर्ण संसार बुद्धिमान वैद्य के लिये शिक्षक हैं[1] और शिष्टजनानुमत शास्त्र का ही पठन-पाठन अङ्गीकार करना चाहिए। इस दृष्टि से यद्यपि प्रतिदिन निदान चिकित्सा के चिकित्सकगण कठिनाई का अनुभव करते हैं किन्तु जब उसे दूर करने का समय आता है तो पुनः पूर्वाग्रह से युक्त होकर यही कहने लगते हैं कि आज के चरक-सुश्रुत में उल्लिखित शब्द ही आयुर्वेद है, चाहे वह जैसा हो। आज आवश्यकता इस बात की है कि नव्यविज्ञान की सहायता के माध्यम से हम अपने सिद्धान्तों पर पुनः विचार करें और तदनुसार उन सिद्धान्तों के आधार पर नवीन व्याख्या का निर्माण करे। इसलिये आज आवश्यकता इस बात की है कि नवीन भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, शारीरशास्त्र, विकृतिविज्ञान, शल्यशालाक्यादि तन्त्रों का प्राचीन

१. कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः

बुनियाद पर निर्माण किया जाय। इसके लिए हमको उन-उन शास्त्रज्ञों की सहायता लेनी पड़ेगी, उनका शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि वैद्यक ग्रन्थों का न्याय सांख्य, वेदान्त, धर्मशास्त्रादि के समान छात्रों को रटा घोंटा कर वाग्वैभव मात्र उत्पन्न कर देने से काम नहीं चलेगा। इसमें तो पद-पद पर प्रत्यक्ष कर्माभ्यास कराने की आवश्यकता है। विषय के ज्ञान के साथ ही साथ कर्मनैपुण्य भी उत्पन्न करना आवश्यक है। अन्यथा जैसे युद्ध में अनभ्यस्त सेना युद्धकाल में पराजित होने के सिवा और कुछ नहीं हासिल कर पाती है वैसे ही इस प्रकार का शुद्ध शास्त्रज्ञ वैद्य[1] भी अयश या व्याधि के बिगाड़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त कर सकता।

आयुर्वेद को समुन्नत बनाने के लिये आयुर्वेदाध्यापकों और विद्यालयों की उन्नति करनी अत्यावश्यक है। विद्यालयों के साथ ही साथ प्रयोगशालायें भी होनी चाहिए जहाँ विद्यार्थी को प्रत्यक्ष कर्माभ्यास का अवसर मिले और प्रत्येक विद्यालय के साथ एक-एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय जुड़ा होना चाहिए जिसमें उच्च कक्षा का अन्वेषण करके अध्यापक अपनी प्रज्ञा को तीक्ष्ण कर सकें। यह सुनिश्चित है कि योग्य अध्यापक का ही शिष्य योग्य हो सकता है। भेषजोद्यान, भेषज परिचयागार, भेषज गुण परीक्षाणालय, भेषज निर्माणशाला तथा भेषज प्रभाव के अध्ययनार्थ उस प्रकार की प्रयोगशालायें एवं आतुरागार होने चाहिये। शारीर[2] विषयों के ज्ञान के लिये शवच्छेदालय तथा क्रियाशारीर के अध्ययनार्थ विशिष्ट प्रयोगशालायें, संग्रहालय, विकृति विज्ञान जानने के लिये भी प्रयोगशालायें आदि विशेष रूप से संबद्ध होनी ही चाहियें। इतना सब आवश्यक अङ्ग पूर्ण हो जाये तब नवीन शास्त्र की रचना की जाय जो विद्यार्थी को पाठ्य पुस्तक का आदान-प्रदान कर सके। इसके लिये यदि आवश्यकता हो तो नवीन संज्ञाओं का निर्माण किया जाय और उनका एकरूप में सारे भारत में प्रयोग किया जाय।

काल के प्रभाव से आकाशस्थ ग्रह नक्षत्रों की गतियाँ बदल गई हैं। अतएव इस परमाणु युग में हम अपने रूढ़िवादी विचारों के माध्यम से उन्नति का स्वप्न नहीं देख सकते। आज के युग में रोगों का भी स्वरूप बदलता जा

१. स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्यभीरुरिवाहवम्।
शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदावेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥ च०। शा०। ६।१८
शरीरे चैव शस्त्रे च दृष्टार्थः स्याद् विशारदः।
दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाम्॥ सु०। शा० ५।५१

रहा है। अतएव तदनुसार हमको अपने ज्ञान में और सोचने-समझने के प्रकार में परिवर्तन करना ही पड़ेगा। आयुर्वेद आज भी संसार को बहुत कुछ दे सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम स्वयं युगानुरूप बनें और भारत का कल्याण करें। देश ही नहीं विदेशों को भी हमारे ज्ञान-विज्ञान और साहाय्य की आवश्यकता है। यदि हम उसे नहीं प्रदान कर सकते तो इसकी जिम्मेदारी हमारी है, दूसरों की नहीं। हमको अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए।

अष्टांग शारीरम्—इस ग्रन्थ के लेखक वैद्यरत्न पी० एस० वारियर[1] हैं। जो आर्यवैद्यशाला, कोट्टकल के संस्थापक हैं। ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९२५ ई० में हुआ है। ग्रन्थकार ने इस बात का प्रारम्भ से ही ध्यान रखा है कि पाश्चात्य शारीर विषयों का अनुवाद मात्र ही आयुर्वेद के शारीरज्ञान को बढ़ाने के लिए पर्याप्त नहीं होगा प्रत्युत आयुर्वेदीय शारीर की विलुप्त शृङ्खला को समझ करके उसी के अनुसार इसे पूर्ण करना है।

इसमें कुल ८ अध्याय हैं। प्रथम गर्भावक्रान्तीय, द्वितीय अङ्गविभागीय, तृतीय अस्थिविभागीय, चतुर्थ सन्धि विभागीय, पञ्चम पेशी विभागीय, षष्ठ नाड़ी विभागीय, सप्तम अंगकर्म विभागीय और अष्टम तन्त्र नाड़ी विभागीय अध्याय हैं। ग्रन्थकार ने स्वनिर्मित लगभग २०८४ श्लोकों में (११३+१८८ +३१०+२२१+१८०+३०८+२६८+४१६) इस ग्रन्थ को पूरा किया है। साथ में विवरण को स्पष्ट करने के लिये स्वयमेव गूढार्थबोधिनी टीका बनाई और स्थान-स्थान पर चित्र भी लगाये।

बृहच्छारीरम्—इसका निर्माण भी वैद्यरत्न पी० एस० वारियर ने ही किया है। यद्यपि पूर्व ग्रन्थ से पहले २० वर्षों तक इसके लिखने में श्रम किया किन्तु ग्रन्थ का कलेवर बढ़ता देखकर उन्होंने संक्षिप्त करके पहले 'अष्टाङ्ग-शारीरम्' को छपा दिया। बृहच्छारीरम् का पहला खण्ड 'सृष्टिस्कन्ध' सन् १९४२ में छपा। इसमें कुल २१ अध्याय हैं जिसमें प्रथम में विषयविभाग, द्वितीय में अङ्गविभाग, तृतीय में भूतविभाग, चतुर्थ में देहघटक मूलद्रव्य-विभाग, पञ्चम में धातुविभाग, षष्ठ में प्रकृति, सप्तम में धातुपरमाणु विज्ञान, अष्टम में रसादि विज्ञान, नवम में मांसधातु विज्ञान, दशम में मस्तुलुङ्ग विज्ञान, ग्यारहवें में तनुधातु विज्ञान, बारहवें में संयोजक धातु विज्ञान, तेरहवें में

---

१. विख्यातोऽजनि रामपार्श्वजवरो मृद्वापिकूलालये,
सख्येतस्य वराहचैत्यसदने श्री पार्वती चाभवत्।
दम्पत्योरनयोस्सुतःसमतनोच्छारीरमार्ष गुरोः,
सम्प्रीत्या जगतामनेन भवतात्सौख्यधिमार्गोदय।।

अस्थिधातु विज्ञान, चौदहवें में गर्भविक्रान्ति पन्द्रहवें में १ से ८ सप्ताह तक की गर्भवृद्धिक्रम, सोलहवें में देहभित्तिसम्बन्द्ध अवयवों का वर्गीकरण सतरहवें में तन्त्र-नाड़ी-वृद्धि इन्द्रिय आदि का वर्णन, अठारहवें में नाड़ी पद्धति परिणाम विवरण, उन्नीसवें में अन्ननाड़ी-श्वासनाड़ी विवरण, बीसवें में देहगुण और इक्कीसवें में गर्भपूर्ति विवरण है।

सारा ही वर्णन मौलिक है। शरीर का गुण शीर्ण होते रहना है क्योंकि यद्यपि आहारादि के द्वारा निरन्तर इसे उपचित करने का प्रयत्न किया जाता है तथापि यह अपचितोन्मुख ही रहता है। आहार के सारभाग रस से इसका प्रतिक्षण उपचय होता है इसलिए इसे देह कहते हैं। इस प्रकार उपचय के साथ ही साथ जिसमें अपचय (काय) भी होता रहे उसे शरीर कहा जाय क्योंकि जीवित शरीर में सभी अवयव धात्वग्नियों के पाक होने से अपने लिये नवीन अंश का ग्रहण करते हैं और जीर्ण भाग का परित्याग करके अपचित होते रहते हैं। इस एक व्याख्या में ही नव्यक्रियाशारीर का एनाबोलिज्म, केटाबोलिज्म और मेटाबोलिज्म आ जाता है। यह है इस ग्रन्थ की मौलिकता।

आयुर्वेदीय शारीरम् (प्रथमः खण्ड)—इसके लेखक पूना आयुर्वेद महाविद्यालय के भूतपूर्व शारीराध्यापक श्री गणेश विश्वनाथ पुरोहित हैं। प्रकाशन बम्बई की "बोर्ड आफ रिसर्च इन आयुर्वेद" नामक संस्था के द्वारा सन् १९५१ में हुआ। ग्रन्थ विशुद्ध आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। शारीर सम्बन्धी प्राचीन वचनों को एकत्रित करके उनको विषय के क्रम से अनुस्यूत किया गया है। अन्त में इन्हीं विषयों का संक्षिप्त रूप से अंग्रेजी भाषा में अनुवाद भी दिया गया है।

ग्रन्थारम्भ, अङ्ग-प्रत्यङ्ग वर्णन, सर्वभूतों की उत्पत्ति, गर्भविज्ञान, त्वचा-कला आदि की उत्पत्ति, प्रकृतिलक्षण, अस्थिविज्ञान, सन्धिविज्ञान, स्नायु-विज्ञान, सिरा वर्णन, धमनी व्याकरण, स्रोतोविज्ञान, मर्मविज्ञान, और परिशिष्ट में अङ्गों के प्रमाण, अवयव विशेषों के वर्णन के पश्चात् ग्रन्थ समाप्त होता है।

आयुर्वेद शारीर (Ayurveda Sharira)—इसके लेखक डा० धीरेन्द्रनाथ बैनर्जी एम० डी० हैं जो पाश्चात्य विज्ञान के साथ ही साथ पौरस्त्य विज्ञान के भी उद्भट विद्वान हैं इन्होंने "एन्टिक्विटी आफ हिन्द एण्ड ग्रीक मेडिसिन, नर्वस सिस्टम इन इण्डियन फिजियोलाजी, त्रिदोष डाक्ट्रिन आफ आयुर्वेद आदि कई पुस्तकें आयुर्वेद से सम्बन्धित विषयों पर लिखी हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी आंग्लभाषा में ही लिखी गई है। इसके लिखने का उद्देश्य आयुर्वेद के विद्यार्थी

को शरीर का ज्ञान कराना और चिकित्सा विज्ञान के इतिहास के विद्यार्थी को यह बताना है कि भूतकाल में भी शारीरज्ञान कितनी उच्च श्रेणी का था।

शरीर का विकास प्रायः ३ हजार वर्षों से स्थिर है। सुश्रुत ही शवच्छेद विज्ञान के मूल प्रवर्तक हैं। किन्तु एक ही अवयव के विषय में इतने भिन्न वर्णन मिलने लगे हैं कि उनका विनिश्चय आसान काम नहीं रह गया है। अतएव इस पुस्तक में उपलब्ध वर्णनों के आधार पर आधुनिक विज्ञानसम्मत अवयवों के विनिश्चय का प्रयास किया है। इसमें शरीर को रचना पञ्चमहाभूत, आत्मा, मन इन्द्रिय, आयु, प्राण, शिर, नर्वस सिस्टम, हृदय, धमनी, कोष्ठ, कोष्ठाङ्गों-नाभि, क्लोम, फुफ्फुस, यकृत, वृक्क, वस्ति, अन्त्र, ग्रहणी, गुद, वपावहन, उण्डुक, आशय, योनि, मेढ़ आदि पर विचार किया गया है।

विज्ञान की उन्नति के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि इसका विकास तीन चरणों में होता है। प्रथम चरण में इसे धार्मिक मान्यताओं के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसीलिये सम्पूर्ण प्रक्रिया के साथ ही साथ रोगारोग्य को भी देवताओं के कोप प्रसाद आदि से संबद्ध कर दिया जाता है। द्वितीय चरण में तर्क और युक्तियाँ उन परिवर्तनों के साथ-साथ संयुक्त की जाती हैं अर्थात् उनका कारण कार्य सम्बन्ध लगाया जाता है। तृतीय अवस्था में उन कारणों का विवेचन करके, उनकी पुनरावृत्ति करके उसी प्रकार के फल को उत्पन्न करने के लिये प्रयोग का आश्रय लिया जाता है। इस अवस्था में अध्यापक प्रयोग द्वारा विद्यार्थी को प्रत्यक्ष कराता है कि इसका यह परिणाम होता है। जिससे ज्ञान का साधारणीकरण किया जाता है।

ये तीनों अवस्थायें अलग-अलग भी हो सकती हैं और युगपत् भी। आयुर्वेद में इन तीनों का एक साथ दर्शन होता है इसमें मंत्रोपचार, बलि, होम, पूजन, के साथ ही साथ रोग के निदान और चिकित्सा के लिये भौतिक उपायों का भी संयोग किया गया है। चरक संहिता में धार्मिक प्रक्रियायें अल्प, आध्यात्मिक बातें इतस्ततः किन्तु वैज्ञानिक सिद्धान्त सर्वत्र ही प्रतिपादित किये गये हैं। इसमें प्रमाणों को एकत्र करके उनका वर्गीकरण कर, कारण कार्य भाव स्थिर करते हुए विवेचन किया गया है जिससे ज्ञान सभी के लिये एक विशेष रूप में सुनिश्चित हो गया है। इसमें अध्ययन, प्रत्यक्षीकरण और प्रयोग की विभिन्न पद्धतियों का प्राञ्जल रूप में सन्निवेश मिलता है।

मानवशरीर रहस्य—इस पुस्तक के लेखक डा० मुकुन्द स्वरूप वर्मा; बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस० हैं। आप अपने क्रियात्मक जीवन के आरम्भ काल से ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज से सम्बद्ध रहे और बाद में अनेक वर्षों तक इसके प्रिंसिपल भी रहे। लेखक के ऊपर आपका

विशेष स्नेह रहता था। शिक्षण से संबद्ध होने के कारण आपको उसकी कठिनाइयों का पूर्ण ज्ञान रहा है अतएव इस पुस्तक में उनको यथासाध्य दूर करने का प्रयत्न किया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक २ भागों और ६३५ पृष्ठों में पूर्ण हुई है। जिसका प्रकाशन सन् १९३० ई० में नवल किशोर प्रेस लखनऊ से हुआ। उस ससय तक उपलब्ध सम्पूर्ण पाश्चात्य शारीरज्ञान का संक्षेप में हिन्दी भाषा में इसमें वर्णन है।

मानवशरीर रचना विज्ञान—यह पुस्तक भी पूर्व पुस्तक का लेखक (डा० वर्मा) द्वारा लिखा हुआ परिष्कृत रूप है। इसमें ४ खण्ड हैं जिनमें सूक्ष्म रचना, अस्थिप्रकरण, सन्धिप्रकरण और पेशी प्रकरण का विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक का प्रथम भाग बड़े साइज के लगभग ६०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसका प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से सं० १९९३ वि० में हुआ है।

शवच्छेद विज्ञान (प्रथम भाग)—इसके लेखक डा० विद्यासागर पाण्डे, आयुर्वेदरत्न, एल० एम० बी०, राजकुमारसिंह आयुर्वेदिक कालेज, इन्दौर, के शारीर तथा शल्यतंत्र के प्रोफेसर हैं। प्रकाशन सन् १९४८ ई० में हुआ है। इसमें कुल १९१ पृष्ठ हैं। लेखक ने, शवच्छेद करने में विद्यार्थियों की सुविधा हो इस दृष्टिकोण से, उत्तान से गम्भीर भाग में जाते समय आने वाले अनेक अवयव तथा प्रत्येक अंग में रहने वाली अस्थि, संधि, सिरा, स्नायु, धमनी, नाड़ी आदि का वर्णन यथास्थान कर दिया है।

अभिनव शवच्छेद विज्ञान—इसके लेखक श्री हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ, बी० ए० ए० एम० एस० हैं। मेडिकल पुस्तक भवन, बनारस द्वारा सन् १९५६ में यह प्रकाशित हुआ। लगभग १ हजार से अधिक पृष्ठों में शवच्छेद की आधुनिक विधिका सचित्र वर्णन इस पुस्तक में मिलता है, जो विद्यार्थी तथा अध्यापक

त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः।
शल्यज्ञानादृते नैष वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित् ॥
तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता।
शोधयित्वा मृतं सम्यग् द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः ॥
प्रत्यक्षतोयद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद् भवेत् ॥
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञान विवर्धनम् ॥

तस्मात् समस्तगात्रम् अविषोपहतम् अदीर्घव्याधिपीडितम् अवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्र-पुरीषं पुरूषम्, आवहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कल-कुश-शणादीनामन्यतमेना-वेष्टिताङ्गम् अप्रकाशे देशे कोथयेत्। सम्यक् प्रकुथितं चोद्धृत्य, ततो देहं सप्तरात्राद्उशीर-बाल-वेणु-बल्वजकूर्चानामन्यतमेन शनैःशनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरान् अङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा। सु०। शा०। ५।४६-४९

दोनों के ही लिये उपयोगी है भूमिका और प्राक्कथन दोनों में आयुर्वेदिक शारीर शास्त्र का अतीत वर्णन बड़ी विद्वत्तापूर्ण रीति से प्रतिपादित किया गया है।

क्रियाविज्ञान

शारीर क्रियाविज्ञान के दृष्टिकोण से भी प्राचीन काल में कई ग्रन्थ लिखे गये जिनमें 'पातञ्जल योगसूत्र' सर्वप्रमुख है। इसमें इस बात का प्रयत्न किया गया है कि अनैच्छिक नाड़ी संस्थान पर नियन्त्रण किया जाय और उसके माध्यम से शरीर की अन्तःस्रावी ग्रन्थियों और उनके तन्त्रयन्त्र को अपनी ऐच्छिक क्रिया से नियमित किया जाय। इसी दिशा में बढ़ते हुए हठयोगी। हृदय की और नाड़ी की गति बन्द कर देने जैसी आश्चर्यजनक क्रियायें करते हैं।

आयुर्वेदीय संहिताओं में भी वात, पित्त, कफ की क्रियाओं के वर्णन से सम्बद्ध विवरण अनेक स्थानों पर शारीरस्थान के अतिरिक्त भी मिलते हैं। किंतु प्रकीर्ण विषयों का संग्रह करके किसी ग्रंथ के रूप में निकालने का सर्वप्रथम प्रयास श्री रणजीतराय देसाई, आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य, आचार्य श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत ने ही किया। इसका नाम पहले उन्होंने शरीर क्रिया-विज्ञान रखा बाद में उसे परिवर्तित एवं परिवर्द्धित करके **आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** किया।

इसमें कुल ४६ अध्याय हैं जिनमें देह की उत्पत्ति से लेकर उसकी सम्पूर्ण क्रियाओं का आयुर्वेदीय वर्णन है और उपयुक्त स्थलों पर पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञानीय वर्णन को भी सन्निहित किया गया है। पुस्तक बहुत ही उपादेय सिद्ध हुई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग ९०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है।

अभिनव शरीर क्रियाविज्ञान—इसके लेखक श्री प्रियव्रत शर्मा, ए० एम० एस०, एम० ए० हैं। इसमें आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान का हिन्दी भाषा में प्रतिपादन किया गया है। लेखक ने समन्वय की चेष्टा नहीं की क्योंकि उसे दोनों विज्ञानों (प्राच्य-पाश्चात्य) में संश्लेषणात्मक-विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का भेद प्रतीत हुआ। प्राचीनों ने दोष, धातु, मल को शरीर का संचालक माना तो नवीनों ने केवल उनके कर्म का ही वर्णन किया। इसलिए प्रत्येक अवयव का कार्य इस विज्ञान में स्वतन्त्ररूप से वर्णित किया गया है। इसके लिए उन्होंने मूत्रोत्पत्ति, शुक्रप्रादुर्भाव आदि की प्रक्रियाओं का विवेचन किया है।

इसमें कुल २४ अध्याय हैं जिनमें कोष की उत्पत्ति से लेकर प्रजनन की प्रक्रिया तक का सम्पूर्ण वर्णन नव्य शारीर विज्ञान ग्रन्थों के आधार पर संगृहीत है। केवल हिन्दी के माध्यम से पढ़ने वालों के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपकारक है। प्रकाशन चौखम्भा विद्याभवन से सन् १९५४ में हुआ।

पदार्थ विज्ञान

मनुष्य योनि सृष्टि की ८४ लाख योनियों में सर्वोत्कृष्ट है। प्रत्येक मनुष्य को धन, इद्रियों के सुख और अन्त में धर्म और मोक्ष प्राप्ति की इच्छा किसी न किसी रूप में अवश्य होती है। यह सब स्वस्थ शरीर के बिना असम्भव है। स्वस्थ शरीर आयुर्वेद के नियमानुसार अध्ययन और तदनुसार आचरण करने से ही सम्भव हो सकता है। आयुर्वेद को यदि जानना है तो उसके अपने कुछ सिद्धान्त हैं, जिन्हें जानना आवश्यक है। जब तक ये सिद्धान्त हृदयङ्गम न हो जायें तब तक उसका ज्ञान हो सकना असम्भव है। इन मौलिक सिद्धान्तों को पदार्थ विज्ञान के अन्तर्गत कई आचार्यों ने अनुस्यूत किया है।

अहार और औषध, सभी के लिए किसी न किसी द्रव्य के ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। द्रव्य, गुण और कर्म से युक्त होता है। ये गुण कर्म किसी द्रव्य में समवाय संबंध से ही रहते हैं और परस्पर एक दूसरे के समान होते हैं अथवा उससे भिन्न होते हैं। संक्षेप में यही षट्पदार्थी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का सूत्र है। इसी सूत्र के ऊपर सम्पूर्ण शास्त्र भाष्यात्मक रूप में रचा गया है।

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग जब तक सम्यक् रूप में बना रहता है तब तक प्राणि शरीर टिका रहता है। जिस दिन इस संयोग में विपर्यय होता है, उसी दिन रोग अथवा मृत्यु की संप्राप्ति होती है। शरीर—चाहे वह मानव का हो, पशु-पक्षी का हो अथवा वनस्पति का, सभी पाञ्चभौतिक होता है। अतएव पञ्चमहाभूतों का ज्ञान और अध्ययन भी पदार्थ विज्ञान के ही अन्तर्गत का विषय है। पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति जिनसे होती है उन पञ्च-तन्मात्राओं, अहङ्कार, महान् अव्यक्त, सत्व-रज-तम आदि गुणों के कारण सृष्टि; और इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, दोष, धातु आदि की कर्मसृष्टि का ज्ञान भी अत्यावश्यक है। फिर मनुष्य शरीर के सञ्चालक तो दोषादि ही हैं। अतएव शरीर के साथ उनका ही अधिक संपर्क होता है। औषधियों में भी महाभूतों के उत्कर्षापकर्ष के अनुसार रस-गुण-वीर्य-विपाक और प्रभावादि की उत्पत्ति होती है।

शास्त्रपरीक्षा, शास्त्राध्ययन और उनमें निहित व्याधि और व्याधित से संबद्ध गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए वादमर्यादा आदि का तथा प्रमाण प्रमेय आदि का भी ज्ञान होना आवश्यक है। इस तरह ज्ञातव्य सभी बातें जो आयुर्वेद के अध्ययन में सहायक हो सकती हैं, का परिज्ञान पदार्थ विज्ञान के ही अन्तर्गत किया जाता है।

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान अन्य संबद्ध दर्शनों के साथ कहीं-कहीं सामान्य विशेष सम्बन्धों द्वारा मिलते हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि पहले के

आचार्य इस बात को मानते थे कि आयुर्वेद पढ़ने के लिए आया हुआ विद्यार्थी व्याकरण, कोष एवं न्यायादि दर्शनों को पढ़कर तब आ रहा है अतएव सामान्य ज्ञान हो जाने के पश्चात् वह विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए आयुर्वेद पढ़ रहा है। यदि इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाय तो सामान्य दर्शनों के इतिहास को भी आयुर्वेद के इतिहास में स्थान अवश्य मिलना चाहिए। इसलिए इन दर्शनेतिहास पर संक्षेप में ही विचार कर लिया जाता है।

दर्शनों का इतिहास कम से कम २००० वर्ष पुराना है। षड्दर्शन में भी न्याय और वैशेषिक ये दो दर्शन अद्वितीय हैं। न्यायशास्त्र का संबंध जितना तर्क से है उतना अन्य किसी बात से नहीं है। यद्यपि अक्षपाद गौतम ने कहीं-कहीं अध्यात्म और धर्म का भी विचार किया है किन्तु वह तर्क के समान बहुल नहीं है। इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन प्रायः आध्यात्मिक विषयों की ही चर्चा पर जोर देता है और तार्किकता को उसमें गौणता प्रदान की गई है।

महर्षि गौतम ने ज्ञान पर ही अधिक विचार किया है किन्तु कणाद उत्पत्ति, स्थिति और लय पर अधिक ध्यान देते हैं। धर्म इन बातों पर विचार करने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है और उनके याथातथ्य की कसौटी बनता है, यद्यपि मोक्ष प्राप्ति दोनों का ही साध्य है। इन दोनों ही विचारकों का अभ्युदय ईसा से ४ या ५ सौ वर्ष पूर्व हुआ था। तब से अनेक मोड़ लेते हुए विनाश और उन्नति से संघर्षरत ये दोनों ही सम्प्रदाय अक्षुण्ण रूप में आज तक चले आ रहे हैं। इस इतिहास को ३ भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला विभाग ५ वीं शताब्दी तक लगभग १००० वर्षों की अवधि वाला, दूसरा तेरहवीं शताब्दी तक का लगभग पौन हजार वर्ष का और तीसरा उसके बाद का काल माना जा सकता है। कालक्रम के प्रथम संभाग से संबद्ध कृतियों में महर्षि गौतम और कणाद की रचनायें तथा प्रशस्तपाद भाष्य मात्र उपलब्ध होता है। अन्य टीकायें भी रही होंगी किन्तु वे उपलब्ध नहीं होतीं। इस समय सिद्धान्तों का सूत्र रूप में निर्माण हुआ। इन सूत्रों की रचना महर्षियों ने अपनी परिपक्व बुद्धि के आधार पर की। इस समय न्याय और वैशेषिक दोनों ही शास्त्रों का परस्पर स्वतन्त्र रूप में और एक दूसरे के समानान्तर विकास होता रहा।

दूसरे प्रविभाग में (लगभग ७५० वर्षों तक) उन सूत्रों पर भाष्य की रचना हुई। इसके प्रवर्तक वात्स्यायन ऋषि हुए। इन भाष्यों ने सूत्रों के अर्थ को खूब परिष्कृत किया। उनके भावों को विस्तार से समझाया गया और एक दूसरे का खण्डन-मण्डन प्रारम्भ हुआ। तीसरे अंश काल में दोनों ग्रन्थों से सारभाग का ग्रहण करके तर्कसंग्रह और तर्ककौमुदी जैसे ग्रन्थों की रचना की गई।

वैशेषिक सूत्रों की रचना महर्षि कणाद ने १०-१० अध्याय के दो आह्निकों में की है। प्रशस्तपाद भाष्य का सर्वप्रथम इस सूत्रों पर निर्माण हुआ। उद्योतकर ने प्रशस्तपाद का उद्धरण दिया है इससे प्रतीत होता है कि ये सातवीं शताब्दी में अवतीर्ण हुए होंगे। जगद्गुरु शंकराचार्य ने भी आचार्य प्रशस्तपाद को उद्धृत किया है। श्रीशंकर मिश्र ने इस पर वैशेषिकोपस्कार की रचना की। इसी पर भारद्वाजवृत्ति नामक टीका का भी उल्लेख मिलता है। शंकर मिश्र, आचार्य रघुदेव के शिष्य हैं और ये सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नैयायिक गदाधरभट्ट के सतीर्थ रहे हैं। अभी श्री चन्द्रकान्त विद्यालङ्कार ने इसी पर वैशेषिकोत्तर भाष्य बनाया है। रावण ने भी प्रशस्तपाद भाष्य के ऊपर एक प्रतिभाष्य बनाया था। दिङ्नाग ने भी अपने प्रमाणसमुच्चय में कुछ ऐसे उद्धरण दिये हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद-भाष्य से भी प्राचीनतर टीकायें थीं। श्रीधर ने प्रशस्तपादभाष्य पर न्याय-कन्दली नामक टीका लिखी है। राजशेखर नामक जैन मुनि ने कन्दली की प्रतिटीका में ३ और प्रशस्तपादीय प्रतिटीकाओं का उल्लेख किया है जो सभी कन्दली के बाद बनी हैं, वे ये हैं—शिवादित्य की व्योमवती, उदयन की किरणावली और श्रीवत्स (या वल्लभ) की लीलावती।

महर्षि गौतम ने न्यायसूत्रों की रचना ५ अध्यायों में की है। वात्स्यायन भाष्य इस पर सबसे प्राचीन है। इनको पक्षिल स्वामी भी कहते हैं जो पाँचवीं शती में हुए थे और छठवीं शती के प्रमाणसमुच्चयकर्ता दिङ्नाग के पूर्व-कालिक थे। छठवीं शताब्दी के अन्त में वात्स्यायन भाष्य पर उद्योतकर ने न्यायवार्तिक नामक टीका लिखी। इसके बाद ९९१ ई० में श्रीधर ने न्याय और वैशेषिक दोनों पर ही टाकायें लिखीं। षड्दर्शन टीकाकार श्री वाचस्पति मिश्र दशवीं शताब्दी में हुए। इसके बाद उदयनाचार्य हुए जिन्होंने किरणा-वली और तात्पर्यपरिशुद्धि का निर्माण किया। उद्योतकरके वार्तिकों पर वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका बनाई। तात्पर्यपरिशुद्धि, तात्पर्यटीका की प्रतिटोका ही प्रतीत होती है। तात्पर्यपरिशुद्धि के ऊपर वर्धमान उपाध्याय ने न्यायनिबन्धप्रकाश नामक टीका लिखी।

उदयन के बाद शिवादित्य मिश्र हुए, जिन्होंने प्रथम बार न्यायशास्त्र और वैशेषिक दर्शन का सामञ्जस्य करने का प्रयास किया। इन्होंने ही षट्पदार्थों में अभाव जोड़कर सप्तपदार्थी के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो तर्कसंग्रह, तर्ककौमुदी, तर्कामृत आदि के लिये प्रतिपाद्य विषय बना। इसके बाद ही वरदराज, मल्लिनाथ आदि आचार्यों ने इस प्रकार की व्याख्यायें लिखीं। जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी, न्यायशास्त्र पर एक स्वतन्त्र टीका है।

ये दशवीं शताब्दी में हुए और काश्मीर के निवासी थे। रघूत्तम ने वात्स्यायन-भाष्य पर भाष्यचन्द्र का निर्माण किया।

चौदहवीं शताब्दी में नदिया-निवासी गङ्गेशोपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि की रचना की। इस पर इनके शिष्य जयन्तदेव (पक्षधर मिश्र) ने मण्यालोक बनाया। एक दूसरे शिष्य वासुदेव सार्वभौम ने भी इस पर एक टीका बनाई है। इनके भी चार शिष्य हुए। प्रथम चैतन्य (गौराङ्गमहाप्रभु) ने वैष्णव सिद्धान्तों का प्रचार किया। द्वितीय रघुनाथ तर्कशिरोमणि ने तत्त्वचिन्तामणि की दीधिति-नामक टीका बनाई। इन्होंने पदार्थ-खण्डन नामक एक टीका उदयन की टीका पर बनाकर वैशेषिक दर्शन का खण्डन किया है। तीसरे शिष्य रघुनन्दन ने स्मृतियों पर और चौथे शिष्य कृष्णानन्द ने तंत्रशास्त्र पर कार्य किये। रघुनाथ के बाद मथुरानाथ, हरिराम तर्कालङ्कार और जगदीश भट्ट आदि विद्वान् हुए। इसके बाद रघुदेव और गदाधर भट्टाचार्य की परम्परा आती है। गदाधर ने न्यायशास्त्र की भाषा को एक नयी प्रौढता प्रदान की। तत्त्वचिन्तामणि के ६४ वादों के साथ दीधिति और मण्यालोक तक इन्होंने टीकायें कीं। ये सोलहवीं शती के अन्त में या सत्रहवीं के प्रारम्भ में हुए होंगे।

इसके बाद विश्वनाथ और अन्नम्भट्ट हुए, जिन्होंने अपने ही ग्रन्थों का परिष्कार करके सिद्धान्त-मुक्तावली और तर्कदीपिका की रचना की। इसके पश्चात् भाषापरिच्छेद, तर्ककौमुदी, तर्कामृत आदि का निर्माण हुआ।

महर्षि कपिल ने सांख्य शास्त्र का प्रणयन किया। इस सम्प्रदाय के दूसरे आचार्य पञ्चशिख हुए, जिनका काल ईसवी सन् का आरम्भ माना जाता है। इसके पश्चात् ईश्वरकृष्ण हुए जिन्होंने सांख्यकारिका का निर्माण किया। सन् ३२० ई० के आस-पास हुए परमार्थ सप्तति-टीकाकार वसुबन्धु के अनुसार वार्षगण्य ने सृष्टितन्त्र का निर्माण किया, जिनके शिष्य विन्ध्यवासिपाद ने सुवर्ण-सप्तति बनाकर सृष्टितन्त्र का संशोधन किया है। परमार्थसप्तति, सुवर्णसप्तति का खण्डन करने वाला ग्रन्थ है। कुछ लोग वार्षगण्य को ही ईश्वरकृष्ण मानते हैं, जो उचित नहीं प्रतीत होता। सांख्यकारिका का और इसके एक दूसरी संस्कृत टीका का अनुवाद चीनी भाषा में परमार्थ नामक बौद्ध भिक्षु के द्वारा सन् ५४६ ई० में उज्जैन में किया गया। सम्भवतः वह टीका माठर भाष्य रही हो क्योंकि अनुयोगद्वार सूत्र नामक ४५० ई० में निर्मित जैन ग्रन्थ में माठर भाष्य को सांख्यकारिका की टीका बताया गया है। चीनी अनुवाद का नाम सुवर्णसप्ततिशास्त्र है, जिसका प्रकाशन संस्कृत में पं० रुथ्यास्वामी ने सन् १९४४ में कराया है। जो भी हो इस माठरभाष्य का सन् १००० ई० में निर्मित माठरवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। सांख्यकारिका पर गौडपाद,

वाचस्पति मिश्र और जयमङ्गल की टीकायें हैं। सांख्यसूत्र या सांख्यप्रवचन का निर्माण चौदहवीं शताब्दी में हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी में अनिरुद्ध ने इस पर एक टीका की और सोलहवीं शताब्दी में विज्ञान भिक्षु ने इस पर सांख्य-प्रवचन भाष्य बनाया।

इन तीनों ही प्रस्थानों के सिद्धान्तों का मिला-जुला (और कहीं-कहीं पर अपनी स्वतन्त्र रीति से भी) प्रतिपादन चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु ये विषय विभिन्न स्थानों में प्रकीर्ण रूप से प्रतिपादित किये गये हैं। वर्तमान काल में इसके महत्त्व को देखकर विद्वानों ने इनका संग्रह किया और परिणामस्वरूप अधोलिखित उल्लेखनीय पुस्तकों का प्रकाशन हुआ—

(१) पदार्थविज्ञानम् (पदार्थतत्त्वमात्र-परिचायकं प्रथमभागमात्रम्)—इसके लेखक–सर्वतन्त्रापरतन्त्र भारतराष्ट्रपति के प्रधान चिकित्सक-काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालयीय आयुर्वेद महाविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष एवं प्राध्यापक पद्मभूषण आदि उपाधियों से भूषित वैद्यसम्राट् पं० सत्यनारायण शास्त्री हैं।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—यह ग्रन्थ पदार्थतत्त्वमात्र का परिचायक है। यद्यपि इसका उपनिबन्धन प्रकाशन से अनेक वर्षों पूर्व ही कर दिया गया था किन्तु पुस्तक रूप में सं० २०१६ वि० में शास्त्री जी के स्वकीय प्रयत्न से ही यह उपलब्ध हो पाया। इसके बनाने का कारण ग्रन्थकार ने अपने श्री मुख से ही बताया था कि इस विषय पर शास्त्रकारों के अनेक मत-मतान्तर उपलब्ध होते हैं अतएव सर्वसम्मत विचार-पद्धति एवं सिद्धान्त का प्रदर्शन करने के लिए इसका उपनिबन्धन तदानीन्तन काशीस्थ उद्भट विद्वानों पं० बालकृष्ण शर्मा आदि के परामर्श से किया गया है।

इसमें पद-लक्षण, पदार्थ-लक्षण, शक्ति-लक्षण, वृत्ति-विचार, अपौरुषेय आदि के लक्षण, आयुर्वेद का वेदत्व-प्रतिपादन, पदार्थों के भेद तथा चरकाभिमत षट्पदार्थी-विचार, सामान्य रूप से द्रव्यों का निरूपण, गुणों का सामान्य एवं विशेष उभयविध-निरूपण, बुद्धि के साथ ही साथ अध्यवसाय, अनध्यवसाय, स्वप्न, विद्या, मोक्ष, प्रत्यक्ष तथा उसके भेद, मननिरूपण, ज्ञानलक्षण एवं सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिनिरूपण, अनुमान प्रामाण्य, उसके भेद, हेत्वाभास, व्याप्ति आदि का निरूपण बड़े विस्तार से एवं प्राञ्जल ढंग से किया गया है। विश्वनाथ पञ्चानन, शंकरमिश्र, उदयन आदि आचार्यों के मतों का प्रदर्शन बड़ा ही रोचक एवं सहज बोधगम्य होता है।

इनके जीवन चरित तथा अन्य विशेष कृतियों के परिज्ञानार्थ सन् १९६१ में चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ का अवलोकन करें।

(२) पदार्थविज्ञान—आयुर्वेद बृहस्पति पं० रामरक्ष पाठक लिखित और श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में मूलतः दो भाग हैं।

प्रथम भाग में दो अध्याय हैं जिनमें प्रमाणों से लेकर पदार्थों तक प्रतिपादन है। द्वितीय अध्याय के दोनों पादों में इन्हीं का विस्तार मे विवेचन करके अन्त में विकास-क्रम को भी प्रतिपादित किया गया है। परिशिष्ट में तन्त्रयुक्तियों का भी वर्णन किया गया है। यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है।

(३) आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—वैद्य रणजित राय देसाई आयुर्वेदालङ्कार द्वारा लिखित और श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा ही प्रकाशित इस पुस्तक में भी उपर्युक्त विषयों का ही प्रतिपादन है किन्तु क्रम कुछ भिन्न रक्खा गया है।

(४) प्रमाणविज्ञान—आयुर्वेद पञ्चानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ने इसकी रचना की है। इसमें भी विवेचित विषय प्रायः वे ही हैं।

(५) आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञानम्—श्री चिन्तामणि गणेश काशीकर द्वारा लिखित और आयुर्वेदान्वेषण समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक भी बहुत ही उपयोगी है। इसमें पहले संस्कृत भाषा में प्रमाण-प्रमेय-तन्त्रयुक्तियों आदि का विचार किया गया है और अन्त में उसी का आंग्लभाषा में संक्षिप्त अनुवाद भी दे दिया गया है। जो लोग संस्कृत नहीं जानते किन्तु अग्र ेजी का ज्ञान रखते हैं उनके लिये यह उपादेय होगा।

(६) पदार्थविज्ञानम्—लेखक (श्री वागीश्वर शुक्ल) द्वारा लिखित और चौखम्बा से सन् १९६५ में प्रकाशित इस पुस्तक में तर्क-न्याय-सांख्य आदि के विवेचन के साथ ही साथ आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का भी सपासपूर्वक विवेचन किया गया है। अब तक की पाठ्यक्रम को समस्त न्यूनताओं का परिहार इससे हो जाता है। पुस्तक की उपादेयता को समझकर ही आयुर्वेदिक एवं तिब्बी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश ने इसको पुरस्कार से सम्मानित किया।

आयुर्वेदीय विषयों का विवेचनात्मक रूप से वर्णन इसके द्वितीय भाग में किया जायेगा।

(७) आयुर्वेद ना मूल सिद्धान्त—इसके लेखक डा० प्राणजीवन मेहता, एम० डी०, एम्० एस्०, एफ० सी० पी० एस्०, एफ० आई० सी० एस्०, भूतपूर्व सञ्चालक केन्द्रीयायुर्वेदान्वेषण संस्था हैं। इन्होंने गुजरात विश्वविद्यालय में इस विषय पर कुछ प्रवचन-भाषण दिये थे जिनको संग्रह करके गुजरात यूनिवर्सिटी ने गुजराती भाषा में प्रकाशित किया। इसका हिन्दी अनुवाद भी शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

फन्डामेण्टल प्रिंसिपल्स आफ् आयुर्वेद—आंग्ल भाषा में ३ भागों में प्रकाशित इस पुस्तक के लेखक डा० सी० द्वारकानाथ हैं। जब वे गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक एवं यूनानी कालेज मैसूर के अध्यक्ष थे तभी उन्होंने इसे लिखा था। इसमें भी न्याय, सांख्य, वैशेषिक के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है।

पदार्थ-विज्ञान

आयुर्वेद के अध्ययन के लिए पदार्थ-विज्ञान की उपयोगिता

जिस प्रकार नव्य चिकित्सा-विज्ञान के अध्येता को भौतिक-विज्ञान, रसायनशास्त्र एवं जीव-विज्ञान का ज्ञान होने पर ही उसे आगे चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन करने के लिए प्रविष्ट किया जाता है, उसी प्रकार से आयुर्वेदाध्ययनेच्छु छात्र के लिए पदार्थ-विज्ञान का सम्यक् ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना उसकी आगे गति नहीं हो सकती। पदार्थ-विज्ञान दो प्रकार का होता है एक सामान्य और दूसरा विशिष्ट। सामान्य पदार्थ-विज्ञान में तर्क-संग्रह, न्यायशास्त्र, वैशेषिक दर्शन तथा वेदान्त के प्रारंभिक अंशों का अध्ययन कराना नितान्त आवश्यक है। इन विषयों का उत्तर मध्यमा के पाठ्यक्रम में समावेश हो जाता है। अतएव आयुर्वेदाध्येता के लिए उक्त परीक्षा पास करना और केवल परीक्षा ही न पास करके उल्लिखित सभी विषयों का सम्यक् ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। विशिष्ट पदार्थ-विज्ञान में आयुर्वेद से सम्बद्ध उन्हीं विषयों का सम्यक् अध्ययन कराया जाता है और यह अध्ययन भी अलग से एक विषय के रूप में प्रथम वर्ष में ही करा देना चाहिए जिससे छात्रों को पुरानी स्मृति के आधार पर इस नवान ज्ञान को आत्मसात् करने में अधिक कठिनाई न होगी।

इस स्थान पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि पदाथ-विज्ञान को जब संहिता ग्रन्थों में अलग से वर्णित नहीं किया गया है तो स्वतन्त्र विषय के रूप में क्यों पढ़ाया जाय? इसके लिए इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि संहिता ग्रन्थों में द्रव्यगुण या भैषज्य-कल्पना के लिए भी स्वतन्त्र स्थान या वर्णन नहीं प्राप्त होते, किन्तु उनका जब अलग से अध्ययन कराया जा रहा है तो पदार्थ-विज्ञान के लिए इस प्रकार की आपत्ति करना उचित नहीं। पदार्थ के रूप में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय के अतिरिक्त दोष, दूष्य, आयु, व्याधि, औषधि आदि का भी विवेचन करना होगा और उसके लिए विशिष्ट प्रकार के ग्रन्थों का भी प्रणयन करना आवश्यक होगा। पदार्थ विज्ञान के ही अन्तर्गत वेद, उपनिषद्, आरण्यक, इतिहास, पुराणादि प्राचीन आयुर्वेदेतर संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होने वाले आयुर्वेद के स्वरूप का भी दिग्दर्शन स्नातक कक्षाओं में ही करा देना आवश्यक एवं उचित होगा, क्योंकि इससे छात्र के मन में एक

प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न हो जायगी जो स्नातकोत्तर प्रशिक्षणकाल में विषयों के सुविस्तृत अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

ग्रन्थ-लेखक का जीवनवृत्त एवं कृतित्व

मेरा जन्म सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में चैत्र कृष्ण षष्ठी सम्वत् १९८४ विक्रमी तदनुसार दिनांक १३ मार्च १९२८ को ग्राम परसादीपुर, पोस्ट-रत्नपुर, जिला जौनपुर में हुआ है। मेरे पिताजी पं० राजाराम शुक्ल साहित्यशास्त्राचार्य, एक कर्मठ सनातनधर्मी ब्राह्मण हैं और उनके तथा स्वर्गीया माताजी के पुण्य का ही प्रभाव हैं जिसके कारण मुझमें बाल्यकाल से विद्या के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। पाँच वर्ष की वय में अक्षरारम्भ संस्कार सम्पन्न करा के ग्राम के ही प्राइमरी स्कूल में मुझे अध्ययनार्थ भेजा गया। इससे पूर्व ही अनेक स्तुतिपरक श्लोक कण्ठस्थ करा दिए गए थे, यद्यपि उस समय अक्षर ज्ञान नहीं था। जब सामान्य अक्षर ज्ञान इस ग्रामीण स्कूल में प्राप्त कर लिया तो पिताजी ने मेधानुरूप शिक्षा की उत्तम व्यवस्था के लिए मुझे भी काशी में ही अपने पास बुला लिया। उन दिनों वे रणवीर संस्कृत पाठशाला में अध्यापक थे जहाँ से अध्यक्ष पद पर कार्य कर अब सेवा-निवृत्त हो चुके हैं।

इस प्रकार प्राइमरी से लेकर स्नातक कक्षा तक की सम्पूर्ण शिक्षा मेरी सर्वविद्या की राजधानी काशी में ही पूर्ण हुई। प्रातःस्मरणीय महामना मालवीय जी का पिताजी के प्रति बड़ा स्नेह था। पिताजी स्वयं भी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रणवीर संस्कृत पाठशाला में अध्यापक थे अतः मे ि भी शिक्षा हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध संस्थाओं में ही पूर्ण हुई। सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल से एडमिशन परीक्षा तथा आयुर्वेदिक कालेज से आयुर्वेदाचार्य परीक्षा २४ वर्ष की वय में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

आयुर्वेद पढ़ने का भी एक इतिहास है—जब एडमिशन परीक्षा प्रथम श्रेणी में गणित विषय में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण हुआ ता विश्वविद्यालय के साइन्स कालेज में प्रथम वर्ष में नाम लिखाया गया। उस वर्ष के महामना-जयन्ती के दिन पिताजी पूज्य मालवीय जी महाराज के दर्शन करने गए तो उन्होंने कुशल प्रश्न के पश्चात् पूछा कि पुत्र क्या कर रहा है? साइन्स कालेज पढ़ रहा है ऐसा उत्तर मिलने पर उन्होंने प्रतिप्रश्न किया कि अपनी संस्कृत विद्या क्यों नहीं पढ़ाई? न होता तो आयुर्वेद ही पढ़ाया होता? पिताजी ने यह बात आकर मुझसे बतायी। इसे मैंने महामना की परोक्षरूप में आज्ञा माना और दूसरे वर्ष सन् १९४६ की जुलाई में साइन्स कालेज से माइग्रेशन प्रमाणपत्र लेकर आयुर्वेदिक कालेज में आ गया और नाम लिखा लिया।

योग्यताएँ--

१. सन् १९५२ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आयुर्वेदाचार्य (ए० एम० एस०) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की है।

२. उस वर्ष की चरक-संहिता-परीक्षा में सर्वाधिक अङ्क प्राप्त करने के कारण स्वर्ण पदक प्रदान किया गया है।

३. सन् १९६० में गुजरात विश्वविद्यालय से बी० ए० परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की है।

४. सन् १९६१ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की है।

अनुभव--

१. सन् १९५२-५३ में सर सुन्दरलाल चिकित्सालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हाउस फिजीशियन के पद पर कार्य किया। इसी अवधि में मैंने सन्तापहर औषधियों पर स्वबुद्धया अन्वेषण कार्य प्रारम्भ किया और सौभाग्यवटी का सन्ततज्वर पर तथा नायिका स्वरस भावित हिंगुलेश्वर का अन्येद्युष्क विषम ज्वर पर प्रभावकारी अध्ययन करके शोधपत्र उपस्थित किया।

२. सन् १९५३ से ५४ तक 'फाउन्डेशन फार न्यू एजुकेशन' राजघाट में आर० एम० ओ० के पद पर कार्य करता रहा।

३. १९५५ से ५८ तक सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट जामनगर में हाउस फिजीशियन के पद पर कार्यरत रहा।

४. उसी संस्था में सन् १९५८ के नवम्बर मास से जूनियर फिजीशिन बना दिया गया।

५. गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय तथा उसकी पूर्ववर्ती संस्थाओं में लगभग १५ वर्षों तक अध्यापन एवं अन्वेषण का कार्य किया है तथा इस काल में अनेक शोध-प्रबन्धों का निर्देशन किया तथा अनेक शोध-निबन्धों के प्रकाशन में अपना योगदान किया। इसकी सूची अधोलिखित है :—

१. पंचविधकषायकल्पनम् (ज्वरे प्रयोज्यस्वरसानां संग्रहः)
२. पंचविधकषायकल्पनम् (रक्तपित्ते प्रयोज्यस्वरसानां संग्रहः)
३. पंचविधकषायकल्पनम् (पाण्ड्वादिषु प्रयोज्यस्वरसानां संग्रहः)
४. हरीतकी (It's pharmacology and therapeutics)
५. विटामिन
६. वातादिप्रकृतिभेदानुसारीचर्याविशेषः
७. पंचविधकषायकल्पनम् (अम्लपित्ते प्रयोज्यस्वरसानां संग्रह :)

८. अम्लपित्त (निदान-चिकित्सात्मक अध्ययन)
(Amlapitta English precis of original article)

९. कामला रोग का अध्ययन
A clinical Study of Kamala roga (Jaundice)

१०. नारायण तेल का अम्लपित्त रोग में प्रभाव

११. नारायण तैल-विवेचन

१२. अम्लपित्त ऊर्ध्वग

१३. अग्निबलवर्ण का अध्ययन

१४. अग्नि-विवेचन

१५. ग्रहणी विकार

१६. ग्रहणी शारीर

१७. ग्रहणी नाडी का स्वरूप

१८. आहार-परिणाम कर भाव

१९. स्वस्थ शरीर का स्वरूप

२०. आरोग्यवर्धिनी वटी एवं पुनर्नवाष्टक क्वाथ के जलोदर पर कार्य का तुलनात्मक अध्ययन

२१. प्रवाहिका रोग का अध्ययन

२२. ग्रहणी रोग के दो रोगियों का अध्ययन

२३. त्रिदोष विज्ञान

२४. पाण्डुरोग से पीडित एक रुग्णा में कुछ औषधियों के परीक्षण

२५. The Comperative Study of Kumaryasava in Pandu Roga.

२६. हृदय का प्राचीन वर्णन

२७. शुद्ध आयुर्वेद के अध्ययनाध्यापन में आधुनिक यन्त्रशस्त्रों का प्रयोग

२८. चरक-कल्पस्थान का अध्ययन

इसके अतिरिक्त अधोलिखित पुस्तकें भी मेरे द्वारा लिखी गई हैं :—

१. पदार्थविज्ञानम्-चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी सन् १९६५ में आयुर्वेद और यूनानी एकेडमी यू० पी० से पुरस्कृत।

२. ,, ,, (द्वितीय भाग) अप्रकाशित

३. आतुर परीक्षाविधि ,, ,,

४. हृद्रोग

५. आयुर्वेद का इतिहास

६. तन्त्रयुक्ति-विज्ञानम् अप्रकाशित
७. अध्यात्म शारीर "
८. निदान पंचक "
९. ज्वर का निदान-चिकित्सात्मक विवेचन अप्रकाशित
१०. A Book of Bio Chemistry (Hindi)

६. आयुर्वेद महाविद्यालय, वाराणसी में सन् १९७० की १३ जुलाई से प्राध्यापक संहिता के पद पर कार्य कर रहा हूँ। यहाँ पर भी अध्यापन के साथ ही साथ लगभग ४० महाप्रबंधों का निर्देशन कर चुका हूँ।

७. सन् १९७३ की १८ अगस्त से प्राचार्य, आयुर्वेद महाविद्यालय के पद पर कार्य कर रहा था। किन्तु महाविद्यालय में कुछ विशेष परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण (जो आपात्स्थिति की घोषणा से पूर्व सभी महाविद्यालयों में रहा करती थीं) राजाज्ञानुसार इस पद को सन् १९७५ वर्ष के अप्रैल मास के अन्तिम सप्ताह से रिक्त कर अपने प्राध्यापक संहिता पद पर पूर्ववत् आ गया हूँ और अध्यापन कार्य कर रहा हूँ।

प्रश्नपत्राणि

शास्त्रि-परीक्षा

निखिल भारतवर्षीय-आयुर्वेद विद्यापीठम्

१९७२ वर्षीयपरीक्षायाम्

आयुर्वेदशास्त्रिपरीक्षायां चतुर्थखण्डे

आयुर्वेदेतिहासादिविषये प्रश्नपत्रम्

समयो होरात्रयम् पूर्णाङ्काः १००

विशेष—सर्वे प्रश्नाः समानांकाः। पञ्च एव समाधेयाः। पंचम-षष्ठौ न हेयौ कदाचन।

१. आयुर्वेदस्य प्रादुर्भावकालविषये स्वमतं विलिख्य कस्मिन् वेदेऽस्य प्राचुर्येण वर्णनं सोदाहरणं वर्णयत।

२. आयुर्वेदस्याऽष्टाङ्गविभागः कदा बभूव इति सम्यग् विविच्य आयुर्वेदे कति सम्प्रदायाः इति सप्रमाणं लेखनीयम्।

३. किं पुराणग्रन्थेषु आयुर्वेदस्य विश्लेषणमिति प्रमाणीकुरुत।

४. काश्यसंहिता-चरकसंहिताग्रन्थयोः पौर्वापर्यं सप्रमाणं विनिश्चित्य कस्यैकस्य च वैशिष्ट्यं प्रतिपादय।

५. आयुर्वेदे लिखितपरीक्षाप्रणाली कदा प्रचलिता? अखिलभारतवर्षीयायुर्वेदमहासम्मेलनविषये किं जानन्ति भवन्तः? किमर्थं तस्य स्थापना कदा केन कृतम्?

६. "आयुर्वेदीयदर्शनं स्वतन्त्रं न तु परेभ्यः संगृहीतम्" इति स्फुटं निबन्धरूपेण निबन्धनीयम्।

•

१९७३ वर्षीयपरीक्षायाम्

आयुर्वेशास्त्रिपरीक्षायां (चतुर्थखण्डे)

आयुर्वेदेतिहासदर्शनादिविषये प्रश्नपत्रम्

समयो होरात्रयम् पूर्णांका : १००

विशेष—सर्वे प्रश्नाः समानाङ्कभाजः। केचन पञ्चैव प्रश्नाः समाधेयाः। पंचमषष्ठौ चापरिहार्यौ।

१. वैदिककाले आयुर्वेदीयशस्त्रचिकित्सायाः का स्थितिरासीत्?
इति सोदाहरणं विविच्य बौद्धकाले तस्याः कारणपुरस्सरावनतिरपि विवेचनीया

२. "सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्रचमिदं जगत्" इत्युक्तिम् उपपाद्य; बौद्धकाले आयुर्वेदीयरसशास्त्रस्य का प्रगतिरभवत् ? इति सप्रमाणं वर्णनीयम् ।

३. यवनकाले आयुर्वेदयूनानि-चिकित्साक्रमयोः पारस्परिकं आदानं च प्रदानं च कियदासीदिति सम्यग् विवेचयतु ।

४. आयुर्वेद–शिक्षादीक्षायाः प्रचार-प्रसारे किं योगदानमस्ति निखिलभारतवर्षीयायुर्वेदमहासम्मेलनस्य ।

५ स्वराज्यकाले शुद्धमिश्रपाठ्यक्रमविषये किं जानन्ति भवन्तः ?
उभयोरुपादेयतानुपादेयता च तर्कपुरस्सरा प्रतिपादनीया ।

६. संक्षेपेण त्रिष्वेव टिप्पण्यः लेखनीया—

(क) सूर्यरश्मिचिकित्सा (ख) काशिराजदिवोदासः (ग) काश्यपसंहिता (फ) आयुर्वेदसांख्यसिद्धान्ताः (४) आयुर्वेदस्य दर्शनान्तरैः सह सम्बन्धः

●

१९७५ वार्षिकपरीक्षायाम्

आयुर्वेदशास्त्रिपरीक्षायाम् (चतुर्थखण्डे)

आयुर्वेदेतिहासादिविषये प्रश्नपत्रम्

समयो होरात्रयम्] [पूर्णांकाः १००

पंचैव प्रश्नाः पूरणीयाः सर्वे प्रश्नाः समानांकाः

१. "आयुर्वेदस्य संहिताकालो विकासशील आसीत्" इति सप्रमाणं विविच्य 'बावर' पांडुलिपेर्महत्त्वं वर्णयन्तु ।

२. सिद्धनागार्जुन-वर्तमानसुश्रुतसंहितयोः सम्बन्धं विविच्य तत्कालीनां संस्कृतिं वर्णयत ।

३. भारतीयभैषज्यविद्याया देशविदेशसम्बन्धो वर्णनीयः । कश्च विकासोपायः सम्प्रत्यायुर्वेदस्य ?

४ वैदिककाले चिकित्सकानां स्थितिं वर्णयत ।

५. आयुर्वेदे न्याय-वैशेषिकयोर्महत्त्वं प्रतिपादयत ।

६. संक्षेपेण केष्वपि चतुर्षु टिप्पणी लेख्या—

(क) प्राकृतिकचिकित्सा (ख) विषकन्या (ग) काम्पिल्लदेशः
(घ) प्रसूतिविज्ञानजन्म (ङ) आतुरालयमुक्तिः

●

१९७६ वार्षिकपरीक्षायां

आयुर्वेदशास्त्रिपरीक्षायाम् (चतुर्थखण्डे)

आयुर्वेदेतिहासादिविषये प्रश्नपत्रनम्

समयो होरात्रयम्] [पूर्णाङ्का: १००

सर्वे प्रश्ना: समानाङ्का: । पञ्चम-षष्ठसहिता:
पञ्चैव प्रश्ना: समाधेया: ।

१. पौराणिके स्मार्ते काले आयुर्वेदसाहित्यस्य प्रचारं प्रकाश्य चिकित्सकानां स्थितिं वर्णयन्तु तत्कालीनाम् ।

२. प्रतिसंस्कारकालं विविच्य सुश्रुतसंहिताकाश्यपसंहितयो: प्रतिसंस्कारविषये भवन्त: किं जानन्ति इति विविच्यताम् ।

३. बौद्धजैनमुनिभि: कृते प्रचारविषये भवन्त: किं जानन्ति ? तत्कालीनामायुर्वेदस्थितिं वर्णयन्तु तथा शल्यप्रयोगेषु रसशास्त्रप्रयोगेषु च जनरुचिमपि वर्णयन्तु तत्कालीनाम् ।

४. भारतीयभैषज्यविद्याया: प्राचीनत्वं प्रतिपाद्य हिप्पीक्रीटसम्बन्धं विमर्शयन्तु ।

५. सृष्ट्युत्पत्तिक्रमं प्रकृतिमहदहंकारमनोदशेन्द्रियाणामुद्भवं च वर्णयन्तु ।

६. भगवद्धन्वन्तरिवृत्तमुद्दिश्य शिशिरर्तुं वा शुद्धसरलसंस्कृतभाषायां निबन्धो लेख्य: विंशतिपंक्तय आवश्यकीया: सामान्यत: ।

प्रश्नपत्राणि

(आचार्य-परीक्षा)

(निखिल-भारतवर्षीय-आयुर्वेद-विद्यापीठम्)

१९७४ वार्षिकपरीक्षायाम्

आयुर्वेदाचार्ये वैद्याचार्ये च परीक्षायां (द्वितीय खण्डे)

आयुर्वेदेतिहासदर्शनादिकं विषये च प्रश्नपत्रम्

समयो होरात्रयम्] [पूर्णाका: १००

पञ्चैव प्रश्ना: समाधेया: ।

१. आयुर्वेदस्य अष्टांगत्वं कदा कथं जातमिति विविच्य आयुर्वेदे कस्य परमाचार्यत्वम् इति सोपपत्तिकं लेख्यम् । २०

२. त्रिदोषवाद: वैदिककालादेव आयुर्वेदे निरन्तरमनुवृत्त: इति युक्तिपुरस्सरं संसाध्य सुश्रुतसंहिताया: प्रतिसंस्कारो जातो न वेति, जातश्चेत् कस्तत्प्रतिसंस्कर्तेति सयुक्तिकं प्रतिपादनीयम् ।

३. मिश्र-ग्रीस वैद्यकयोः भारतीयायुर्वेदमूलकत्वं संसाध्य आयुर्वेदह्रासकारणानि ऐतिहासिकदृशा वाच्यानि । २०

४. आयुर्वेदाभिमतम् इन्द्रियाणां भौतिकत्वं शरीरस्य च पांचभौतिकत्वं साधनीयम् । २०

५. मनसः अतीन्द्रियत्वं पुनर्भवस्यास्तित्वं च प्रतिपाद्य सौगतानां निरात्मवादित्वं निराकुरुत ।

६. आयुर्वेदशिक्षायाः आयुर्वेदचिकित्सायाश्च विदेशेषु प्रचारप्रसारार्थम् वैद्यैः शासनेन च किं कार्यमिति विंशति पंक्त्यात्मकेन निबन्धेन प्रतिपादयत ।

●

१९७५ वार्षिकपरीक्षायाम्

आयुर्वेदाचार्ये वैद्याचार्ये परीक्षायां द्वितीयखंडे

समयो होरात्रयम्] [पूर्णांक १००

पंचैव प्रश्नाः समाधेयाः
सर्वे प्रश्नाः समानांकाः

१. आयुर्वेदे रस-चिकित्सा कदा समाविष्टा; तत्र नागार्जुनस्य किं स्थानम्, काष्ठचिकित्सायाः सा कथं बलवत्तरेति विवेचय सप्रमाणम् ।

२. शल्यतंत्रविकासे कानि कारणानि ? के चाचार्याः शल्यशालाक्यप्रवर्तका इति तान् नामग्राहं लिखित्वा अनयोस्तन्त्रयोः प्राचीनतां परिष्कुरु ।

३. अधोलिखितानामाचार्याणां परिचयो देयः—

क) दृढबलः ख) जीवकः ग) चक्रपाणिः घ) भावमिश्रः

४. किं नाम दर्शनशास्त्रम् ? आयुर्वेदे दर्शनशास्त्रस्य कः सम्बन्धः सोदाहरणं प्रदर्शय ।

५, पञ्चमहाभूतविज्ञानस्य त्रिदोष-सिद्धांतेन सह कश्चित् सम्बन्धः अस्ति ? यद्यस्ति तर्हि प्रतिपादनीय;

६. "अन्यचिकिसापद्धतीनां आयुर्वेदादेव उद्भवः" विषयमेनमधिकृत्य लघुनिबन्धः लेखनीयः ।

●

वर्षीय १९७५ परिशिष्ट-परीक्षायाम्

आयुर्वेदाचार्ये वैद्याचार्ये च परीक्षायां (द्वितीय खण्डे)

आयुर्वेदेतिहासदर्शनानां विषये प्रश्नपत्रम्

समयो होरात्रयम्] [पूर्णाङ्काः १००

केचन पञ्चैव समाधेयाः। सर्वे प्रश्नाः समानाङ्कभाजः।

प्रश्नो हि पञ्चमोऽन्तिमश्चानिवार्यः।

१. आयुर्वेदस्याथर्ववेदोपवेदत्वं प्रतिपाद्य वैदिककालस्य चिकित्सकानां स्थितिः प्रमाणपुरस्सरं प्रतिपादनीया।

२' अग्निपुराणान्तर्गता आयुर्वेदविषयाः संक्षेपतो विवेक्तव्या।

३. चरकसंहिताया निर्माणे केषामृषीणां योगदानमित्याद्युपदेष्टुः संस्कर्त्तुः सम्पूरकस्य च नामान्यभिधाय तेषां कालो विनिश्चेतव्यः।

४. आयुर्वेदस्य दर्शनान्तरैः सह सम्बन्धं प्रतिपाद्यास्य स्वतन्त्रदर्शनत्वं प्रमाणैः साकं सम्यग् विविच्यताम्।

५. आयुर्वेदसांख्ययोर्दार्शनिकप्रस्थाने किं वैशिष्ट्यम्? तयोर्मिथः साम्यं वैषम्यं च प्रतिपादयत।

६. आयुर्वेदस्य चूडान्तज्ञानाय संस्कृतज्ञानस्य किं महत्त्वमितिविषयमवलम्ब्य नातिदीर्घो निबन्धः लेखनीयः।

७. भवद्दृष्ट्याऽऽयुर्वेदस्य सर्वाङ्गीणाऽभ्युन्नतिः कथं शक्येति पञ्चषैः पृष्ठैर्लेखो विलेख्यः।

•

वार्षिक परीक्षा १९७६

आयुर्वेदाचार्य-वैद्याचार्यपरीक्षायाम् (द्वितीयखण्डे)

आयुर्वेदेतिहासदर्शनादिविषये प्रश्नपत्रम्

समयो होरात्रयम्] [पूर्णाङ्काः १००

सर्वे प्रश्नाः समानाङ्काः। पञ्चैव समाधेयाः

१. विकाशवादसरणिरायुर्वेदप्रसारे अधिकृता न वा? प्रमाणपुरःसरं भवत्सम्मतं मतं वैशद्येनास्थाप्यताम्।

२. गोनर्दपञ्चनददेशीयः पतञ्जलिः पुष्यमित्रस्य याजयिता कनिष्कसभासभ्यश्चरकोपनाम्ना अग्निवेशतन्त्रस्य प्रतिसंस्कर्त्ता च इति विसंवादे द्वयोः राज्ञोः कालनिर्देशपुरस्सरं स्वमतं विशदतया विवेचनीयम् ।

३. अग्निवेशतन्त्रस्य सुश्रुतसंहितायाश्च प्रतिसंस्कारकाले रसचिकित्सायाः सार्वत्रिके प्रचारेऽपि प्रतिसंस्कारकर्तृभिः संहितयोः बाहुल्येन रसचिकित्सायाः समावेशः कथं न कृत इति प्रतिसंस्कारकाणां परिचयपूर्वकं विशदनीयम् ।

४. आयुर्वेदस्य कस्मिन्नङ्गे रसतन्त्रस्य समावेशः ? गणनाथसेनमहोदयेन रसायनतन्त्रेऽस्य समावेशः कृतः । मतमिदं भवते रोचते न वा ? इति विशदतया विवेचनीयम् ।

५. त्रिदोषसिद्धान्तस्य का आधारभूमिः ? पञ्चमहाभूतवादेन अस्ति कश्चिदस्य सम्बन्धः ? स्वीकारे स च कीदृशः इति विवेचनीयम् ।

६. सांख्ययोगयोः परिणामवादस्य न्यायवैशेषिकयोश्च आरम्भवादस्य आयुर्वेदे कुत्र कुत्र उपयोगः कृतः इति विविच्य सौगतानां क्षणिकवादस्य आयुर्वेदेन सह कश्चित् सम्बन्धः न वा इत्यपि लिख्यताम् ।

७. आयुर्वेदचिकित्सायाः ह्रासे कानि कारणानि ? तन्निवारणोपायाश्च के ? इति विषयमवलम्ब्य संक्षिप्तप्रबन्धो लेख्यः ।

अशुद्धि शोधन

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्धि	शुद्धि
२	२२	द्यलोकवर्तीनि	द्युलोकवर्तीनि
२	२४	पथिवी	पृथिवी
३	१२	द्यस्थान	द्युस्थान
३	१७	शरीराधिष्ठातृजीवा	शरीराधिष्ठातृजीवाय
३	१७	इन्द्रियाधिष्ठान्ते	इन्द्रियाधिष्ठाने
४	६	बनाये रक्खा	बनाये रक्खो
४	१६	पोषणाथ	पोषणार्थ
४	१७	पथिवी	पृथिवी
४	३४	उच्छसिती	उच्छ्वसिती
५	१७	तयाहि	तथाहि
६	२१	श्रतम्	श्रितम्
६	२५	ऊष्माण श्वासवद्	ऊष्माणं श्वासवद्
		अन्तपूरितं वायु	अन्तः पूरितं वायुं
६	२९	ओषधः	ओषधीः
७	२	अन्तगत	अन्तर्गत
७	१८	अनडवा	अनड्वा
७	२०	अनिगत	अनिर्गत
७	२१	स्थयं प्रापिनम्	स्थैयं प्रापितम्
७	२२	गाष्ठमिव	गोष्ठमिव
७	२२	मत्यवः	मृत्यवः
७	३१	शाघ्रम्	शीघ्रम्
७	३२	जयाथम्	जरार्थम्
८	११	शोणवर्तुल	शोणवर्तुलि

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्धि	शुद्धि
६	२	चले तो भी	तो ही
१०	२०	यस्य सर्वमिदं	सर्वमिदं
१०	३१	यश्चाद्	पश्चात्
११	७	पूववत्	पूर्ववत्
११	२३	वतमान	वर्तमान
१४	१८	कारणन	कारणेन
१५	२५	संकासात्	सकासात्
१५	२६	प्रामुचतं	प्रामुंचतं
१५	३४	म्रस्मतो	अस्मत्तो
१६	७	युव	युवं
१६	८	विद्युवा	चिद्युवा
१६	१०	दत्तवन्तौ स्यः	स्थः
१६	११	युवां सवयः	युवां भवथः
१६	१६	दादु दवथुः	दादुद्रवथुः
१६	२१	ब्रह्मणाऽगिः	ब्रह्मणाऽग्निः
१७	१५	मासत्र्यादूर्घ्वं	मासत्रयादूर्घ्वं
१८	३३	nes	nest
२०	६	sight of secsdeny	site of secondary
		in fection	infection
२०	१४	सवद्लुनान्	सर्वा–
२०	१५	ककेषास	कष्कषास
२०	२६	जिह्ला	जिह्वा
२०	११	शणातु	शृणातु
२१	१२	नाशमामसि	नाशयामसि
२१	१८	पश्निपण्यजायत	पृश्निपर्ण्यजायत
२१	२१	अजशृङ्गपज	अजभृङ्गयज
२१	२७	ननित्रं	खनित्रं

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्धि	शुद्धि
२३	२७	तम्मन्	तक्मन्
२३	३४	उमयद्यूरभ्येति	उभयद्युरभ्येति
२४	११	शीघ	शीघ्र
२४	१७	बल्हिषु	बल्हिकेषु
२४	२१	ग्रष्मं	ग्रैष्मं
२४	३२	समास्थितं	समास्थितं
२४	३६	चीपुद्ररभिचक्षणम्	चीपुद्रुरभि
२५	१८	प्रशृणाति	प्रशृणाति
२८	३	अथववेद	अथर्ववेद
३६-४७	१	वैदिक युग	संहिताकाल
५२	१८	जनपदोवंसक	जनपदोध्वंसक
६१	२	प्रारम्भ तीन	प्रारम्भ के तीन
६३	१	चरक	भेल
६६	२१	निन्द्रा	निद्रा
७२	२१	मथ्यमानात्	मथ्यमानाद्
८०	१०	तद्याग्य	तद्योग्य
८०	११	शोषितवर्णनीय	शोणित
८१	९	व्रणप्रणप्रश्नाध्याय	व्रणप्रश्नाध्याय
८१	२९	उन्नीसवें	उन्तीसवें
९२	३	वत्मगत	वर्त्म
९४	३	साठवें	उनसठवें
९८	५	वातकलाकालीय	वातकलाकलीय
१००	६	अध्ययन	अध्याय
१०१	१५	उपलब्ध अं गर्भोत्पत्ति	अंश में
१११	३३	किया किया है	किया गया है
१३२	१८	समाहृत	समाहृत
१३९	१६	यस्य	यस्मिन

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्धि	शुद्धि
१५६	२१	वर्मे नष्टे	पिण्डे नष्टे
१६७	३१	लासण्य	लावण्य
१६६	१	रसपप्रदी	रसप्रदीप
२०१	२	माघव विद्वान् ने	माधव नामक विद्वान् ने
२०१	२६	का ही प्रचार	का अधिक प्रचार
२०६	७	सुनाकर	सुनकर
२११	११	रसार्णण	रसार्णव
२११	१४	माटदेश	मोटदेश
२४४	२३	Rondtgen reysrays	Rontgen rays
२४४	२५	Therapatics	Theraputics
२४७	२३	सम्पादन भारतीय	सम्पादन में भारतीय
२४८	१६	आधार प्रेरित	आधार पर प्रेरित
२५४	२०	विलिमव	विलियम
२६१	११	बनिस्पन	बनिस्बत
२६७	२८	भास्कर डॉ० गोविन्द घाणेकर	डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकर
२७२	१४	असंजाङ्ग	असंजाताङ्ग
२७७	१६	धातु पानन	धातु पाचन